हमारी राजनैतिक समस्याएं

[वैज्ञानिक विश्लेषण की दिशा में एक प्रयत्न]

लेखक
प्रोफेसर शान्तिप्रसाद वर्मा

इन्दौर
नवयुग साहित्य सदन
१९४६

दो शब्द

यह पुस्तक वर्त्तमान भारतीय राजनीति की प्रमुख प्रवृत्तियों के एक वैज्ञानिक विश्लेषण के रूप में पाठक के सामने आ रही है, पर इसका आरम्भ इतने बड़े डीलडौल के साथ नहीं हुआ था। फरवरी १९४५ में कुछ अंग्रेज मित्रों ने मुझे एक विशुद्ध अंग्रेजी सभा में 'भारतवर्ष और अंग्रेजी साम्राज्य' पर एक भाषण देने के लिए निमंत्रित किया। उस शाम को एक घण्टे के अभिभाषण और दो घण्टे की हार्दिक बातचीत में इस पुस्तक की नींव पड़ी। उसके बाद दीवारें चिनी जाने और इमारत का शेष काम समाप्त होने के साधन अपने आप निकलते आये। फरवरी के अंत में मेरठ कालेज की अध्यापक-समिति में 'राजनैतिक गत्यावरोध कैसे मिटे?' पर एक प्रबंध पढ़ना पड़ा, और, उन्हीं दिनों, कुछ परिवर्तन-परिवर्धन के साथ स्थानीय स्टूडेंट्स-कांग्रेस की कार्य-समिति के सामने, बातचीत के रूप में, उसी विषय का विवेचन करना पड़ा। मार्च में, राजनीति के एम० ए० के अपने विद्यार्थियों के साथ प्रजातन्त्र, विभाजन और संघ-शासन, इन तीनों विषयों पर लंबी चर्चा करने का मौक़ा निकल आया, और इसके कुछ ही दिन के बाद 'इण्डियन अफ़ेयर्स फ़ोरम' के उत्साही मन्त्री, बैरी, के आग्रह पर फिर अंग्रेज़ों की एक बड़ी सभा में 'भारतवर्ष और प्रजातन्त्र' पर एक भाषण देने के लिए तैयार होना पड़ा।

उन्हीं दिनों जब कि मैं भारतीय राजनीति संबंधी विषयों के अध्ययन-मनन-अध्यापन आदि में लगा हुआ था, विद्याभवन, उदयपुर, से भाई केसरीलालजी बोर्डिया का आदेश-पत्र मिला कि मुझे उदयपुर पहुंचकर कई व्याख्यान देने होंगे। मैंने 'भारतवर्ष और प्रजातन्त्र' विषय चुना, और उस पर विद्याभवन के स्वस्थ शैक्षिक वातावरण में वैज्ञानिक ढंग से खूब चर्चा रही। इस पुस्तक की वाह्य रेखाएं उदयपुर के उन चार भाषणों में ही स्पष्ट हो चली थीं। प्रत्येक भाषण के बाद प्रश्नोत्तर की गुंजाइश रखी गई थी, और प्रायः प्रत्येक दिन, भाषण के बाद, शाम के लम्बे भ्रमण में, जिनमें मुसलमान साथी भी शामिल होते थे, इन विषयों पर खुल कर चर्चा होती थी।

उदयपुर से भाषण देकर लौटा भी नहीं था कि नवयुग-साहित्य-सदन, इन्दौर के उत्साही संचालक भाई गोकुलदास धूत का पत्र आ पहुंचा कि इन भाषणों को पुस्तक का रूप दिया जाना चाहिए। श्री वैजनाथजी महोदय आदि

अन्य मित्रों की ओर से भी उन्हें मुझपर दवाव डालने का आदेश मिला। ऐसी परिस्थिति में, सिवाय इसके कोई चारा ही नहीं था कि मैं बैठूं और पुस्तक को लिख डालूं। फिर भी निश्चिन्तता से बैठकर काम करने के अवसर कम ही मिले। एक बड़े व्यस्त और बहुधन्धी कार्यक्रम के बीच इस पुस्तक को लिखने का काम चलता रहा है। और बाद के दिनों में तो यह हुआ है कि मैं लिखता रहा हूं, और पुस्तक छपती रही है, और कई बार तो प्रेस का काम रुका भी है।

पुस्तक की छपाई और प्रकाशन आदि के निरीक्षण का भार भाई मार्तण्ड उपाध्याय पर रहा। उसके आंतरिक विषय और उसकी व्यवस्था आदि के संबंध में भी मैं प्रायः उनकी सलाह लेता रहा हूं। पुस्तक के लिखने में सभी मित्रों की ओर से मुझे लगातार प्रोत्साहन मिलता रहा है। इस प्रकार एक बड़े स्वस्थ, सहानुभूतिपूर्ण, और सौहार्द्र-पूर्ण वातावरण में उसकी रचना हुई है, और वैसे ही वातावरण में उसका प्रकाशन भी हो रहा है। फिर भी पुस्तक में मेरे अपने व्यक्तित्व की अपूर्णता की प्रतीक, अनेकों ग़लतियां अवश्य रह गई होंगी। उनका संपूर्ण दायित्व मुझपर है, और उनके लिए पाठक के सामने मैं सविनय क्षमाप्रार्थी हूं।

मेरठ,

२० दिसम्बर '४५

शान्तिप्रसाद वर्मा

विषय-सूची

भाग ३ : समाधान की दिशा : विभाजन

भाग ४ : समाधान की दिशा : संघ-शासन

हमारी राजनैतिक समस्याएं

: १ :

विषय-प्रवेश

हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन विश्व की आज की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक है—उसकी तुलना रूस की सामाजिक क्रान्ति और चीन के राष्ट्रीय आन्दोलन से की जा सकती है। इस आन्दोलन की जड़ें देश के उस सांस्कृतिक पुनरुत्थान में हैं जिसका आरम्भ, लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहिले, भारत की आध्यात्मिकता पर पाश्चात्य भौतिकवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इस सांस्कृतिक पुनरोत्थान का आधार अपने प्राचीन धर्म और संस्कृति में हमारे आत्म-विश्वास का जागरण था। इस विचार-धारा के आदि-प्रवर्त्तक राममोहन राय अन्य समकालीन युवकों की प्रवृत्ति के विरुद्ध पश्चिमी सभ्यता के प्रवाह में वह जाने से अपने आपको रोक सके। उनके सामने उपनिषदों का महान तत्त्व-ज्ञान था। पश्चिमी सभ्यता के गुणों को समझते हुए भी वह अपनी प्राचीन संस्कृति के गौरव को भूले न थे। धार्मिक सुधार की यह प्रवृत्ति बाद में दो धाराओं में बंट गई। एक का आग्रह केवल धर्म के व्यक्तिगत पक्ष पर था, दूसरी समाज-सेवा के रास्ते ही धार्मिक जीवन की कल्पना कर सकती थी—इनके प्रवर्त्तकों में देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के नाम लिये जा सकते हैं। समाज-सेवा की यह धारा भी, जिसका पूर्ण विकास केशवचन्द्र सेन के प्रभाव में महाराष्ट्र में स्थापित प्रार्थना-समाज में हुआ था, बाद में दो भागों में बंट गई। एक का आदर्श केवल समाज-सुधार में अपनी सारी शक्ति लगा देने का था; दूसरों का विश्वास हो चला था कि जब तक हमारी राजनैतिक दशा नहीं सुधरती, समाज का प्रगति की ओर अग्रसर होना असंभव है—इन दो प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हम रानाडे और गोखले के व्यक्तित्व में पाते हैं। गोखले जिस प्रवृत्ति के आचार्य थे, गांधी उसी की चरम-सीमा हैं। गांधी को यदि हम अपनी राजनैतिक गति-विधि और राष्ट्रीय आकांक्षाओं का मापदण्ड मान लें तो हमें यह समझने में देर न लगेगी कि किस प्रकार हमारा आज का राजनैतिक जीवन समाज-सुधार के रास्ते आने वाले धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरोत्थान का ही विकसित रूप है। गांधी हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए प्रयत्नशील हैं, पर उनका मुख्य साधन समाज-सुधार है और इसके लिए उन्हें मूल-प्रेरणा धर्म से प्राप्त होती है।

यह तो हुआ हमारे राष्ट्रीय जीवन का एक पक्ष—जो हमें प्राचीन धर्म और संस्कृति से संबद्ध करता है। हमारे राष्ट्रीय-जीवन का एक दूसरा पक्ष भी है—जिसका सम्बन्ध भावी विश्व-व्यवस्था से है। संसार की राजनीति में हम अपना स्थान पा लेने के लिए बेचैन हैं। हम आज़ाद होना चाहते हैं। गुलामी की जिन जंज़ीरों में जकड़े जाकर हम विश्व की राजनीति से दूर फेंक दिए गए हैं उन्हें हम तोड़ फेंकना चाहते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ मध्यम श्रेणी के शिक्षित-वर्ग से हुआ, बाद में निम्न-मध्यम-श्रेणी की जनता ने उसमें प्रवेश किया और अब वह जन-साधारण—ग़रीब और पदत्रस्त, किसान और मज़दूर—के दैनिक जीवन का विषय होगया है। ज्यों-ज्यों आन्दोलन व्यापक होता गया, हमारे मानसिक क्षितिज का विस्तार भी बढ़ता गया है। शुरू में हमारी दृष्टि ऊंची सरकारी नौकरियों व शासन में कुछ अधिकार पा लेने पर थी। बाद में 'स्वराज्य' का अस्पष्ट और धुन्धला रेखा-चित्र हमारे सामने आया, और तब पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की स्थापना हुई—अब धीरे-धीरे इस आदर्श की बाह्य रेखाएं अधिक स्पष्ट होती जा रही हैं और उसके राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्षों पर प्रकाश डाला जाने लगा है। आन्दोलन की व्यापकता और आदर्शों के विस्तार के साथ-साथ प्रयत्नों की गम्भीरता भी बढ़ती गई है। १६२०-२१ के बाद से ही हमारी राजनीति का मुख्य आधार त्याग और कष्ट-सहन पर स्थापित किया जा चुका है। तब से हमारे देश की बड़ी से बड़ी विभूतियों के जीवन का अधिकांश समय अंग्रेज़ी शासन के जेलख़ानों में बीता है, और हज़ारों देशभक्त लाठी के आघातों, घोड़ों की टापों और गोलियों के प्रहारों में अपने प्राणों की भेंट चढ़ाते रहे हैं। कई फांसी के तख्तों पर झूले हैं, और कई अपने जीवन के लंबे वर्ष जेलख़ानों की चहारदीवारी में बिताने पर विवश किये जा रहे हैं। इन्हीं के तप और साधना का परिणाम है कि हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन एक प्रबल शक्ति बन गया है।

पर, देश की आज़ादी के लिए प्रयत्न करने वाली आत्माओं ने सदा ही बड़ी बेचैनी के साथ महसूस किया है कि जैसे हमारे इस सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन की जड़ें लगातार एक घातक ज़हर से सींची जाती रही हों, जैसे उसकी आकाशगामी शाखाएं किसी शाप से ग्रसित हों। राष्ट्रीयता के विकास के साथ सांप्रदायिकता का ज़हर भी बढ़ता गया है—और जब कभी हमने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हाथों को ऊंचा किया है, उसने बरबस उन्हें पीछे धकेल दिया है, और हमारी राष्ट्रीय-शक्ति को पैरों तले रौंदती हुई वह स्वयं आगे बढ़ती चली गई है। १६२०-२१ के वे दिन आज केवल एक मीठी स्मृति के रूप में ही हमारे सामने

रह गए हैं, जब कांग्रेस और ख़िलाफ़त के विद्रोही-झण्डे एक साथ फहरा उठे थे, गांधी और अली भाइयों की जय एक साथ बोली जाती थी, और हिन्दू और मुसल्मान आज़ादी की लड़ाई में, कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर, खड़े हुए थे। १९३० और '३२ के आन्दोलनों में भी हज़ारों मुसल्मान जेल गए, पर सांप्रदायिक शक्तियां दिन व दिन सशक्त बनती जा रहीं थीं। मुसल्मान राष्ट्रीयता के प्रति सशंकित होते जा रहे थे। राष्ट्रीय विचारों के मुसल्मान भी कांग्रेस में शरीक होने के स्थान पर अपनी अलग-अलग संस्थाएं बनाने लगे थे, यद्यपि कांग्रेस के आदर्शों के साथ इन संस्थाओं की पूरी सहानुभूति रही। १९३७ के प्रान्तीय चुनाव से एक बार फिर आशा बंधी। यह चुनाव देश भर में प्रगतिशील शक्तियों की विजय का प्रतीक था। अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेस की जीत हुई। पञ्जाब में यूनियनिस्ट-दल व बंगाल में कृषक-प्रजा-दल के सामने प्रतिक्रियावादी मुस्लिम लीग टिक न सकी। युक्तप्रान्त में मुस्लिम लीग स्वयं एक प्रगतिशील संस्था थी—वह नवाब छतारी और उनके अन्य प्रतिक्रियावादी साथियों पर आसानी से विजय प्राप्त कर सकी। सीमाप्रान्त में कांग्रेस जीती, और सिंध में भी लीग सफल न हो सकी। पर, कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बनते ही सहयोग और प्रगतिशीलता की सारी प्रवृत्तियां न जाने कहां ख़त्म होगईं; और प्रतिक्रियावादी शक्तियां, सांप्रदायिकता का जामा पहिन कर, दिन व दिन अपने को सशक्त बनाती चली गईं। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण कांग्रेस ने जब पद-त्याग किया, तब मुस्लिम-लीग ने देश भर में 'मुक्ति-दिवस, मनाकर अपने हर्ष का प्रदर्शन किया। धीरे-धीरे वह पाकिस्तान, और हिन्दुस्तान के बंटवारे के, आदर्श की ओर बढ़ी। सन् '४२ का, अपने आप उभर उठने वाला, महान जन-आन्दोलन भी मुस्लिम-जनता को अपनी राजनैतिक निष्क्रियता के राजमार्ग से डिगा न सका। मुस्लिम जनता उसमें भाग लेने के लिए व्यग्र थी, पर नेताओं का आदेश उनकी इस सहज इच्छा के विरुद्ध था। अनुशासन का यह एक शानदार उदाहरण था, पर, आंधी के थम जाने पर लोगों के मन में यह सहज-स्वाभाविक प्रश्न उठा कि क्या इसमें देश के प्रति ग़द्दारी की भावना नहीं थी?

साम्प्रदायिकता की इस समस्या ने हमारी राजनीति को एक अजीब उलझन में डाल दिया है। हमारी राजनीति आज एक विदेशी शासन के प्रति सीधी-सादी लड़ाई नहीं है। वह तो एक त्रिकोणात्मक संघर्ष (Triangular fight) है। हम विदेशी शासन से मुक्त होने का जितना ही अधिक प्रयत्न करते हैं, अपने को सांप्रदायिकता के दलदल में गहरा धंसते हुए पाते हैं। १९३७ में कांग्रेस के पद-ग्रहण करने की नीति के पीछे विदेशी शासन पर अधिकाधिक प्रभाव डाल

कर शासन-योजना को प्रजातंत्र के ढंग पर विकसित कर लेने का उद्देश्य था, पर कांग्रेस द्वारा पद-ग्रहण के २७ महीनों में, मुस्लिम-लीग द्वारा प्रेरित, साम्प्रदायिक विरोध इतना तीव्र होगया कि कांग्रेस विदेशी शासन पर देश का संयुक्त-प्रभाव नहीं डाल सकी। कांग्रेस के पद-त्याग कर देने के बाद, मुस्लिम-समाज के नेतृत्व का दावा करने वाली संस्था, मुस्लिम-लीग, ने बार-बार शासन में हाथ बंटाने की अपनी तैयारी प्रगट की। कांग्रेस के विरोध में चले जाने से सरकार को विवश होकर मुस्लिम-लीग का समर्थन करना पड़ रहा था। अंग्रेजी सरकार ने केन्द्रीय-शासन पर तो मुस्लिम-लीग को हाथ न रखने दिया, पर प्रांतों में अन्य मन्त्रिमण्डलों को तोड़कर मुस्लिम-लीगी मंत्रिमण्डलों की स्थापना में खुली सहायता पहुँचाई। सिंध और बङ्गाल के बड़े मंत्रियों—अल्लाबख्श और फ़ज़लुलहक़ को जिन परिस्थितियों में अलहदा किया गया—और उनके स्थान पर हिदायतुल्ला और सर नज़ीमुद्दीन को बिठाया गया—वह प्रांतीय स्वशासन के इतिहास का एक लज्जाजनक अध्याय है। उधर देश में असन्तोष बढ़ रहा था। गांधी जी उसकी अभिव्यक्ति रचनात्मक प्रवृत्तियों में करने की चेष्टा करते रहे, पर तीन साल की अवज्ञा और उत्पीड़न के बाद जब मार्च '४२ में क्रिप्स-प्रस्तावों के रूप में भारतीय राष्ट्रीयता का अपमान किया गया तब उसका रोक सकना असम्भव होगया। गांधी जी जानते थे कि मुसल्मान राष्ट्रीय-आन्दोलन के साथ नहीं हैं, पर वह यह भी जानते थे कि जब तक विदेशी शासन से हम छुटकारा नहीं पा जाते, सांप्रदायिक समस्या का कोई सन्तोष-प्रद हल निकालना भी असंभव ही है,—दो वर्ष के बाद सितम्बर १९४४ में मि० जिन्ना से २१ दिन तक बातचीत करने के बाद भी गांधी जी इसी परिणाम पर पहुँचे।

इसी बीच पाकिस्तान की मांग सामने आई। भावप्रवणता के स्तर से उठकर उसने हिन्दुस्तान के एक बहुत बड़े तबक़े की क़ौमी मांग का रूप ले लिया। मुस्लिम-लीग द्वारा अपनाये जाते ही पाकिस्तान मुस्लिम जनता का इन्क़िलाबी नारा बन गया। हज़ारों मुसल्मानों ने अनुभव किया कि उन्होंने अपनी आत्मा के अन्तरतम सत्य को पा लिया है। भारतीय मुसल्मानों का अन्तिम लक्ष्य पाकिस्तान ही हो सकता है। पर, यह तो निराश-हृदय की एक चीज़ थी। यह परिस्थितियों की कठोर वास्तविकता से भाग निकलने का एक आकर्षक मार्ग था—जिसका अन्त होता था विद्वेष, अविवेक और आत्महत्या की एक अंधेरी गुफ़ा में। अंग्रेजी सरकार, परिस्थितियों के वश मुस्लिम-लीगका समर्थन कर रही थी। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर लीग के कुशल सर्व-सर्वा मि० जिन्ना ने पाकिस्तान की मांग को एक बड़ा व्यापक रूप दे दिया। पर सम्बन्ध-विच्छेद की

इस चरम मांग से एक अच्छा परिणाम भी निकला। एक ओर तो यह प्रगट होगया कि एक अल्प-संख्यक समुदाय की कट्टरता उसे किस सीमा तक ले जा सकती है, दूसरी ओर यह भी स्पष्ट होगया कि मुसल्मानों के विरोध के पीछे एक तीखापन और तीव्रता भी है, और उसके कारणों का विश्लेषण कर लेने, और जहां तक हो सके उनकी उचित मांगों को स्वीकृत कर लेने और अन्य शिकायतों के सम्बंध में उचित वैधानिक आश्वासन देने की आवश्यकता है।

प्रजातंत्र में तो पारस्परिक सहानुभूति और एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की क्षमता का होना बड़ा आवश्यक है। हम पर, जो इस देश में प्रजातंत्र की स्थापना देखने के लिए उत्सुक हैं, यह बाध्यता है कि हम मुसल्मानों की मांग से खीझ उठने के बदले उसके मनोविज्ञान की गहराई में जायं। पाकिस्तान पके फोड़े की तरह एक ग़लत और संघातक चीज़ हो सकती है, पर हमारी राजनीति के अस्वास्थ्य में ही तो उसका जन्म हुआ है न? पाकिस्तान के सम्बन्ध में क्यों मुसल्मानों का इतना अधिक आग्रह है, और क्यों यह आग्रह प्रबलतर होता जा रहा है? कौनसी शक्तियां हैं जो इस आग्रह के पीछे काम कर रही हैं, और उसे प्रेरणा और प्रोत्साहन पहुंचा रही हैं? उन शक्तियों का जान लेना, यदि हम भारत की एकता के आधार पर एक प्रजातन्त्र की स्थापना करना चाहते हैं, नितान्त आवश्यक है। यह जानने के लिए हमें इतिहास की गहराई में जाना पड़ेगा। हिन्दू और मुसल्मान समाज क्या हमेशा एक दूसरे से इसी तरह खिंचे रहे या कभी उनमें मेलजोल भी होगया था। यदि मेलजोल हुआ था तो वह किस सीमा तक पहुंचा था, और वह क्यों अपने को क़ायम न रख सका? कौन से ऐसे कारण थे जिन्होंने दो महान् संस्कृतियों को एक शानदार समन्वय से पथभ्रष्ट कर दिया? उसमें विदेशी शासन की कूटनीतिज्ञता का प्रभाव कितना था और कितना था हमारी अपनी सामाजिक कमियों का उत्तरदायित्व? मुसल्मानों द्वारा पाकिस्तान की मांग ने इन सब प्रश्नों का वैज्ञानिक उत्तर ढूंढ़ निकालने पर हमें विवश कर दिया है।

कुछ लोग मुसल्मानों के इस रवैये से खीझ कर उनसे अपना राजनैतिक सहयोग ही खींच लेना चाहते हैं। वह राष्ट्रीय आन्दोलन को ही इतना सशक्त बनाना चाहते हैं कि मुसल्मानों के सहयोग के बिना, अथवा जरूरी हुआ तो असहयोग के साथ भी, अंग्रेजों के अनिच्छुक हाथों से शासन-सत्ता छीन ली जाय। यह विश्वास उस मनोवृत्ति से भी, जिसने पाकिस्तान को जन्म दिया, अधिक भयङ्कर है। पाकिस्तान यदि निराशा की पुकार है, तो यह धारणा एक बौखलाहट की अभिव्यक्ति है। हमारी राष्ट्रीयता के विकास में

सब से बड़ी कमी यही रही है कि उसमें कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण, जिनका विश्लेषण आगे के पृष्ठों में मिलेगा, आरम्भ से ही मुसलमानों का सहयोग बहुत कम रहा। इस कारण उसका हिन्दू संस्कृति के रंग में रङ्ग जाना स्वाभाविक होगया। बाद में एक ओर तो राष्ट्रीयता की इस प्रवृत्ति के लिए अपना सारा परिधान एक साथ बदल डालना कठिन होगया, दूसरी ओर मुस्लिम संस्कृति के जीर्णोद्धार में लगे हुए कट्टर धार्मिक व्यक्ति जब राष्ट्रीयता के कार्यक्षेत्र में आये तो उनसे आसानी से अपना ताल-मेल न जोड़ सके, पर हमें यह स्पष्टता से समझ लेना है कि भारतवर्ष की अनेकानेक भौगोलिक और ऐतिहासिक प्रवृत्तियों और सांस्कृतिक जीवन-प्रवाहों को देखते हुए इस देश में मुस्लिम-समाज के लिए यह संभव नहीं है कि वह अपनी डफली अलग ले जाकर अपना कोई अलग राग छेड़ सके। इस प्रयत्न का फल या तो आत्म-हत्या होगा या लाख-लाख चेष्टा करने पर भी उस डफली में से चिर-भारतीयता का वही राग निकलेगा जिससे चिढ़ कर मुसलमान अलहदगी के चक्कर में पड़ना चाह रहे हैं। दूसरी ओर हम यह भी न भूलें कि भारतीय समाज के एक जीवित अंग, मुसलमानों को, जो पिछले हज़ार वर्षों में हमारे जीवन की धारा में घुलमिल गए हैं, काट फेंकना स्वयं हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ जाता है। आज दुनियां छोटी होती जा रही है—देशों की सीमाएं ताश के पत्तों के महल की तरह गिर रही हैं। राष्ट्रीय सार्वभौमता आज राजनीति के शब्द-कोष में एक निरर्थक शब्द-मात्र रह गया है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों में एक प्रमुख प्रवृत्ति यह है कि आसपास के देश मिलजुल कर अपने राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का काम अपने हाथ में ले रहे हैं।

हमारी सशक्त राष्ट्रीयता भी विश्व के इस पुनर्निर्माण में अपना उचित स्थान पा लेने के लिए बेचैन है। उसकी भौगोलिक स्थिति, असीम साधनों और अटूट जन बल को देखते हुए विश्व की आने वाली राजनीति में उसके अनिवार्य नेतृत्व का चित्र हमारी आंखों के सामने घूम जाता है। ऐसी स्थिति में यदि हमारे देश को टुकड़ों में बांट दिया गया, तो न केवल हमारी राष्ट्रीय महानता के इन स्वप्नों का अन्त होजायगा, बल्कि एशिया भर की प्रगति को एक गहरी ठेस पहुंचेगी, और क्षण-क्षण में संकुचित होनेवाले इस विश्व में एशिया के लिए जो अहितकर होगा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर उसका प्रभाव भी अच्छा नहीं पड़ सकता।

राष्ट्रीय प्रश्नों की इस अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि को हम अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का बहाना

लेकर अथवा प्रजातंत्र के बहुसंख्यक शासन की आड़ में हम अपने यहां के अल्प-संख्यक दलों को कुचल दें। इस सम्बन्ध में तीन बातों पर हमें दृष्टि रखना है। पहिली बात तो यह है कि आन्तर्भारतीय प्रश्नों के समाधान में हमें वही नीति बरतना है, जिसकी हम अपने राष्ट्र के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय-संघ से अपेक्षा करते हैं। राष्ट्र के लिए आज़ादी का ध्येय सामने रखते हुए हम अपने देश के किसी संगठित अंग को भी उतनी ही आज़ादी का उपभोग करने से रोक नहीं सकते। सच तो यह है कि आज विश्व में जहां एक ओर राष्ट्रीय सार्वभौमता को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में मिला देने का प्रयत्न चल रहा है, दूसरी ओर राष्ट्र के भीतर के सांस्कृतिक विभिन्नता रखने वाले सभी संगठित वर्गों को अधिक से अधिक आंतरिक स्वशासन दिये जाने की प्रवृत्ति भी ज़ोर पकड़ रही है। दूसरी बात यह है कि प्रजातंत्र का सच्चा अर्थ यह कभी नहीं होता कि बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यक वर्ग या वर्गों को, अपनी संख्या के बल से, सदा के लिए दबाये रखे। प्रजातन्त्र का अर्थ, अब्राहम लिंकन के शब्दों में, जनता का शासन, जनता द्वारा शासन और जनता के लिए शासन है। अब्राहम लिंकन ने बहुसंख्यक वर्ग के शासन की बात नहीं कही। किसी एक वर्ग या दूसरे वर्ग पर शासन चाहे किसी नाम से पुकारा जा सके, प्रजातन्त्र-शासन नहीं कहला सकता। प्रजातन्त्र-शासन तो समस्त प्रजा द्वारा समस्त प्रजा का ऐसा शासन है जिसमें प्रजा के हितों को दृष्टि में रखा गया हो। तीसरी बात, जो हमें ध्यान में रखना है, यह है कि मुसल्मानों को अल्पसंख्यक वर्ग के नाम से पुकारना राजनीति की वस्तु-स्थिति का उपहास करना है। मुसल्मानों की आबादी ९ करोड़ से अधिक है—इंग्लैंड की आबादी से दूनी और कनाडा से ९ गुनी। उनकी अपनी सभ्यता और संस्कृति, खान-पान और पहरावा, भाषा और आचार-विचार हैं। यदि कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां और कुछ सैद्धान्तिक उलझनें न होतीं तो उनके एक राष्ट्र मान लिये जाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। इतने बड़े समाज को सदा के लिए एक अल्प-संख्यक वर्ग में परिणत कर देना प्रजातन्त्र की भावना का खुला विरोध करना है। हमारी राजनैतिक समस्या निस्सन्देह एक गम्भीर समस्या है। पाकिस्तान की स्थापना असम्भव है, पर यदि हम अपने देश के लिए एक स्थायी वैधानिक योजना चाहते हैं तो उसमें मुसल्मानों को संपूर्ण सांस्कृतिक अधिकार और अधिक से अधिक आर्थिक सुविधाएं देनी होंगी, और साथ ही मुस्लिम प्रांतों को पूर्ण स्व-शासन और केन्द्रीय शासन में मुसल्मानों को एक प्रमुख स्थान देना भी आवश्यक होगा।

पर, वैधानिक योजना उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक अंग्रेज़ी

सरकार भारतीय शासन पर से अपना नियंत्रण हटा लेने के लिए तैयार न हो। मैं जानता हूं कि देश में एक वर्ग ऐसा है जो मानता है कि अंग्रेज़ हिन्दुस्तान को आज़ादी देने के लिए कभी तैयार न होंगे। आज़ादी, सचमुच, कभी किसी एक क़ौम ने दूसरी क़ौम को नहीं दी है। पर एक क़ौम दूसरी को सदा के लिए गुलाम भी कब रख सकी है? स्पेन का समस्त बल हॉलैण्ड को आज़ाद होने से रोक नहीं सका, फ्रांस इंग्लैण्ड के आधिपत्य से निकल कर संसार के महान् राष्ट्रों की श्रेणी में जा पहुंचा। इटली और जर्मनी आस्ट्रिया के प्राधान्य को ठुकरा कर स्वतन्त्र हो गए। पहिले महायुद्ध में टर्की और रूस के साम्राज्य टूटे। इस युद्ध में जर्मनी, इटली और जापान के साम्राज्यों की धज्जियां बिखर रही हैं। स्वतंत्रता अजीब चक्करदार रास्तों से होकर आती है। राजनैतिक परिस्थितियों का एक बवण्डर-सा उठ खड़ा होता है और तब, कल तक जो राष्ट्र गुलाम होते हैं वह आंख मल कर उठ कर खड़े होते हैं कि वह आज आज़ाद हैं। इन परिस्थितियों में राष्ट्रीय शक्ति का विकास, अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियां और शासक-देश की आंतरिक दुर्बलता प्रमुख हैं। परिस्थितियों का दबाव आज हिन्दुस्तान के पक्ष में पड़ रहा है, इसमें तो संदेह है ही नहीं। हिन्दुस्तान को अधिक दिनों तक गुलाम नहीं रखा जा सकेगा। आज तो दूर क्षितिज पर स्वतंत्रता की रक्त-पताकाएं अस्पष्ट-सी चमक भी उठी हैं, और डर यह है कि स्वतंत्रता आये और कहीं हम अपने को तैयार न पाएं। यह पुस्तक ऐसी ही परिस्थिति के लिए हमारी तैयारी की दिशा में एक विनम्र प्रयत्न है।—और यदि क्षितिज के ये रेखा-चित्र केवल काल्पनिक हों और आज़ादी के लिए हमारा एक और बड़े संघर्ष के बीच से गुज़रना ज़रूरी होजाय तो भी, मैं आशा करता हूं, आज की राजनैतिक प्रवृत्तियों का यह विश्लेषण हमें आगे का मार्ग निश्चित करने में कुछ सहायता ही पहुंचाएगा।

: २ :

हिन्दू-मुस्लिम संबंध : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राथमिक संपर्क

मुसल्मानों के संपर्क में आने के पहिले हिन्दू-सभ्यता विकास के एक ऊंचे शिखर तक पहुंच चुकी थी। धर्म और संस्कृति, कला और विज्ञान, साहित्य और सदाचार, सभी में उसने एक अद्वितीय महानता प्राप्त कर ली थी। उधर, अरब में, इस्लाम की स्थापना के साथ, एक ऐसी सभ्यता का जन्म हुआ जो अपने जीवन की प्राथमिक शताब्दियों में ही, कई मृतप्राय संस्कृतियों को पुनर्जीवित करतीहुई और स्वयं अपने में नये-नये तत्त्वों का समावेश करती हुई स्पेन के पश्चिम से चीन के दक्षिण तक फैल गई। इन दो महान् संस्कृतियों का संपर्क, हमारे देश में, उत्तरी भारत की मुस्लिम-विजय से कई शताब्दियों पहिले आरम्भ होचुका था। इस संपर्क का सूत्रपात दक्षिण-भारत में हुआ। दक्षिण-भारत से अरब वासियों के व्यापारिक संबंध शताब्दियों पहिले से चले आरहे थे। उनके इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लेने से इन संबंधों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं पड़ी। दक्षिण भारत के हिन्दू-निवासी उसी प्रेम और आदर से अरब वालों का स्वागत करते रहे, जैसे वह पहिले किया करते थे। मुसल्मानों के लिए स्थान-स्थान पर मस्जिदें बना दी गईं।[1] मलाबार के कई राजाओं ने इस नये धर्म में दीक्षा ले ली थी।[2] दक्षिण के प्रायः सभी राज्यों में मुसल्मान उच्च पदों पर नियुक्त किये जाने लगे थे।[3] मालिक काफूर ने जब दक्षिण

१—मसूदी ने, जो दसवीं शताब्दी के आरम्भ में दक्षिण भारत में आया था, मलाबार के एक ही नगर में दस हज़ार मुसलमानों को बसे हुए पाया। अबू दुलफ़ मुहालिहल, इब्न सईद व मार्को पोलो ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है। इब्न बतूता ने चौदहवीं शताब्दी में समस्त मलाबार-प्रदेश को मुसलमानों से भरा हुआ पाया। उसने स्थान-स्थान पर उनकी बस्तियों व मस्जिदों का ज़िक्र किया है। —इलियट और डॉसन, पहिला भाग।

२—लोगन : मलाबार, पहिला भाग, पृ० सं० २४५।

३—सुन्दर-पांड्य के शासन-काल में तक़ीउद्दीन को मन्त्रित्व का भार सौंपा गया और कई पीढ़ियों तक यह पद उसी के कुटुम्ब में रहा। उसके पुत्र सिराजुद्दीन व पौत्र निज़ामुद्दीन द्वारा शासन-संचालन के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। —इलियट व डॉसन, तीसरा भाग।

भारत पर आक्रमण किया तो वीर वल्लाल की जिस सेना ने उसका मुकाबिला किया था, उसमें २०००० मुसलमान भी थे।[1] इन संपर्कों का प्रभाव दक्षिण-भारत के धार्मिक और सामाजिक जीवन पर पड़ना स्वाभाविक ही था।

उत्तरी-भारत पर मुसल्मानों ने कई शताब्दियों के बाद आक्रमण किया। तब तक इस्लाम की दुनियाँ बदल चुकी थी। इन नये-नये आक्रमण-कारियों का उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार नहीं था—वे तो उन शिक्षाओं को ठीक से समझ भी नहीं पाते थे, जो पैग़म्बर ने अपने निकट के अनुयायियों को दी थीं। इस्लाम के उदय और उत्तरी भारत के मुस्लिम आक्रमण के बीच कई शताब्दियां, जिन्होंने इस्लाम के इतिहास में कई उतार-चढ़ाव देखे थे, उमय्यद-काल की प्रचण्डता और अब्बासी-काल का वैभव, सभ्य ईरान की धार्मिक कट्टरता और बर्बर मंगोलों की पाशविक रक्त-पिपासा। ये आक्रमणकारी या तो लूटमार के उद्देश्य से हमारे देश में आये, या मध्य एशिया की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों से विवश होकर, आश्रय की खोज में। मुहम्मद ग़ज़नी का स्पष्ट उद्देश्य हमारे मंदिरों और तीर्थ-स्थानों में एकत्रित की गई अपार धन-राशि को लूट ले जाने का था। उससे वह ग़ज़नी की समृद्धि को बढ़ाना चाहता था, और साथ ही सफल आक्रमणों से प्राप्त प्रतिष्ठा का उपयोग मध्य एशिया में अपनी राजनैतिक स्थिति को मज़बूत बनाने में लगाना चाहता था।[2] मोहम्मद ग़ोरी और उसके साथियों के सामने यह आकांक्षा भी नहीं थी। मध्य-एशिया में उनके लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। हिन्दुस्तान की राजनैतिक दुरवस्था से लाभ उठा कर वह यहां अपने लिए छोटे-मोटे राज्यों की स्थापना कर लेना चाहते थे।

विजय का उद्देश्य चाहे कुछ भी रहा हो, पर उत्तरी भारत के मुस्लिम आक्रमणकारियों ने जिन उपायों का सहारा लिया वे बर्बर और नृशंसतापूर्ण थे—और इस कारण इस प्रदेश की जनता के मन में इस्लाम की जो कल्पना प्रविष्ट कर सकी वह दक्षिण के अपने देशवासियों से बिल्कुल भिन्न थी। इस्लाम धर्म के मूल-तत्वों से अधिक उसके मानने वालों के वहशी कारनामे उनके सामने आए। ऐसी परिस्थिति में, यदि दोनों संस्कृतियों के बीच अविश्वास की भावना कुछ समय के लिए व्यवधान के रूप में आ खड़ी हुई, तो इसमें आश्चर्य ही क्या था? हिन्दू अपने राजनैतिक संगठन की कमज़ोरी के कारण, मुसल्मानों की विजय के रास्ते में कोई रुकावट खड़ी न कर सके, पर उनकी बर्बरता और धार्मिक असहिष्णुता से खीझ कर उन्होंने अपने धार्मिक और सामाजिक जीवन

१–इब्न बतूता ने इस घटना का जिक्र किया है।

२–प्रो० हबीब : Mahmud of Ghazni.

के चारों ओर एक मज़बूत क़िलेबन्दी कर ली। मुसल्मान तेज़ी से एक के बाद दूसरे प्रदेश को जीत सके, पर उनके निवासियों के सामाजिक जीवन में उनका प्रवेश बिल्कुल निषिद्ध था। वह हमारे खान-पान और विवाह-सम्बन्धों से बहिष्कृत थे। यह पहिला अवसर था जब हिन्दू-समाज ने अपने चारों ओर बहिष्कार और असहयोग की इतनी मज़बूत दीवारें खड़ी करली थीं। इसके पहिले सदा ही बाहर वालों के लिए उनके द्वार खुले रहा करते थे। दूसरी ओर भी यह पहिला ही अवसर था जब मुसल्मान किसी देश में पहुंचे हों, वहां अपनी राजनैतिक सत्ता क़ायम कर सके हों, पर उस देश के सामाजिक जीवन से इस प्रकार अलहदा फेंक दिये गए हों। असहयोग की जो मनोवृत्ति एक बार बनी, वह काफ़ी दिनों तक सामाजिक संगठन की जड़ों को सींचती-पोसती रही। कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों ने, जो बहुत कम दिन टिक सकीं, मुस्लिम-समाज में भी सामाजिक असहयोग की इस भावना को दृढ़ बनाया। मुसल्मान बहुत थोड़ी संख्या में इस देश में आये थे, और थोड़े ही दिनों में आंधी की तरह चारों ओर फैल गए थे, और महासागर में फैले हुए द्वीपों के समान उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य खड़े कर लिए थे। जनता के संगठित तिरस्कार के सामने उनके लिए भी यह ज़रूरी होगया कि वह मुस्लिम समाज के सभी तत्त्वों—उलमा, अमीर व जन-साधारण—को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न करें। मुसल्मानों का राज्य में एक विशिष्ट स्थान बन गया—हिन्दुओं के प्रति अविश्वास की भावना प्रमुख थी। भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के पहिले के कुछ वर्षों—शायद दशाब्दियों तक—हिन्दू और मुसल्मानों में जो आपसी संबंध रहे, दुर्भाग्यवश,कुछ स्वार्थी और ग़ैरज़िम्मेदार इतिहासकारों ने उन्हें ही एक हज़ार वर्ष के इतिहास में परिणत कर दिया है।

रचनात्मक प्रवृत्तियां

प्रारम्भिक-काल की अविश्वास और असहयोग की यह प्रवृत्ति सर्वथा अस्वाभाविक थी, और अधिक दिनोंतक टिक नहीं सकती थी। दो जीवित, जाग्रत, उन्नतिशील संस्कृतियां इतने निकट संपर्क में रह कर अपने को एक-दूसरे के प्रभाव से बचा नहीं सकती थीं, और फिर मुसल्मान तो इतनी कम संख्या में इस देश में आये थे कि बिना जनता के सहयोग के वह किसी स्थायी राज्य की नींव डाल ही नहीं सकते थे। इसी कारण हम देखते हैं कि इल्तुतमिश ने मुसल्मानों के आंतरिक संगठन की जिस नीति को जन्म दिया था, और जो प्रारम्भ में मुस्लिम राज्य की स्थापना में सफल भी हुई थी, वह उसकी मृत्यु के बाद कुछ दिनों भी न चल सकी। बलबन ने उसकी उपेक्षा की। अलाउद्दीन ख़िल्जी ने धर्म और राजनीति के भेद को कुछ अधिक स्पष्ट किया। मुहम्मद

तुग़लक ने एक विरोधी नीति को विकास को चरम सीमा तक पहुंचा दिया।

ये रचनात्मक प्रवृत्तियां राजनैतिक क्षेत्र में तो प्रगट हो ही रही थीं, परन्तु धार्मिक और सांस्कृतिक तौर पर वे और भी अधिक सशक्त बनती जारही थीं, इसका कारण था मुसल्मान आक्रमणकारियों के साथ ही साथ इस देश में प्रवेश करने वाले मुसल्मान संतों और सूफ़ियों की एक अनवरत शृङ्खला, जिसने हमें न केवल बाहर के मुस्लिम देशों की विचार-धाराओं के संस्पर्श में रखा, पर जो हमारी संस्कृति की जड़ों को अपनी आध्यात्मिकता से सींचती और पोसती भी रहीं। आज जो हम अपने देश की आबादी का २४ फ़ीसदी इस्लाम के अनुयायियों का पाते हैं, उसके पीछे न तो मुसल्मान शासकों की धर्मान्धता है, न मुसल्मान प्रचारकों की ज़बर्दस्ती।[1] उसके पीछे तो हमारे समाज की आन्तरिक विषमता और इन सन्तों के व्यक्तित्व का प्रबल आकर्षण है। दसवीं शताब्दी में मंसूर अल हल्लाज, ग्यारहवीं में बाबा रीहान और उनके दर्वेशों का दल व शेख़ इस्माईल बुख़ारी, बारहवीं में फरीदुद्दीन अत्तार और तज़ाकिरत उल औलिया, तेरहवीं में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती और शेख़ जलालुद्दीन तबरेज़ी व सैयद जलालुद्दीन बुख़ारी और बाबा फ़रीद, चौदहवीं में अब्दुल करीम अलजीली—और इस सबके साथ असंख्य छोटे-मोटे प्रचारक—इन सब का एक तांता-सा बना रहा। उनके व्यक्तित्व और प्रचार का हिन्दू-समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।[2] मुसलमान और हिन्दू सभी सन्तों को आदर की दृष्टि से देखते थे, और उनके प्रशंसकों व भक्तों में सांस्कृतिक भेद-भाव अपने आप कम हो चले थे। आज भी हम उनकी दरगाहों पर लाखों की संख्या में हिन्दुओं को इकट्ठा होते हुए पाते हैं। अजमेर में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर हर रोज़ तीन घण्टे नौबतख़ाना बजता है। हुसैनी ब्राह्मण व मल्कान राजपूत भी हमारे बीच हैं, जो रमज़ान के दिनों में रोज़े भी उसी आस्था से रखते हैं जिससे वह हिन्दू व्रतों का पालन करते हैं। सिन्ध के मशहूर संत करीमशाह के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने एक वैष्णव साधु से 'ओम्' मंत्र की दीक्षा ली थी। उनकी जीवनी में लिखा है कि यह मंत्र उनके लिए 'एक अंधेरे कमरे में घूमते हुए दीपक के समान' बन गया था। इसी प्रकार झङ्ग के प्रसिद्ध साधु बाबा साहना के सम्बंध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने एक मुस्लिम संत से दीक्षा ली, और तब महरबाबा कहलाने लगे।[3] इस प्रकार, दो महान् संस्कृतियों की,

१–T. W. Arnold : Preaching of Islam.

२–ताराचन्द : Influence of Islam on Indian Culture.

३–क्षितिमोहन सेन : Medieval Mysticism.

विभिन्न दीखने वाली दो विशाल-धाराएं हमारे देश के प्रयाग में, गंगा और यमुना के समान, एक दूसरे से जा मिलीं—एक भारतीय संस्कृति के निर्माण में सतत आगे बढ़ते रहने के लिए।

सामाजिक सहयोग

यहां हमें यह भी भूल नहीं जाना है कि इस देश में मुसल्मानों की संख्या, जो लगातार बढ़ती गई उसका कारण यह नहीं था कि वे लोग बहुत बड़ी संख्या में बाहर से आये थे। बाहर से आनेवालों की संख्या नगण्य थी। उनमें से अधिकांश, ६० या ६५ फ़ीसदी, ऐसे थे जो इस देश की प्राचीन संस्कृति के प्रश्रय में पले थे। उन्होंने जब मुसल्मान धर्म स्वीकार किया तब वह अपने समाज के वे सब आचार-विचार, जो वह सदियों से मानते आरहे थे, इस्लाम में ले गए। जो थोड़े से मुसल्मान बाहर से आये भी थे वे उनके सामाजिक आचार पर बहुत अधिक प्रभाव न डाल सके, क्योंकि स्वयं उनकी आत्माओं में इस्लाम का प्रवेश बहुत गहरा न था, वे तो भिन्न-भिन्न फिरकों में बंटे हुए साधारण व्यक्ति थे, जो एक अस्थायी लाभ की खोज में इस देश में चले आये थे। संत और सूफ़ी धर्म-प्रचारकों का उद्देश्य साधना के मार्ग पर लोगों को प्रवृत्त करना था—सामाजिक संगठन की विभिन्नता को सुरक्षित रखने अथवा उनका निर्माण करने पर उनका आग्रह नहीं था। उनके प्रभाव में जिन लाखों व्यक्तियों ने इस्लाम की दीक्षा ली, वे उस समाज-व्यवस्था से तनिक भी परिचित न थे जिसका विकास मुसलमानों ने इस देश के बाहर किया था।

ऐसी परिस्थिति में वही हुआ जो कि स्वाभाविक था। इस देश के उन असंख्य आदिम निवासियों ने, जिन्होंने इस्लाम धर्म में दीक्षा ले ली, न तो अपनी सदियों से चली आने वाली प्राचीन समाज-व्यवस्था को आघात पहुंचाने की चेष्टा की, और न उसके मुकाबिले में किसी अन्य समाज-व्यवस्था का निर्माण किया।[१] मुसल्मान धीरे-धीरे हिन्दू-संस्थाओं को ही अपनाते गए। इस प्रकार आदि-काल से चली आने वाली ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की छत्र-छाया में एक नये समाज का निर्माण हुआ, जिसमें विविध धर्मावलम्बी तो थे, पर जो एक ही समाज-व्यवस्था को मानते थे। शहरों में संगठन की दिशा कुछ भिन्न थी। पर वहां भी हिन्दू और मुसल्मान सरकारी नौकरियों में अथवा वाणिज्य और व्यापार के सूत्रों द्वारा एक-दूसरे के निकट-संपर्क में आते गए। शासन-व्यवस्था में हिन्दू अधिकारियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गई। चारों ओर सहयोग, साह-

१—बी० के० मल्लिक : Individul and the Group : A Study in Indian Conflict.

चर्य और सौहार्द्र की भावना ने ज़ोर पकड़ा। जो बर्बर विजेता के रूप में आये थे, वह हमारे सामाजिक जीवन के एक अंग बन गए। केवल एक चीज़ व्यवधान बन कर हमारे बीच खड़ी रह गई थी। वह थी धार्मिक विभिन्नता—पर धर्म धीरे-धीरे व्यक्ति के निजी विश्वास और आचार की वस्तु बनता जारहा था। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के आचार और व्यवहार के प्रति सहिष्णु बनते गए, और सामाजिक धरातल पर उन्होंने एक-दूसरे के धार्मिक कृत्यों में भी उदारता से भाग लेना आरम्भ कर दिया।

धार्मिक सहिष्णुता

सामाजिक सहयोग के साथ-साथ धार्मिक सहिष्णुता की भावना भी प्रबल होती चली। ऊपर से देखने से तो यह जान पड़ता है कि मूर्त्ति-पूजक हिन्दू-धर्म और मूर्त्ति-भंजक इस्लाम में कहीं तादात्म्य है ही नहीं। पर कई शताब्दियों पहिले से बौद्ध-धर्म और हिन्दू वेदान्त के प्रचारक उन देशों में फैले हुए थे, जहां बाद में इस्लाम का प्रचार हुआ। सूफ़ी मत के इतिहास के उत्तरी-काल में उनका प्रभाव बहुत स्पष्ट है—यद्यपि यह सच है कि सूफ़ी रहस्यवाद की बुनियाद हमें क़ुरान-शरीफ़ की कुछ आयतों में ही मिल जाती है। फ़ना, तरीक़ा, मराक़बा आदि सूफ़ी-सिद्धांतों में निर्वाण, साधना, योग आदि की कल्पना स्पष्ट झलकती है। दूसरी ओर, इस्लाम के सिद्धांतों का भी बहुत बड़ा प्रभाव हिंदू-दर्शन पर पड़ा। सुधार की नई धारा का प्रारम्भ दक्षिण भारत से ही हुआ था, जहां हिंदू-दर्शन पहिली बार इस्लाम के सिद्धांतों के संपर्क में आया था। दक्षिण-भारत में बौद्ध और जैन धर्मों के रूखे अध्यात्म की प्रतिक्रिया के रूप में शैव और वैष्णव पंथों का प्रारम्भ हुआ। इनका आग्रह जीवन के उपासना-पक्ष पर था। उपासना के आधार के लिए सगुण ब्रह्म की आवश्यकता पड़ी। यह कहना कठिन है कि सगुण ब्रह्म की कल्पना के पीछे इस्लाम के नये सिद्धांतों का प्रभाव कितना था। पर शंकराचार्य के अध्यात्म-दर्शन पर इस्लाम का प्रभाव, जो उनकी जन्मभूमि के आसपास पूरे ज़ोर पर था, बिल्कुल भी नहीं था, यह मानना भी कठिन है। मध्यकाल का हिंदू-दर्शन ज्यों-ज्यों विकास पाता गया, इस्लाम का प्रभाव उस पर अधिक स्पष्ट होता गया। शंकराचार्य के अद्वैतवाद ने धीरे-धीरे रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत का रूप लिया, और तब वह वल्लभाचार्य के द्वैतवाद में विकसित हुआ। द्वैतवाद की मनोरम कल्पना की कोमल भूमि पर, सूफ़ी-मत के अधिक सीधे संपर्क के परिणाम स्वरूप, भक्ति की धारा का फूट निकलना तो सहज स्वाभाविक ही था।

उत्तरी भारत में तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में जो सिद्धान्त

फैले उन पर तो मुस्लिम-प्रभाव बहुत सीधा ही पड़ रहा था। रामानंद ने विष्णु की कल्पना को और भी सहज-सुलभ बना कर राम का रूप दिया, उन्होंने भक्ति की दीक्षा चारों वर्णों को दी—उनके अनुयायियों में से अधिकांश जुलाहे, चमार आदि ही थे। कबीर ने तो रीति-रिवाज और जात-पाँत को उठाकर एक ओर रख दिया, और राम और रहीम की एकता का संदेश जन-साधारण तक पहुंचाया। उनके सिद्धान्तों पर रूमी, सादी और दूसरे सूफ़ी कवियों और सन्तों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। नानक और दादू की साखियों में हिन्दू और मुसल्मान धर्मों के सामञ्जस्य के इस प्रयत्न को हम और भी बढ़ा हुआ पाते हैं। नानक सूफ़ी रंग में इतने रंग गए थे कि हिन्दू धर्म का उन पर कितना प्रभाव था, यह जानना कठिन है। वैदिक और पौराणिक सिद्धान्तों की उन्हें कम ही जानकारी थी। दादू का भी यही हाल था। दो-तीन शताब्दियों तक समस्त देश भक्ति की उत्ताल तरंगों में, एक नई प्रेरणा से स्पंदित-विभोरित होकर डूबता-उतराता रहा। हिंदुओं में भक्ति-आन्दोलन अपने पूरे ज़ोर पर था, और मुसलमानों में सूफ़ियों की नई-नई जमातें—चिश्तिया, सुहरावर्दिया, नक़्शबन्दी आदि—'प्रेम की पीर' का प्रचार कर रही थीं। भावना के इस व्यापक प्रदेश में हिन्दू और मुसलमानों का एक-दूसरे के समीप से समीपतर आते जाना स्वाभाविक ही था।

उससे भी नीचे स्तर पर, जहां जनसाधारण के आचार-विचार, रीति-रिवाज और पूजा-मानता का सम्बन्ध था, हिन्दू और मुसलमानों का यह भाव प्रायः बिल्कुल ही मिट गया था। हुसैनी ब्राह्मणों और मल्कान राजपूतों की चर्चा ऊपर आ चुकी है। मुस्लिम संतों के हिन्दू साधुओं से, और हिन्दू साधकों के मुसलमान फ़क़ीरों से आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करने व गुरु-दक्षिणा लेने के अनेकों उदाहरणों से मध्य-काल का इतिहास भरा पड़ा है। साधक हिन्दू अथवा मुसल्मान कोई भी हो उसके अनुयायियों में दोनों ही समाजों के अनेक व्यक्ति रहा करते थे। आज भी उनकी शव-समाधियों पर जो वार्षिक मेले लगते हैं उनमें हिन्दू और मुसल्मान सभी इकट्ठा होते हैं। सिन्ध के प्रसिद्ध कवि-साधक शाह अब्दुल लतीफ़ की समाधि पर प्रत्येक बृहस्पतिवार को आज भी असंख्य हिन्दू और मुसलमान मिल कर कबीर, दादू, नानक और मीराबाई के भजन गाते हैं। क्षेमानन्द के 'मानस-मंगल' में, जो सत्रहवीं शताब्दी में लिखा गया था, बंगाल के एक राजा के कमरे में कुरान शरीफ़ के मौजूद होने का जिक्र है। 'सैर उल-मुताख़रीन' में लिखा है कि नवाब मीरजाफ़र अपने सब शहरियों के साथ गंगा-पार होली खेलने जाया करते थे, और मरने के वक्त उन्होंने किरी-तेश्वरीदेवी की मूर्त्ति को जिस पानी से नहलाया था, उसका आचमन किया

था। 'बेहुला सुन्दरी' नाम की एक बंगला-कविता में लिखा है कि जो ब्राह्मण नायक की यात्रा के लिए शुभ-दिन निश्चित करने के लिए इकट्ठा हुए थे, उन्होंने क़ुरान में 'फ़ाल' देख कर अपना निश्चय बनाया था। एक दूसरे काव्य-ग्रन्थ में हम मुसल्मान नायक का सप्तर्षियों से वरदान मांगने के लिए पाताल जाने का वर्णन पाते हैं। सत्य-पीर नाम के देवता में तो समस्त बंगाल की जनता, हिन्दू और मुसल्मान दोनों, का अखंड विश्वास था।[1]

राजनैतिक समझौता

हृदय की इस एकता के आधार पर राजनैतिक समझौते की भावना का विकसित होना अनिवार्य था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारतीय इतिहास के समग्र मुस्लिम-काल में केवल दो मुसल्मान शासक, फ़ीरोज़ तुग़लक और औरङ्गजेब, ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने शासन-काल में धार्मिक असहिष्णुता की नीति का पालन किया, और वह भी थोड़े वर्षों के लिए और विशेष राजनैतिक परिस्थितियों के कारण। अन्य शासकों ने, और इन दोनों शासकों ने भी अपने शासन-काल के शेष भाग में धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का ही पालन किया। कुछ ने इस्लाम का पक्ष लिया, पर हिन्दू धर्म के साथ दुर्भावना नहीं रखी। अकबर के बहुत पहिले काश्मीर का सुल्तान ज़ैनुल-आबिदीन अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति के लिए प्रसिद्ध था। उसने जज़िया हटा दिया था, और संस्कृत के कई ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद किया। बंगाल में सुल्तान अलाउद्दीन हुसैनशाह ने भी इसी नीति का पालन किया। शेरशाह हिन्दू-जनता में 'वक़्फ़' बाँटा करता था। सम्राट् अकबर के शासन-काल में यह प्रवृत्ति अपनी चरम-सीमा तक जा पहुंची। मुग़ल-सम्राटों के समस्त शासन का संगठन जिन सिद्धान्तों पर किया गया था वे भारतीय पहिले थे, सैरेसेनिक, ईरानी या मुस्लिम बाद में। संस्थाओं में थोड़ा हेर-फेर हुआ, पर वह मूलतः वही रहीं जो सनातन-काल से चली आ रहीं थीं। धार्मिक-सहिष्णुता की नीति ने भारतवर्ष के मुस्लिम शासन में धर्म का स्थान ले लिया था।

राजनैतिक सम्बन्धों के निर्धारण में धर्म का कभी कोई विशेष हाथ नहीं रहा। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में गुजरात, मेवाड़ और मालवा में लगातार संघर्ष रहा, पर इस संघर्ष में गुजरात के सुल्तान प्रायः उतनी ही बार मेवाड़ के राणा के पक्ष में, और मालवा के सुल्तान के खिलाफ़ लड़े जितनी बार वह मालवा के सुल्तान के पक्ष में और मेवाड़ के राणा के खिलाफ़ लड़े थे। बाबर

१—कालीकिंकरदत्त : Studies in the History of the Bengal Subah.

और हुमायूं ने, पठानों के खिलाफ़, राजपूतों का साथ दिया। मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद भी निज़ाम मराठा-साम्राज्य के अन्तर्गत था न कि मैसूर के सुल्तान के साथ, और राजपूतों की सहानुभूति मराठों के साथ कम और रुहेलों के साथ ज़्यादा रही। मुग़ल-साम्राज्य द्वारा स्वीकार की गई धार्मिक सहिष्णुता की नीति का ही यह परिणाम था कि उसके पतन के डेढ़ सौ वर्ष बाद भी, १८५७ के विद्रोह में, मुग़ल-वंश के किसी उत्तराधिकारी को ही समस्त देश का शासक बनाने का प्रयत्न किया गया। बीच में भी इस प्रकार के प्रयत्न चलते रहे थे। उत्तर-भारत में १७७२ से १७९४ ई० तक महादजी सिन्धिया का आधिपत्य रहा, पर अपने शासन के लिए यथेष्ठ नैतिक बल प्राप्त करने की दृष्टि से उनके लिए यह आवश्यक होगया कि वह मुग़ल-वंश के शाह आलम को अंग्रेज़ों की क़ैद से छुड़ा कर दिल्ली की गद्दी पर बिठाएं, और उसके नाम से शासन करें। किसी भी साम्राज्य के पतन के बाद उसके प्रति जनता की इतनी गहरी भक्ति का प्रदर्शन साम्राज्यों के इतिहास में एक अनहोनी-सी घटना है।

सांस्कृतिक समन्वय

राजनैतिक एकता का सहारा लेकर सांस्कृतिक समन्वय का विकास हुआ। इस प्रवृत्ति का आरम्भ तो एक सामान्य भाषा की उत्पत्ति के साथ ही हो चुका था। हिन्दी ब्रजभाषा और फ़ारसी के सम्मिश्रण का परिणाम थी। उसका शब्दकोष, वाक्य-विन्यास, व्याकरण, सभी दोनों भाषाओं की सामान्य देन हैं। हिन्दू और मुसल्मान दोनों ने इस भाषा को धनी बनाया। अमीर खुसरो हिन्दी भी उतनी धारा-प्रवाह लिख सकते थे जितनी फ़ारसी। अकबर ने उसे प्रोत्साहन दिया। ख़ानख़ाना, रसखान और जायसी हिन्दी-साहित्य के गौरव हैं। जायसी तो मध्य-कालीन हिन्दी के तीन सर्व-श्रेष्ठ लेखकों में हैं, और हृदयकी सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति में कई स्थलों पर तुलसी और सूर से भी बाज़ी ले गए हैं। अन्य प्रांतीय भाषाओं—मराठी, बंगला, गुजराती, सिंधी आदि—पर भी मुसल्मानों का उतना ही गहरा प्रभाव पड़ा। मराठी बहमनी-वंश के संरक्षण में ही साहित्यिकता की सतह तक उठ सकी। बंगला का विकास भी मुस्लिम-शासन की स्थापना के परिणाम-स्वरूप ही हुआ। स्व० दिनेशचन्द्र सेन का मत है कि "यदि हिन्दू-शासक स्वाधीन बने रहते तो (संस्कृत के प्रति उनका अधिक ध्यान होने के कारण) बंगला को शाही दर्बार तक पहुंचने का मौक़ा कभी नहीं मिलता।"[1] जायसी के अवधी-भाषा में लिखे हुए पद्मावत की फ़ारसी-लिपि की अनेक प्रतियां अराकान और चटगांव के ग्रामीण मुसल्मानों के पास से प्राप्त हुई हैं। पद्मावत का

१—दिनेशचन्द्रसेन : A History of Bengali Literature.

बंगला अनुवाद भी एक मुसल्मान कवि ने ही किया था। दारा-शिकोह ने हिंदुओं के उपनिषदों व अन्य धर्म-ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद किया—इसी के इटैलियन भाषा के अनुवाद ने पश्चिम के विद्वानों का ध्यान हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों की ओर खींचा। फ़ैज़ी ने महाभारत का अनुवाद फ़ारसी में किया। हिन्दुओं और मुसल्मानों के साहित्य की साधना में एक रूप हो जाने के अनेकों उदाहरण मध्य-कालीन भारत के इतिहास में मिलते हैं।

सांस्कृतिक समन्वय की यह प्रवृत्ति वास्तु-कला और चित्र-कला के क्षेत्रों में अपनी चरम-सीमा तक पहुंची है। मुस्लिम वास्तु-कला का सर्वोच्च विकास इसी देश में हुआ। क़ाहिरा की मस्जिदों में भी, फ़ैज़ पाशा के शब्दों में, "कला की सम्पूर्ण मनोरमता नहीं है। सामञ्जस्य, अभिव्यक्ति, सजावट, सभी में एक ऐसी अपूर्णता है—जो बरबस अपनी ओर ध्यान आकर्षित करती है।" ईरान की मुस्लिम-कला में भी हम यही बात—भव्य सजावट और वैज्ञानिक कौशल का अभाव—पाते हैं। ताजमहल हिन्दुस्तान में मुस्लिम वास्तु-कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। परन्तु, वह संसार की अन्य इस्लामी इमारतों से बिलकुल भिन्न है। उसके निर्माण में हिन्दू शिल्प-शास्त्रों के सिद्धान्तों का अधिक पालन किया गया है। बीच के बड़े गुम्बद और उसके चारों ओर चार छोटे-छोटे गुम्बद पंचरत्न की कल्पना का स्मरण दिलाते हैं। गुम्बद की जड़ों में कमल की खुली हुई पंखड़ियां हैं, जो मानों गुम्बद को धारण किए हुए हैं। शिखर के समीप कमल की उल्टी पंखड़ियां हैं। शिखर के ऊपर त्रिशूल है। हैवल ने ठीक ही लिखा है कि सैंटपाल का गिर्जा और वेस्ट मिंस्टर एबे अंग्रेज़ी-कला के उतने सच्चे नमूने नहीं हैं, जितना ताज हिन्दुस्तानी कला का।[1] लेकिन हैवल के इस कथन से मैं सहमत नहीं हूं कि हिन्दुस्तान में मुस्लिम वास्तु-कला इस कारण ही महान् हो सकी कि उसका विकास उन हिन्दू कारीगरों के हाथों हुआ जो हिन्दू-संस्कृति में डूबे हुए थे। इस देश में आने के पहिले ही मुसल्मान इस क्षेत्र में बहुत महत्व-पूर्ण सफलता प्राप्त कर चुके थे। मुस्लिम-काल की भारतीय वास्तु-कला के पीछे इस्लामी प्रेरणा भी उतनी ही प्रबल है, जितना हिन्दू प्रभाव। सर जॉन मार्शल का मत है कि पुरानी दिल्ली की क़ुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद और ताज के पवित्र और भव्य मक़बरे की कल्पना मुस्लिम प्रभाव के बिना नहीं की जा सकती।[2] भारत की मुस्लिम-कला की महानता इसी में है कि वह दो महान् संस्कृतियों के सम्मिश्रण का परिणाम है।

१–E. B, Havell: Indian Architecture.

२–Cambridge History of India, Vol III.

चित्रकला के क्षेत्र में भी हम यही बात पाते हैं। मुग़ल चित्रकारों के सामने एक ओर तो अजन्ता की पद्धति थी, दूसरी ओर समरक़न्द और हिरात, इस्फहान और बग़दाद के चित्रकारों की कृतियां थीं। दोनों के समन्वय से मुग़ल-कलाका जन्म हुआ। अजन्ताकी कला में एक अभूत-पूर्व जीवनी-शक्ति थी, मध्य एशिया की कला में समन्वय, संतुलन और सामञ्जस्य की भावना प्रमुख थी। दोनों के मिश्रण से रंग का निखार और रेखा की संवेदनशीलता दोनों ने एक अद्भुत प्रगति की। शाहजहां के प्रमुख चित्रकारों में हमें एक ओर तो कल्याणदास, अनूप चतर और मनोहरके नाम मिलते हैं, और दूसरी ओर मोहम्मद नादिर समरक़न्दी, मीर हाशिम और मोहम्मद फ़क़ीरुल्ला के। हिन्दू और मुसल्मान कलाकारों ने मिलकर मुग़ल-चित्रकला का विकास किया था।[1] डॉ०कुमारस्वामी और कुछ अन्य लेखकों ने मुग़ल और राजपूत कलाओं में कुछ मूलभूत भेद बताने की चेष्टा की है। पर गहराई से देखा जाए तो राजपूत-कला, एक विभिन्न वातावरण में, मुग़ल-कला के प्रयोग का ही एक उदाहरण है।[2]

सत्रहवीं शताब्दी : मतभेद के चिह्न

हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के सहयोग और समन्वय की जो धारा शताब्दियों की सीमाओं को लांघती हुई दिन पर दिन प्रबल होती जा रही थी, सत्रहवीं शताब्दी में उसके प्रवाह में कुछ रुकावट पड़ी। इसका मूल-कारण राजनैतिक था, यद्यपि उसके पीछे कुछ सामाजिक प्रवृत्तियां भी काम कर रही थीं। देश में स्थान-स्थान पर हिन्दुओं ने अपने स्वतंत्र-राज्य स्थापित करने आरम्भ कर दिए थे। मराठे और बुन्देले, राजपूत और सिख, सभी एक नई राजनैतिक आकांक्षा से उद्वेलित से हो उठे थे। राजनैतिक आकांक्षाओं को समाज-सुधार की उन प्रवृत्तियों से बल मिला था जो हिन्दू-समाज में इन दिनों व्यापक होती जा रही थीं। कबीर, दादू और दूसरे स्वाधीन-चेता संतों द्वारा रूढ़िप्रियता और कट्टरता पर जो आक्रमण किया जा रहा था और दूसरी ओर भक्ति के नाम पर जो उच्छृङ्खलता फैलती जा रही थी उसका प्रभाव सामाजिक संगठन पर अच्छा नहीं पड़ रहा था। इसी कारण महाराष्ट्र व उत्तर-भारत के नए सुधारकों—तुकाराम, रामदास, तुलसीदास आदि—समाज को मर्यादाओं को निबाहने पर अधिक ज़ोर देने लगे थे। इस आग्रह से समाज में आचार की शुद्धता और पवित्रता का विकास हुआ। जीवन की इस नई उत्क्रांति का राजनैतिक स्तर पर आजाना अनिवार्य इसलिए भी होगया कि मुस्लिम-शासन उन उदार प्रवृत्तियों के साथ,

१—P. Brown : Indian Painting. २—ए० के०—कुमार-स्वामी: Rajput Painting.

जिनका विरोध किया जा रहा था, इतना अधिक सम्बद्ध होगया था कि उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था। इसी कारण हिन्दू-समाज की नई सुधार-प्रवृत्तियां, जिनका आधार दृष्टिकोण की उदारता नहीं, मर्यादाओं का पालन था, मुग़ल-साम्राज्य से जा टकराईं।

दूसरी प्रतिक्रिया यह हुई कि मुग़ल-शासन में भी मुसलमानों का एक ऐसा दल उठ खड़ा हुआ जिसने उसे कट्टर मुसल्मानों की संस्था बनाने का प्रयत्न किया। इस विचार-धारा को शाहजहां के कमज़ोर शासन-काल में संगठित होने का अवसर मिल गया। शाहजहां के जीवन के अन्तिम वर्षों में उसके योग्य पुत्र औरङ्गज़ेब ने इस दल का नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया। औरङ्गज़ेब कट्टर मुसल्मान तो था ही, शासन के अनुभव और योग्यता में भी वह अपने सब भाइयों से अधिक बढ़ा-चढ़ा था। गद्दी पर बैठने के बाद कुछ वर्षों तक उसने, हिन्दू स्वत्वों का विरोध न करते हुए, इस्लाम के आदर्शों पर शासन का पुनर्निर्माण करने की चेष्टा की। औरङ्गजेब के बनारस वाले फ़रमान और अन्य आज्ञापत्र इस बात के साक्षी हैं, पर विचारों का वेग, और उसके प्रभाव में घटनाओं का चक्र, इतना तेज़ी से चल रहा था कि औरङ्गजेब इस कठिन सिद्धान्त का पालन अधिक दिनों तक न कर सका। ज्यों-ज्यों मराठों और सिखों का संगठित विरोध अधिक तीव्र होता गया, उसे विवश होकर हिन्दू-विरोधी नीति का पालन करना पड़ा। जज़िया फिर से लगा दिया गया। नये हिन्दू-मन्दिरों के बनने का निषेध होगया। परिस्थितियों, और कुछ व्यक्ति विशेषों ने, मुस्लिम शासन को फिर एक बार उसी स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया जहां से उसका प्रारम्भ हुआ था। उसने फिर एक कट्टर मुसल्मानों की संस्था का रूप ले लिया।

इस संबंध में कई बातें ध्यान में रखना ज़रूरी हैं। मुस्लिम-शासन को भारतीय जीवन-धारा से अलहदा कर देने का यह प्रयत्न बहुत थोड़े मुसल्मानों तक, और केवल राजनैतिक क्षेत्र तक, ही सीमित रहा, सांस्कृतिक जीवन का वह स्पर्श न कर सका। इसका तो इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है कि धर्मान्धता के सबसे अंधकारमय युग में भी स्वयं औरङ्गज़ेब की लड़की हिंदी में कविता लिखती और हिंदू कवियों को आर्थिक सहायता पहुंचाती रही ? राज-नैतिक क्षेत्र में भी यह प्रयत्न ग़लत था, इसमें तो शक़ है ही नहीं। हिंदू अथवा मुसल्मान किसी एक भी समाज के विरोध के आधार पर इस देश में कोई शासन स्थापित नहीं किया जा सकता। १७०७ में औरङ्गज़ेब की मृत्यु के साथ ही इस प्रयत्न का भी अंत होगया। भारतीय जीवन की दोनों प्रमुख धाराएं फिर एक साथ बहने लगीं। औरङ्गज़ेब के उत्तराधिकारियों के लिए हिंदू जनता का

समर्थन प्राप्त कर लेना ज़रूरी होगया। शासन को फिर उदारता की नीति बरतनी पड़ी। इसी बीच कुछ कारण ऐसे हुए जिनके परिणाम-स्वरूप मुस्लिम-समाज में पतनशीलता के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। बाहर के मुस्लिम देशों से उनका संपर्क प्रायः समाप्त ही होता जा रहा था। ईरान के सफ़वी-वंश के पतन के बाद भारतीय मुसल्मानों के लिए प्रेरणा का एक मुख्य स्रोत बंद होगया था। इधर हिंदुओं की निम्न-श्रेणियों में से जिन असंख्य व्यक्तियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया था, वे भी अपने साथ बहुत ही निम्न-कोटि की सभ्यता लाए थे, उसका भी बुरा असर पड़ रहा था। मुसल्मानों में ग़रीबी और शिक्षा का अभाव दोनों बढ़ रहे थे। राजनैतिक सत्ता हाथों से जा रही थी। सम्भव है कि मुग़ल-साम्राज्य यदि फिर अपने प्राचीन बल और वैभव को प्राप्त कर पाता तो दोनों संस्कृतियों के समन्वय की धारा एक बार फिर अपने प्रबल वेग से बह निकलती, पर राजनैतिक परिस्थितियां प्रतिकूल थीं। जो तार एकबार टूटा वह फिर जुड़ न सका। पर यह सोचना कि धक्का बहुत गहरा अथवा सांघातिक लगा, इतिहास की सचाई को ठुकराना है। समाज के अन्तस्तल में शताब्दियों से जिस समन्वय की जड़ गहरी होती जा रही थी उसे आसानी से उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं था। डा० बेनीप्रसाद के शब्दों में "निकट भूतकाल के अनुभव भुलाए नहीं जा सके। हिंदू-मुस्लिम-संस्कृति का जो ढांचा पांच शताब्दियों के ज्ञात अथवा अज्ञात सहयोग-प्रयत्नों द्वारा बनाया गया था वह न सिर्फ़ क़ायम ही रहा, पर और मज़बूत बनता गया। वह कड़ी से कड़ी परीक्षा में खरा उतर चुका था, और देश की पूंजी का अंग बन चुका था।[1]"

अंग्रेजी शासन का प्रभाव

पतन और अनिश्चय की उस संक्रमण घड़ी में अंग्रेज़ इस देश में आए, एक नई, सशक्त सभ्यता की चकाचौंध के साथ। इस नई सभ्यता के प्रति हिंदू और मुस्लिम समाजों की प्रतिक्रिया ने दो विभिन्न रूप धारण किए। हिंदुओं ने, विशेषकर बंगाल के नवयुवकों ने, पश्चिमी-कला और विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति से अधिक से अधिक सीख लेने की प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया। ईसाई-मिशनरियों द्वारा खोले गए स्कूलों और छात्रावासों, कंपनी के नौकरों के लिए खोले गए फ़ोर्ट-विलियम कालेज व शेलबर्न, डेरोज़ियो आदि विदेशी शिक्षकों के संपर्क के परिणाम-स्वरूप, हिंदू-समाज में जीवन और जाग्रति की एक नई चेतना-लहर उठी। अंग्रेज़ी तहज़ीब के प्रति मुसल्मानों का दृष्टिकोण इससे बिलकुल भिन्न था। सैकड़ों वर्षों के शासन के गौरव को वह आसानी से भुला नहीं सकते

१—बेनीप्रसाद : Hindu Muslim Questions.

थे। राज्य के बड़े-बड़े ओहदे उनके हाथ से चले ही गए थे। जो कला-कौशल उनके हाथ में थे, ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की भारतीय उद्योग-धंधों को ख़त्म कर देने की नीति से उन पर बड़ा धक्का लगा। अंग्रेज़ी शासक भी उनके प्रति सशंक ही थे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि काफ़ी लम्बे अर्से तक मुसलमान अंग्रेज़ी सभ्यता से विमुख और अंग्रेजी शासन से खिंचे रहे। इसी कारण हम देखते हैं कि एक ओर हिन्दू समाज में जहां ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियों ने जन्म लिया, जो पश्चिमी सभ्यता के अच्छे गुण ले लेने के पक्ष में थीं, वहां मुस्लिम-समाज में फरैज़ी और वहाबी आंदोलन, जो मूलतः अंग्रेज़ी शासन के ख़िलाफ़ थे, फैले। मुसलमानों का अंग्रेज़ी शासन के प्रति क्या रुख़ था, इसका अच्छा परिचय हमें मिर्ज़ा अबू-तालिब की 'अंग्रेज़ी अहद में हिन्दुस्तानी तमद्दुन की तारीख़' में मिलता है।

नवयुग और प्राचीन का पुनर्निर्माण

नवीन जीवन की जो चेतना भारतीय समाज में, चाहे वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान, व्यापक होती जा रही थी, उसका मुख्य आधार प्राचीन का ममत्व और उसकी छाया में नूतन के पुनर्निर्माण का प्रयत्न था। प्राचीन संस्कृति में आत्म-विश्वास की भावना के साथ ही तो इस नवयुग का प्रारम्भ हुआ था। हिंदू-समाज में जिन अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधार प्रवृत्तियों ने जन्म लिया, उनके पीछे प्राचीनता के पुनर्निर्माण की यह भावना स्पष्ट ही है। राजा राममोहन राय द्वारा १८२८ ई० में स्थापित ब्रह्म-समाज को मुख्य प्रेरणा भारतीय उपनिषदों की महानता में एक अमर-विश्वास से ही प्राप्त हुई थी। स्वामी दयानंद का वेदों की महानता में उतना ही अखण्ड विश्वास था—उन्होंने स्मृतियों और पुराणों को उस हद तक अमान्य ठहराया जहां उनमें वेदों का विरोध पाया जाता था। ऑल्कॉट की थियोसोफ़िकल सोसाइटी ने आत्म-विश्वास की इस भावना को और भी पुष्ट किया। उसकी दृष्टिमें हर वस्तु और हर विचार, जिसका विकास इस देश में हुआ था, शुद्ध-वैज्ञानिक और चिरन्तन-सत्य था। यह भावना नवीन-वेदान्तवाद का समर्थन करने वाली प्रगतिशील, और सनातन-धर्म महामण्डल आदि रूढ़िवादी, संस्थाओं द्वारा और भी दृढ़ बनाई गई। सब जगह प्राचीनता की ओर लौटने की पुकार थी—बीच के अन्धेरे युग को चीरते हुए प्राचीनता के स्वप्नों को आत्मसात् कर लेने की ललक!

भारतीय इस्लाम में भी, एक विभिन्न वातावरण के प्रभाव और एक विभिन्न नेतृत्व में इसी प्रकार के प्रतिक्रियावादी आन्दोलन खड़े हो रहे थे। उनका आधार भी प्राचीन की ओर लौटने—कुरान, पैग़म्बर और हदीस में ही

अपना विश्वास रखने—पर था। इन आन्दोलनों के नेताओं में से दिल्ली के शाह अब्दुल अज़ीज़ ने इस्लाम को उन अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों से मुक्त करने का प्रयत्न किया जो उसने हिन्दू-समाज से ली थीं और इस्लाम के पैग़म्बर द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों का प्रचार किया। बरेली के सैयद अहमदने 'तरीक़ए-मोहम्मदिया' की स्थापना की, जिसके अनुसार हिन्दुस्तान को 'दारुल हर्ब' क़रार दिया गया था, जहां मुसलमानों को जिहाद करते रहना आवश्यक था। जौनपुर के शाह करामत अली इतने उग्र विचारों के न थे, पर उन्होंने भी असंख्य मुसल्मानों को शुद्ध इस्लामी जीवन की ओर प्रवृत्त करने में बड़ी सहायता पहुंचाई। फ़रीदपुर के हाजी शरीयतुल्ला व उनके पुत्र दूधूमियाँ द्वारा चलाये गए फ़रैज़ी आन्दोलन का उद्देश्य केवल धार्मिक शुद्धता का प्रचार ही नहीं था, उसने राजनैतिक असंतोष को भी उकसाया। अहले हदीस और मिर्ज़ा ग़ुलाम क़ादियानी के अनुयायियों में भी यही प्रवृत्ति काम कर रही थी।[1]

प्राचीन के पुनर्निर्माण की यह प्रवृत्ति प्रत्येक देश के नवयुग का एक मुख्य अंग है। यूरोप में भी पन्द्रहवीं शताब्दी में नये जीवन की जिस चेतना ने अपनी उत्ताल तरंगों के प्रबल आघातों से मध्यकाल के ध्वंस-चिह्नों को नष्ट-भ्रष्ट किया, उसके पीछे भी ईसा के पहिले की यूनानी सभ्यता के जीर्णोद्धार का प्रयत्न था। हिन्दुस्तान में भी इस प्रवृत्ति की उपस्थिति स्वाभाविक थी। जब कोई राष्ट्र निराशा के गढ़े में गिरा होता है, तब प्राचीन महानता की स्मृति ही उसे भविष्य की नई आशाओं व नये सपनों को जागृत करने में सहायता पहुंचाती है। पर, हमारे देश में इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो हिन्दुओं की दृष्टि अपनी उस प्राचीन संस्कृति की ओर गई जिसका विकास, गंगा और यमुना के किनारे, आर्य-ऋषियों के द्वारा उन शताब्दियों में हुआ था जब भारत-वर्ष मुस्लिम-संपर्क से बिल्कुल अछूता था, दूसरी ओर मुसल्मानों के मानसिक क्षितिज पर उस सभ्यता का रंगीन चित्र खिंचा, जिसका विकास अरब के मरुस्थल में पैग़म्बर और उनके ख़लीफ़ा-साथियों द्वारा हुआ था, और जो अपनी चरम-सीमा-रेखा का स्पर्श, और उसे पार, कर चुकी थी हिन्दुस्तान के संपर्क में आनेके

१—ये सब आन्दोलन प्रायः वहाबी आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध हैं, पर इनका मौलिक 'वहाबी' आन्दोलन से—जिसे मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब (१७०७-८७) ने अरब में चलाया था—कोई सम्बन्ध नहीं था। इनमें से अधिकांश हनफ़ी और शफ़ी क़ानूनों को मानते हैं, और 'तसव्वुफ़' की वहाबी कल्पना का विरोध करते हैं। इन्हें 'कुरान की ओर लौटो' आन्दोलन कहना अधिक उपयुक्त होगा।

शताब्दियां पहिले। वे दोनों भूल गए—जैसे किसी दूर की वस्तु को देखने की तल्लीनता और तन्मयता में हम कभी-कभी पास की वस्तु को भूल जाते हैं—कि उन दोनों ने इस देश के सैंकड़ों वर्षों के सामान्य जीवन में और साथ में प्राप्त किये गए सुख और दुःख के सहस्र-सहस्र अनुभवों में, एक महान् सामान्य सभ्यता का निर्माण किया था, सामान्य सामाजिक संस्थाओं, सामान्य धर्म-सिद्धान्तों और कला और साहित्य की सामान्य पृष्ठभूमि पर, जिसके लिए वे उतना ही गौरव अनुभव कर सकते थे, जितना किसी अन्य सभ्यता के संबंध में।

क्या यह एक आश्चर्य में डाल देने वाली बात नहीं थी ? क्यों हिंदू और मुसल्मान दोनों अपने सैंकड़ों वर्षों के सामान्य जीवन और उसकी अद्भुत देन, एक सामान्य सभ्यता, को भूल गए और क्यों उन्होंने अपने नये जीवन की नींव दूर-पार की दो विभिन्न संस्कृतियों के आधार पर डाली ? इस प्रश्न का वैज्ञानिक उत्तर देना कठिन नहीं है। बात यह हुई कि हमारे नये जीवन की चेतना का आधार धर्म में था—उस एकाकी वस्तु में जो हिन्दू और मुसल्मानों में भेद की रेखा बन कर खड़ी थी। सुधार की नई प्रवृत्तियों का आरंभ धर्म से हुआ, और यहीं प्रवृत्तियां, समाज-सुधार के रास्ते, राष्ट्रीयता में परिणत होगईं। इसी कारण हमारे देश में हिन्दू व मुस्लिम समाजों में राजनैतिक जीवन का विकास भी दो विभिन्न रूपों में हुआ। जब तक यह प्रवृत्ति धर्म और समाज के सुधार तक सीमित रही, संघर्ष की गुंजाइश नहीं थी। पर उसके राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश करते ही संघर्ष का प्रारम्भ होगया। फिर भी वस्तु-स्थिति पर क़ाबू पाया जा सकता था यदि भूतकाल के सामान्य अनुभव और वर्तमान जीवन की सामान्य ग़ुलामी और कड़वाहट की तीखी अनुभूति—एक शब्द में, राष्ट्रीयता—अपने शुद्ध रूप में विकसित हो पाती। परन्तु, हमारे देश में राष्ट्रीय आंदोलन का विकास भी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों का सहारा लेकर हुआ—इस कारण दोनों समाजों के बीच की खाई का बढ़ जाना स्वाभाविक ही था।

राष्ट्रीयता का स्वरूप

भारतीय राष्ट्रीयता की जड़ें हिन्दू-धर्म और संस्कृति के पुनरोत्थान में निहित हैं। उसका आरम्भ ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के नेताओं से हुआ जिनमें राम मोहन राय, देवेंद्रनाथ ठाकुर, केशवचंद्र सेन, रानाडे, भंडारकर, चन्दावरकर जैसे प्राचीन हिंदू-संस्कृति में डूबे हुए व्यक्ति थे। जिन विदेशी लेखकों की रचनाओं से हमारे उस आत्मविश्वास को, जो राष्ट्रीयता का मूल आधार था, पुष्टि मिली, उन्होंने भी हिंदू संस्कृति के प्राचीन गुणों को ही हमारे सामने रखा। देश भर में आर्य-संस्कृति की विजय-ध्वजा स्थापित कर देने का स्वप्न जिन दया-

नन्द की आंखों में था, भारतीय राष्ट्रीयता के प्रवर्त्तकों में उनका बहुत बड़ा स्थान है। हिंदू समाज के अन्य आंदोलनों ने भी, चाहे वे नव-वेदांत-वाद जैसे तर्क प्रधान रहे हों, चाहे सनातन धर्म महामण्डल जैसे रूढ़ि-प्रधान, राष्ट्रीयता की भावना को ही पुष्ट किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हमारी राष्ट्रीयता धर्म का जामा पहिन चुकी थी—या यों कहना चाहिए कि धर्म ने ही राष्ट्रीयता का रूप ले लिया था। इस धार्मिक राष्ट्रीयता के आचार्य थे स्वामी विवेकानंद। विवेकानंद ने आत्मविश्वास, आशा और शक्ति का एक नया संदेश हमारी नसों में फूंका। शिकागो की 'वर्ल्ड कांफ्रेंस ऑफ रिलीजन्स' पर उनके व्यक्तित्व का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। पर विवेकानंद स्वयं अमरीका से पश्चिमी सभ्यता के लिए तिरस्कार की भावना लेकर लौटे थे। "एक बार फिर", उन्होंने अमरीका से लौटने पर कहा, "संसार पर भारतवर्ष की विजय होगी......"। "हमें विदेशों में जाना चाहिए और संसार को अपने अध्यात्मवाद और तत्त्वज्ञान से जीतना चाहिए। हमारे लिए यही एक रास्ता है। हमें चाहिए कि हम इसी पर चलते हुए मर मिटें। राष्ट्रीय जीवन, एक बार फिर सशक्त राष्ट्रीय जीवन, की एकमात्र शर्त यह है कि संसार पर भारतीय विचारों की विजय हो।" विवेकानंद का यह संदेश तभी से भारतीय राष्ट्रीयता का मूल-मंत्र बना हुआ है।

धार्मिकता की इस व्यापक-प्रवृत्ति को हम अपने बीसवीं सदी के आरम्भ के राजनैतिक जीवन की दोनों धाराओं—क्रांतिकारी व कांग्रेस के उग्रदल—पर बराबर हावी पाते हैं। इन आंदोलनों का नेतृत्व देश भर में फैले हुए जिन व्यक्तियों के हाथ में था—महाराष्ट्र में तिलक, बंगाल में अरविंद घोष और विपिन-चन्द्र पाल, पंजाब में लाजपतराय—उन सबका हिंदू धर्म में गहरा विश्वास था। क्रांतिदल के सदस्यों का तो मुख्य ग्रंथ गीता था, और उनके जीवन की मुख्य प्रेरणा श्रीकृष्ण का निष्काम कर्म का आदर्श। ऐसी परिस्थिति में झण्डे और गीत, प्रतीक और उद्घोष जितने भी निकले, वे यदि हिंदू विचारधारा और हिंदू तत्त्वज्ञान में डूबे हुए थे, तो आश्चर्य ही क्या था? महाराष्ट्र में तो आधुनिक राष्ट्रीयता उन प्रवृत्तियों का ही पुनरोत्थान-मात्र थी, जो किसी समय मुस्लिम राज्य के विरोध में विकसित हुई थी। तिलक ने, जो जन-संपर्क में आने वाले पहिले राष्ट्रीय नेता थे, गो-वध निषेध समितियों, हिंदू अखाड़ों व गणपति और शिवाजी उत्सवों के द्वारा दक्षिण भारत में राष्ट्रीयता की भावना का संगठन किया था। शिवाजी के अफ़ज़ल-वध का समर्थन करते हुए लो० तिलक ने लिखा—"म्लेच्छों को ईश्वर ने ताम्र-पत्र पर हिंदुस्तान का पट्टा लिख कर नहीं दे दिया है। शिवाजी के जीवन का उद्देश्य यही था कि वह उन्हें अपनी जन्मभूमि से निकाल बाहर करें..."।

मुस्लिम समाज में राष्ट्रीयता की यह लहर काफ़ी लम्बे अर्से के बाद पहुंची—क्योंकि मुस्लिम समाज ने उन मंज़िलों को पार करने में अधिक देर लगा दी जिन पर होता हुआ हिंदू समाज राष्ट्रीयता की चेतना तक पहुंचा था। अंग्रेजी शासन और सभ्यता के प्रति मुस्लिम समाज की प्रतिक्रिया का ज़िक्र ऊपर आचुका है, पर दोनों समाजों की प्रगति के मूल में, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के अलावा, ठोस ऐतिहासिक कारण भी थे। हमें यह न भूलना चाहिए कि नवयुग की यह चेतना समस्त देश में एक साथ नहीं फैली—वह, अंग्रेजी शासन के विस्तार के साथ, एक प्रांत से दूसरे प्रांत तक बढ़ती गई। हमें यह बात भी भुला नहीं देना है कि मुस्लिम संस्कृति का प्रधान केन्द्र सदा से उत्तरी भारत के पंजाब, दिल्ली, युक्तप्रांत आदि प्रदेश रहे हैं—इन तक पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव पहुंचने में आधी शताब्दी से भी अधिक का समय लग गया। समुद्र तट के प्रांतों में सुधार की प्रवृत्तियां जब अपनी चरम-सीमा पर थीं, तब उत्तरी भारत में उनका आरम्भ हुआ। प्रधानतः हिंदुओं के हाथों विकसित होने के कारण राष्ट्रीयता पर हिंदू धर्म और हिंदू-संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ जाना स्वाभाविक ही था—और तब मुसलमान उसके संपर्क में आये, और उनसे उसे अपनाने की अपील की गई। मुसलमानों में भी राष्ट्रीयता की इस भावना के विकसित होने के पहिले धार्मिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियां वैसे ही अपने पूरे ज़ोर पर थीं जैसे हिंदू समाज में। इस्लाम धर्म और मुस्लिम-संस्कृति में डूबे हुए मुसल्मान राष्ट्रीयता के इस हिंदू रूप को देखकर कुछ चौंके, कुछ झिझके, उनके इस्लाम प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना के बीच एक संघर्ष-सा छिड़ा, और उनमें से जो एक कट्टर मुस्लिम संस्कृति के पक्षपाती थे, उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में राष्ट्रीयता को छोड़कर सांप्रदायिकता का पल्ला पकड़ा। यहीं से हमारे राजनैतिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या—सांप्रदायिक समस्या—का सूत्रपात होता है। पर, उसे और भी अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए हमें मुस्लिम राजनीति के विकास की गहराई में जाना होगा, और उसके अनेक युगों पर पड़ने वाले आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और सबसे अधिक व्यक्तिगत प्रभावों को कुछ विस्तार के साथ समझना होगा।

मुस्लिम राजनीति और साम्प्रदायिकता

मुस्लिम राजनीति के विकास के इतिहास को तीन भागों में बांटा जा सकता है। पहिले भाग का प्रारम्भ सर सैयद अहमद की उस नीति से होता है, जो उन्होंने भारतीय मुसल्मानों को कांग्रेस से अलहदा रखने के सम्बन्ध में धारण की थी। सर सैयद अहमद अपने इस प्रयत्न में बहुत सफल न हो सके। उनकी आवाज़ एक छोटे तबके तक ही पहुंच सकी। उनके जीवन-काल में ही कुछ प्रगति-शील मुसल्मान नेताओं ने उनकी नीति से अपना विरोध प्रगट करना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी मृत्यु के बाद प्रमुख भारतीय मुसल्मान—शिबली नोमानी, अल्ताफ़ हुसैन हाली, अबुलकलाम आज़ाद, मुहम्मद अली और डा० इक़बाल—राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित हुए। मुसल्मानों में राष्ट्रीयता की धारा हिन्दू-समाज के राष्ट्रीय आन्दोलन से स्वतंत्र थी। पहिले महायुद्ध, और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों, ने दोनों धाराओं को एक दूसरे के बहुत नज़दीक ला दिया। १६२०-२१ में दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से देश में विद्रोह की एक ऐसी आंधी उठी कि उसने अंग्रेजी-शासन की जड़ों को ही हिला दिया। पर उस आन्दोलन के शिथिल हो जाने के बाद सांप्रदायिकता ने ज़ोर पकड़ा। इसी बीच सांप्रदायिक चुनावों के विषैले परिणाम भी सामने आने लगे। लाला लाजपतराय, मौलाना शौकत अली और कुछ दूसरे राष्ट्रीय नेता भी सांप्रदायिकता के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सके। पर इन दिनों भी कुछ प्रमुख मुसल्मान नेता—हकीम अजमलखां, मौलाना मुहम्मदअली, डा० अन्सारी, मौलाना आज़ाद आदि—राष्ट्रीयता में अपना विश्वास अक्षुण्ण बनाये रख सके। '३० और '३२ के सविनय-अवज्ञा-आन्दोलनों ने भी मुसल्मानों को राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर खींचा, प्रगतिशील प्रवृत्तियां एक बार फिर सशक्त बनने लगीं। १६३७ का चुनाव प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियों पर प्रगतिशील विचार-धारा की विजय का स्पष्ट द्योतक था। पर १६३७ के बाद ही, सांप्रदायिकता ने एक बार फिर ज़ोर पकड़ा। आपसी मतभेद और वैमनस्य एक बार फिर प्रबल हो उठे। पाकिस्तान की आवाज़ देश के कोने-कोने से उठी। पर आज मुस्लिम राजनीति का यह तीसरा युग भी ढलाव पर है, पाकिस्तान की मांग भी अब मद्धिम पड़ती जा रही है, राष्ट्रीयता का वेग अब फिर बाढ़ पर है।

सरसैयद अहमदखां

आधुनिक भारतीय मुस्लिम समाज के विकास में सर सैयद अहमद खां का स्थान यदि हम निर्धारित करना चाहें तो शायद यह कहना काफ़ी

होगा कि वह मुस्लिम समाज के राजा राममोहन राय हैं। सर सैयद दिल्लीके एक संभ्रान्त सैयद परिवार में उत्पन्न हुए थे, और आरम्भ से ही अध्ययन और विद्वत्ता की ओर उनकी रुचि थी। विज्ञान, धर्म, इतिहास, वास्तुकला आदि पर प्रायः वह लिखते रहते थे, दिल्ली के ध्वंसावशेषों और मक़बरों पर उनकी एक मर्मस्पर्शी रचना—'असारे सनादियाल'—का फ्रेंच में भी अनुवाद हुआ था। १८५७ के 'ग़दर' के बाद उन्होंने इस्लाम और ईसाई-धर्म दोनों पर तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कुछ लिखा। ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा इस्लाम-धर्म पर जो आक्रमण किया जा रहा था, सर सैयद उसका भी करारा जवाब देते रहे। राममोहन रायके समान शिक्षा-प्रचार, विशेष कर पश्चिमी कला और विज्ञान के प्रचार में, सर सैयद की विशेष रुचि थी। १८७७ ई० में अलीगढ़ में उन्होंने मुसल्मानों के लिए एक कॉलेज की स्थापना की। मुसल्मानों के लिए एक शिक्षा-परिषद् का संगठन भी उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था। सर सैयद द्वारा स्थापित 'मोहम्मडन एंग्लो-ओरिएण्टल कॉलेज' ही आज प्रख्यात अलीगढ़ विश्व-विद्यालय के रूप में, सर सैयद के शिक्षा-संम्बधी प्रयत्नों का अमर प्रतीक बनकर, हमारे सामने मौजूद है।

शिक्षा-प्रचार के इस कार्य के पीछे सर सैयद अहमद का ध्येय बिल्कुल स्पष्ट था। उनको विश्वास हो गया था कि अंग्रेज़ों से स्थायी संबन्ध बनाये रखने में भारतीय मुसल्मानों का कल्याण है। '५७ के विद्रोह में उन्होंने सरकार का साथ दिया, और इस कारण वह जनता में बहुत कुछ अप्रिय भी बन गए थे। १८५७ के बाद से ही वह इस प्रयत्न में लग गए कि एक ओर तो अंग्रेज़ों के मन से इस बात को निकाला जाय कि 'ग़दर' की घटनाओं में मुसल्मानों का प्रमुख हाथ था, और दूसरी ओर मुसल्मान अंग्रेज़ी शासन के फ़ायदों को समझने लगें। इसी ध्येय को अपने सामने रख कर सर सैयद अहमद ने १८५७ में 'असबाबे बग़ावते हिन्द' नाम की एक पुस्तक लिखी और १८६०-६१ में 'हिन्दुस्तान के राजभक्त मुसल्मान' शीर्षक से धारावाही रूप से लिखते रहे। १८६६-७० की इङ्गलैंड-यात्रा ने तो उन्हें अंग्रेज़ी सभ्यता का और भी कट्टर समर्थक बना दिया।[1] उनके शिक्षा-प्रयत्नों के पीछे भी यही उद्देश्य काम कर रहा था। एम० ए० ओ० कॉलेज के उद्घाटन के अवसर पर, लॉर्ड लिटन के सामने, सर सैयद ने कहा कि उक्त कॉलेज की स्थापना का उद्देश्य "पूर्व की

१–सर सैयद ने लन्दन पहुंच कर अपने एक पत्र में लिखा, "शिक्षा-प्रचार और चरित्र की दृष्टि से अच्छे से अच्छे हिन्दुस्तानी अँग्रेज़ों की तुलना में ऐसे ही हैं जैसे गन्दा जानवर किसी योग्य और सुन्दर मनुष्य की तुलना में।" Graham : Life and work of Sir Syed Ahmad Khan.

शिक्षा को पश्चिम के साहित्य और विज्ञान से संश्लिष्ट कर देना, भारतीय मुसल्मानों को अंग्रेजी-राज्य के योग्य प्रजाजन बनाना व उनमें एक ऐसी राजभक्ति की भावना को विकसित करना था जिसका जन्म विदेशी शासन की ग़ुलामी को आंख मींच कर स्वीकार कर लेने में नहीं, परन्तु एक अच्छे शासन की खूबियों को समझ लेने में होता है।"

इस बीच, हिन्दू समाज में धार्मिक-सुधार की प्रेरणा से नवयुग (Renascence) की जिस धारा ने जन्म लिया था वह, समाज-सुधार के रास्ते होती हुई, राजनैतिक समस्याओं से टकराने लगी थी। स्थान-स्थान पर राजनैतिक दलों का संगठन होने लगा था। पहिले उनका कर्म-क्षेत्र अपने-अपने प्रान्तों तक ही सीमित था। कलकत्ते का इण्डियन एसोसिएशन, मद्रास की महाजन सभा, पूना की सार्वजनिक सभा आदि संस्थाएं इसी कोटि की थीं। पढ़े-लिखे भारतीयों की सिविल सर्विस में प्रविष्ट होने की आकांक्षा ने इन प्रान्तीय प्रवृत्तियों को अखिल भारतीय रूप दे दिया। १८७७-७८ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने समस्त भारत में जो यात्रा की थी, उसका मुख्य उद्देश्य सिविल सर्विस की परीक्षाओं में भारतीय विद्यार्थियों की असुविधाओं को दूर करने के सम्बन्ध में आन्दोलन करना था, पर उसका परिणाम यह निकला कि अबतक प्रान्तीय आधार पर जो राजनैतिक कार्य किया जा रहा था उसे अखिल-भारतीय रूप मिल गया। राजनीति के अखिल-भारतीय रूप लेते ही एक अखिल-भारतीय राजनैतिक संस्था के निर्माण की दिशा में प्रयत्न होने लगा। इन प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप १८८५ ई० में कांग्रेस का जन्म हुआ। कांग्रेस बहुत शीघ्र ही पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों की राजनैतिक भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाली एकमात्र संस्था बन गई। सब प्रान्तों और सब संप्रदायों में राजनैतिक प्रवृत्ति रखने वाले सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को उसने अपनी ओर आकर्षित किया। यद्यपि उसके निर्माण में ह्यूम और वेडरबर्न आदि अंग्रेज़ों का हाथ भी था, और अनुमान तो यह भी है कि उसकी स्थापना की प्रेरणा उस समय के बड़े लाट डफ़रिन से प्राप्त हुई थी, पर आरम्भ से ही एक निर्भीक रवैया इख्तियार करने के कारण कांग्रेस शीघ्र ही सरकार की कृपादृष्टि से केवल हाथ ही न धो बैठी, उसकी आंखों में खटकने भी लगी। स्वयं लॉर्ड डफ़रिन अपने शासन के अन्तिम दिनों में उसके प्रति बहुत क्षुब्ध रहे।

कांग्रेस के प्रति सर सैयद अहमद का क्या रवैया होगा, यह जानने के लिए लोगबाग उन दिनों उत्सुक रहा करते थे। भारतीय राष्ट्रीयता और भारतीय आकांक्षाओं से सर सैयद को पूरी सहानुभूति थी। १८६० ई० में ही उन्होंने भारतीयों के धारा-सभाओं में लिए जाने के संबंध में अपनी आवाज़ उठाई थी। १८५६

में ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना के समय उन्होंने भय की वृत्ति को छोड़ देने और स्पष्टता और ईमानदारी से अपनी शिकायतें सरकार के सामने रख देने की सलाह दी थी। सर सैयद स्वयं बड़े निर्भीक और बेधड़क व्यक्ति थे। लॉर्ड लिटन के पञ्जाब यूनिवर्सिटी बिल का उन्होंने बड़ा ज़ोरदार विरोध किया था। आगरा-दर्बार से वह उठकर चले गए थे, क्योंकि वहां बैठने की व्यवस्था में हिन्दुस्तानियों और अंग्रेज़ों के बीच भेद-भाव रखा गया था। १८७७ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अपने सिविल सर्विस आन्दोलन के सम्बन्ध में अलीगढ़ में जिस सभा में बोले थे, सर सैयद ने ही उसका सभापतित्व किया था। १८८४ में, पञ्जाब में एक सार्वजनिक भाषण देते हुए, उन्होंने सभी संप्रदायों के सामान्य-हितों पर ज़ोर दिया, और सहयोग और संगठन की भावना से कार्य करने की अपील की। उन्होंने कहा, 'हम (हिन्दू और मुसलमान) एक दिल और एक आत्मा हैं; और हमें मिलजुल कर काम करना चाहिए। इस प्रकार हम एक-दूसरे की बहुत अधिक सहायता कर सकेंगे। यदि हम एक न हो सके तो दोनों का ही पतन और सर्वनाश निश्चित है।' सर सैयद प्रायः हिन्दू और मुसलमानों को 'एक ख़ूबसूरत दुलहिन की दो आंखें' कहा करते थे। वह न केवल साम्प्रदायिक भावना से ही मुक्त थे, प्रान्तीय विद्वेष भी उन्हें छू न गया था। बंगालियों को वह देश का गौरव मानते थे। वह कहा करते थे कि हमने स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता की भावना बंगाल से ही प्राप्त की है।

सर सैयद के सम्बन्ध में इन तथ्यों को जान लेना बड़ा ज़रूरी है। सांप्रदायिक विद्वेष की भावना उनमें तनिक भी न थी। प्रांतीयता की संकुचितता से वह सर्वथा मुक्त थे। राष्ट्रीयता की भावना से वह ओत-प्रोत थे। निर्भीकता उनके चरित्र का मुख्य अङ्ग थी। चरित्र की ऊंचाई के साथ बुद्धि की प्रखरता भी उनमें थी। यह कहना उनके व्यक्तित्व का अपमान करना है कि सांप्रदायिकता की ओर उनके झुकाव का कारण उन पर बैक, मॉरीसन आदि उन अंग्रेज़ों का प्रभाव था, जिन्हें उन्होंने समय-समय पर अलीगढ़ कॉलेज के प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त किया था। भारतीय साम्प्रदायिकता जैसे व्यापक आन्दोलन की उत्पत्ति व्यक्तिगत कारणों में ढूंढ़ना, इतिहास में विचारों का जो बवण्डर बड़े-से-बड़े व्यक्तियों को अपने साथ उड़ा ले जाता है, उसका निरादर करना है। सच तो यह है कि हम यदि भारतीय-साम्प्रदायिकता के मूल-कारणों को जान लेना चाहते हैं तो हमें ऐतिहासिक घटनाओं की गहराई में कुछ अधिक प्रवेश करना होगा। वे कारण क्या थे जिन्होंने सर सैयद अहमद जैसे राष्ट्रवादी व्यक्ति के सिर सांप्रदायिकता के नेतृत्व का सेहरा बांध दिया? क्यों सर सैयद अहमद ने यह निश्चय

किया कि भारतीय राष्ट्रवाद की जिस प्रबल धारा ने कांग्रेस को जन्म दिया, वह भारतीय मुसलमानों को उससे अलहदा रहने की सलाह दें ?

साम्प्रदायिकता का सूत्रपात

इस बात को समझने के लिए हमें एक ओर तो कांग्रेस के निर्माण की मनोवृत्ति को जान लेना होगा और दूसरी ओर उन प्रवृत्तियों से अवगत हो लेना होगा, जिन्होंने सर सैयद अहमद के व्यक्तित्व को बनाया था। कांग्रेस के सामने शुरू से ही राष्ट्रीयता का वह विशद और प्रखर रूप नहीं था, जिससे हम आज परिचित हैं। राष्ट्रीयता कई युगों को चीरती हुई अपनी आज की स्थिति तक पहुंच सकी है। कांग्रेस का प्रारम्भ भारतीय समाज के एक वर्ग-विशेष के संगठन से हुआ। वह वर्ग था पश्चिम की विचार-धाराओं के संपर्क में आया हुआ हिन्दुस्तान का पढ़ा-लिखा समुदाय। पढ़े-लिखे लोगों में ही राजनैतिक विचारों ने जन्म लिया था। वे ही इस बात के लिए बेचैन थे कि उन्हें ऊंचे सरकारी ओहदे और शासन में अधिक-से-अधिक अधिकार मिल सकें। पढ़े-लिखों में संप्रदाय का भेद-भाव नहीं था, पर क्योंकि हिन्दू-समाज ने ही अंग्रेज़ी शिक्षा से सबसे अधिक लाभ उठाया था, यह स्वाभाविक ही था कि कांग्रेस में आरम्भ से ही हिन्दुओं का बहुमत होता। यों तो, कांग्रेस के पहिले अधिवेशन में दो मुसल्मान शामिल थे, दूसरे में उनकी संख्या ३३ और तीसरे में १५६ तक पहुँची। पारसी, सिख, हिन्दुस्तानी ईसाई और यूरोपियन भी उसके साथ थे, पर प्रधानता हिन्दुओं की ही थी। जहां तक मुस्लिम-समाज का संबंध था, शिक्षा के क्षेत्र में वह बहुत अधिक पिछड़ा हुआ था। सर सैयद के सामने सबसे बड़ा ध्येय यह था कि वह उसे शिक्षा की दृष्टि से हिन्दुओं का समकक्ष बनादें। हिन्दुओं को तो ऊंची नौकरियां और शासन में अधिकार मिलना आरम्भ हो गए थे, इसलिए वह 'और अधिक' के लिए आन्दोलन करने का साहसपूर्ण क़दम उठा सकते थे। मुस्लिम-समाज अभी उस स्थिति में नहीं था। बड़े धीरज और बड़ी लगन से, बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के मुक़ाबिले में, सर सैयद अहमद मुस्लिम-समाज के प्रति शासकों के अविश्वास को हटा पाये थे, और स्वय मुसल्मानों में सहयोग की प्रवृत्ति को जन्म दे सके थे। कांग्रेस की स्थापना ने सर सैयद अहमद को एक कठिन परिस्थिति में ला खड़ा किया। यदि सर सैयद अहमद कांग्रेस का साथ देते तो वह सहज ही मुसल्मानों को शासकों के अविश्वास का पात्र बना लेते—और इस प्रकार अपने जीवन-व्यापी कार्य को अपने हाथों ही ख़त्म कर देते। इसी कारण, कांग्रेस के आदर्शों से पूरी सहानुभूति रखते हुए भी सर सैयद ने मुसल्मानों को उससे अलहदा रहने की सलाह दी।

कांग्रेस के प्रति सर सैयद अहमद ने जिस नीति को अपनाया था, उसके पीछे राजनैतिक, आर्थिक और व्यक्तिगत कारण थे, सांप्रदायिकता की मलीनता नहीं थी। जैसा कि शिवली नोमानी ने लिखा, "प्रकृति ने उन्हें समस्त देश का नेता होने की पात्रता दी थी, परन्तु परिस्थितियों और उनके वातावरण ने उन्हें मुसल्मानों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलहदा रखने की नीति धारण करने पर मजबूर कर दिया।" सर सैयद अहमद का कांग्रेस के प्रति विरोध मुसल्मानों का राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति विरोध नहीं था। वह तो मध्यम श्रेणी के एक पिछड़े हुए वर्ग द्वारा, जो अनिश्चितता की गहरी खाई के किनारे खड़ा था, उस आगे बढ़ने वाले वर्ग का विरोध था, जो अब ख़तरनाक स्थिति में नहीं रह गया था, और जिसे यह विश्वास हो चला था कि आंदोलन करने से ऊंची नौकरियां मिल सकेंगी। यह तो परिस्थितियों का परिणाम था कि आगे बढ़े हुए दल में हिंदुओं की संख्या अधिक थी; और जो दल पिछड़ गया था उसमें मुसल्मान ज़्यादा थे। सच तो यह है कि बजाय यह कहने के कि मध्यम वर्ग के मुसल्मान मध्यम वर्ग के हिंदुओं के मुक़ाबिले में आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए और राजनैतिक दृष्टि से अंग्रेजी शासन के अधिक सम्पर्क में थे, यह कहना अधिक ठीक होगा कि देश का मध्यम वर्ग दो भागों में बंट गया था। एक अपनी शक्ति पहिचानने और शासन में दोष निकालने लगा था और दूसरा आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ और अंग्रेजी शासन का समर्थक था, और इन दोनों दलों में से पहिले में हिंदुओं की संख्या अधिक थी और दूसरे में मुसल्मानों की।[1]

सर सैयद का व्यक्तिगत साहस कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न रहा हो, उनकी राजनीति भीरुता की राजनीति थी। १८८७ में, जब कांग्रेस मद्रास में एक मुस्लिम सभापति के नेतृत्व में अपना अधिवेशन कर रही थी, सर सैयद अहमद ने "अवध के ताल्लुक़दारों, सरकारी नौकरों, फौजी अफ़सरों, वकीलों और अख़बार नवीसों" की सभा में भाषण करते हुए कहा कि मुसलमानों को कांग्रेस से अलहदा रहना चाहिए "ताकि उनके प्रति राजद्रोह का संदेह न किया जा सके"। सर सैयद जानते थे कि वह समय की गति के विरुद्ध काम कर रहे हैं, पर वह उस ज़मीन पर से अपनी जड़ें नहीं समेट सकते थे जिस पर उनके समस्त जीवन का विकास हुआ था। सर सैयद ने आरम्भ से ही मुस्लिम-समाज की उन्नति को अपने जीवन का ध्येय बनाया था। वह प्रधानतः समाज-सुधारक थे, न कि राष्ट्रीय कार्यकर्ता। उन्नीसवीं शताब्दी में समाज-सुधार की जितनी प्रवृत्तियों ने जन्म लिया उनका कार्यक्षेत्र हिंदू और मुस्लिम समाजों की सीमाओं में

१—W. C. Smith : Modern Islam in India.

अपने को बचा रखना कठिन होगया, जो हिन्दू-समाज की अनेकानेक प्रवृत्तियों के समान इस्लाम में भी व्यापक होती जा रही थीं। जनता के मन की तो वही चीज़ थी, जनता अपना आत्मविश्वास खोना नहीं चाहती थी। इस सम्बन्ध में अमीरअली की रचनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ रहा था। उनकी 'स्पिरिट ऑफ़ इस्लाम' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक का पहिला संस्करण १८६१ ई० में निकला था। इस्लाम के प्राचीन गौरव का विशद चित्र भारतीय मुसलमानों के सामने रख देने, और इस्लाम में उनके आत्मविश्वास को जाग्रत् करने में अमीरअली का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उन्होंने पैग़म्बर के व्यक्तित्व का कोमल पक्ष सुन्दर से-सुन्दर रूप में अपने पाठकों के सामने रखा। पैग़म्बर व प्रारम्भिक खलीफ़ाओं के मस्तिष्क की प्रखरता, भावनाओं की उदारता और आचार की पवित्रता अमीरअली के शब्द-चित्रों में जीवित हो उठी। इस्लाम में मुसलमान जनता का ममत्व जागा। अमीरअली ने जिस काम को शुरू किया था, खुदाबख्श आदि लेखकों ने उसे और आगे बढ़ाया।

सर सैयद अहमद के निकट अनुयायियों पर भी हम इस नई विचार-धारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से पाते हैं। चिराग़ अली और मोहसिनुलमुल्क ने तो सर सैयद के नेतृत्व का ही अनुकरण किया। वे दोनों पश्चिमी विचारों और अंग्रेज़ी शासन के उतने ही कट्टर समर्थक थे जितने सर सैयद। पर और लोग जो उम्र में कम थे, तेज़ कदम रखने के लिए तैयार थे। इनमें अल्ताफ़ हुसैन हाली, शिबली नोमानी, नज़ीर अहमद आदि के नाम मुख्य हैं। सर सैयद ने मुसलमानों को एक नयी राह पर चलने का आदेश दिया था, पर वह राह मुसलमानों की अपनी राह नहीं थी, पश्चिम की राह थी। अल्ताफ़ हुसैन हाली ने सबसे पहिले मुसलमानों के आत्म-विश्वास को जाग्रत किया। हाली भी सर सैयद के समान मुसलमानों के वर्तमान जीवन से दुःखी थे, पर उनमें और सर सैयद में एक बड़ा अन्तर था। सर सैयद सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रेरणा पश्चिम से प्राप्त करना चाहते थे; हाली के सामने मुस्लिम संस्कृति का प्राचीन वैभव था। हाली ने मुसलमानों की अपनी ज़बान में ही उन्हें नव-निर्माण का संदेश दिया। सर सैयद का उर्दू को विकसित करने का प्रयत्न बहुत दिनों न चल पाया था, पर इस बीच ज़काउल्ला और नज़ीर अहमद जैसे लेखकों ने उर्दू को साज-संवार दिया था। इस मंजी हुई भाषा में हाली का धारा-प्रवाह अपने पूरे वेग से चला। हाली सर सैयद के रास्ते से हट कर अपना अलग रास्ता बना चुके थे। शिबली नोमानी ने इस नये रास्ते को और भी प्रशस्त बनाया। शिबली नोमानी का दृष्टिकोण भी वही था जो हाली का था। सर सैयद इस्लाम को

पश्चिम की वैज्ञानिक दृष्टि से कसना और परखना चाहते थे। हाली और शिबल नोमानी ज्ञान, कला, संस्कृति सब कुछ इस्लाम की कसौटी पर कसते थे। शिबली एक बड़े साहित्यकार और राष्ट्र-निर्माता थे। उनका 'शैर-उल-अजम' फ़ारसी कविता के गहरे अध्ययन का परिचायक है। 'सिरातुन्नबी' के नाम से उन्होंने पैग़म्बर की एक महान् जीवनी लिखी। शिबली ने इस्लाम के कई अन्य महान् व्यक्तियों के भी बड़े प्रभावशाली जीवन-चरित्र लिखे हैं। १६०८ में वह लखनऊ के 'नदवत-उल-उल्मा' के प्रिंसिपल नियुक्त होगए थे, पर वहां से जल्दी ही अलहदा होगए, और आज़मगढ़ में उन्होंने एक लेखक संघ—'दार-उल-मुसन्निफ़ीन'—की स्थापना की, जिसका उद्देश्य इस्लाम के आदर्शों का प्रचार करना था। आज भी यह संस्था, सुलेमान नदवी के नेतृत्व में, बड़ा अच्छा काम कर रही है। सर सैयद के समान शिबली भी अंग्रेज़ी शासन में विश्वास रखते थे, पर अन्तर यह था कि शिबली की इस्लाम-भक्ति उनकी राजभक्ति से कहीं बढ़ी हुई थी। १६०८ के बाद से उन्होंने अपनी इन दोनों प्रवृत्तियों में विरोध पाया, और तबसे वह, खुले-आम, अंग्रेज़ी शासन के विरोध में, और इस्लाम के पक्ष में, आ खड़े हुए थे। ज़माना तेज़ी से करवटें ले रहा था। मुस्लिम समाज में भी आत्म-विश्वास और राजनैतिक जागृति की भावनाएं फैलती जा रही थीं।

इक़बाल

इन्हीं दिनों भारतीय इस्लाम में एक महान् व्यक्तित्व अपनी अटूट प्रतिभा लेकर आया, जिसने अपने प्रभाव की अमिट छाप आने वाली पीढ़ियों पर लगादी। यह थे डॉ० इक़बाल। डॉ० इक़बाल का जन्म १८७३ ई० में, पञ्जाब में, हुआ। कवि के नाते तो वह अपने कॉलेज-जीवन से ही प्रसिद्ध हो चले थे—यद्यपि उनकी पहिली प्रसिद्ध कविता 'कोहे हिमाला' अप्रैल १६०१ के 'मख़ज़न' में प्रकाशित हुई। एक नई फ़िलॉसफ़ी के संदेशवाहक के रूप में इक़बाल हमारे सामने १६०८ के बाद ही आये। इस्लाम में अडिग विश्वास उन्हें अपने लाहौर के शिक्षकों और साथियों—टी० डब्ल्यू० आर्नोल्ड, मौलाना मीरहसन आदि—से मिला था। १६०५ से १६०८ तक इक़बाल इंग्लैंड व जर्मनी में रहे। यहां रह कर उनका यह विश्वास और भी मज़बूत बना। पश्चिमी सभ्यता की सारहीनता और खोखलेपन का भी उन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उस सभ्यता के पीछे शक्ति की व्यापकता से भी वह प्रभावित हुए बिना न रह सके। इक़बाल ने देखा कि यह शक्ति ध्वंसात्मक कार्यों में लगाई जा रही है। व्यक्तिगत जीवन में उसका कोई उपयोग नहीं है। सामूहिक जीवन संघर्षमय है। व्यक्ति का व्यक्ति से, वर्ग का वर्ग से, और राष्ट्र का राष्ट्र से संघर्ष चल रहा है।

उन्होंने यह भी देखा कि पूर्व में आदर्शवादिता और मिल-जुल कर काम करने की प्रवृत्ति है, पर पूर्व में शक्ति नहीं है। इक़बाल ने अपने सरल पर सशक्त व्यक्तित्व का समस्त बल अपने देशवासियों में शक्ति का संचार करने में लगा दिया।

इक़बाल का शक्ति का संदेश हमें स्वामी विवेकानन्द की याद दिलाता है। अपने देशवासियों के लिए विवेकानन्द का सन्देश भी यही था। विवेकानन्द ने कहा था, "सबसे पहिले बलवान बनो। सशक्त बनो। मेरे मन में तो दुष्ट व्यक्ति के लिए भी आदर है, यदि उसमें पुरुषत्व और शक्ति है, क्यों कि शक्ति उसे किसी भी दिन अपनी दुष्टता छोड़ने पर मजबूर कर सकती है, और उसे यह प्रेरणा दे सकती है कि स्वार्थ की दृष्टि से किये जाने वाले अपने सब कामों को छोड़ दे, और इस प्रकार उसे चिरन्तन सत्य से तदाकार कर सकती है।" इक़बाल का यह भी कहना था कि ज़िन्दादिल बुतपरस्त काफ़िर भी उस मुसल्मान से अच्छा है जो हरम में सोया पड़ा रहता है। विवेकानन्द ने जैसे झांझ, करताल, मृदङ्ग आदि के साथ भक्ति की सस्ती भावप्रवण अभिव्यक्ति को बुरा बताया था वैसे ही इक़बाल सूफ़ियों की इसी क़िस्म की बहुत सी बातों के ख़िलाफ़ थे। उनका मत था कि यह सब अरब की पुरुषत्व-प्रधान सभ्यता पर यूनान की स्त्रैण सभ्यता के प्रभाव का परिणाम था। व्यक्तित्व की महानता में इक़बाल का विश्वास था। अभूतपूर्व प्रतिभा वाला एक महान् सशक्त, व्यक्तित्व—उनका आदर्श था। नीत्शे की Super-Man की कल्पना का उन पर स्पष्ट प्रभाव था। इक़बाल की कविताओं में—चाहे हम उनके किसी भी संग्रह को उठा लें—शक्तिशाली व्यक्तित्व के निर्माण पर ज़ोर दिया गया है। उनके इस सन्देश से भारतीय मुसल्मानों को निःसन्देह एक नया बल प्राप्त हुआ।

राष्ट्रीयता का विकास

इस बीच, मुसल्मानों में राष्ट्रीय भावना प्रबल होती जारही थी। इस राष्ट्रीयता का आधार भारतीय मुस्लिम-समाज की वैसी ही प्रतिगामी प्रवृत्तियां थीं, जिन्होंने हिन्दू-समाज में राष्ट्रीयता को जन्म दिया था। इस्लाम की महानता में एक अमिट विश्वास को आधार बनाकर मुसल्मानों में राष्ट्रीयता की भावना फैली। अमीरअली आदि उसके प्रवर्त्तकों में हैं। शिबली नोमानी का उसके निर्माण में बड़ा गहरा हाथ था। १६१२ के बाद इस राष्ट्रीयता ने ज़ोर पकड़ा। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से उसे प्रोत्साहन मिला। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में, टर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद के नेतृत्व में, इस्लाम के एक

विश्व-व्यापी संगठन का जो आन्दोलन चला, उसका उद्देश्य राजनैतिक अधिक था, धार्मिक कम। उस समय तो भारतीय मुसल्मानों पर इस आन्दोलन का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, पर १९१२ के आस-पास जब टर्की पर योरोपियन राष्ट्रों का आक्रमण होने लगा और मुसल्मानों का एक ऐसा देश, जिस पर वह नाज़ कर सकते थे, नष्ट होता दिखाई दिया, तो उनमें सहानुभूति की एक लहर दौड़ गई। इस नये राष्ट्रीय उत्साह ने उर्दू के उन दिनों के साहित्य में एक नया जीवन ला दिया। अकबर ने अपने तीखे व्यंग, शिबली ने पैनी चुटकियों व इक़बाल ने फड़का देने वाली कविताओं से मुसल्मानों में अंग्रेज़ों की उपेक्षा, उनकी संस्कृति के प्रति अवज्ञा और राष्ट्रीयता की एक नई लहर पैदा कर दी। इन्हीं दिनों उच्चकोटि के कुछ पत्र भी सामने आये। अबुल कलाम आज़ाद का 'अलहिलाल' बड़ी ज़ोरदार शैली में सामाजिक और राजनैतिक दोनों क्षेत्रों में बड़े उग्र विचारों को व्यक्त किया करता था। ज़फ़रअली ख़ां के 'ज़मींदार' ने तो उत्तरी भारत के उर्दू जानने वालों में अख़बार पढ़ने का एक नया शौक़ ही पैदा कर दिया। मोहम्मदअली अपने अंग्रेज़ी के 'कॉमरेड' व उर्दू के 'हमदर्द' द्वारा इस नये इन्क़िलाब में पूरा हाथ बंटा रहे थे। मोहम्मदअली क्रियात्मक राजनीति में भी प्रमुख भाग ले रहे थे—१९१२ में उन्होंने डॉ० अनसारी के नेतृत्व में एक मिशन टर्की भेजा। महायुद्ध में जब अंग्रेज़ी सेनाएं टर्की के ख़िलाफ़ लड़ रही थीं तब तो हिन्दुस्तान के मुसल्मानों में हुब्बुलवतनी का एक नया जोश मौजें लेने लगा। सरकार का दमन-चक्र उसे रोक तो सका, पर कुचलने में असमर्थ रहा। आज़ाद, मोहम्मदअली आदि सब जेलों में थे, पर जन-साधारण में राष्ट्रीयता की भावना फैलती जारही थी। १९१६ में मुस्लिम-लीग और कांग्रेस ने एक समझौते पर दस्तख़त किये। १९१७ में अंग्रेज़ी सरकार को हिन्दुस्तान में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की नीति घोषित करने पर मजबूर होना पड़ा। परन्तु असन्तोष सुलगता रहा। युद्ध समाप्त हुआ तो काला क़ानून आया और उसके साथ गांधीजी के सत्याग्रह की धमकी, और अमृतसर का हत्याकाण्ड! राजनैतिक आन्दोलन की लपटें आकाश को चूमने के लिए बढ़ीं—और हिन्दुस्तान के मुसल्मानों ने देश के लिए बड़ी-से-बड़ी बलि देने की तैयारी कर ली।

१९२०--२१ में देशव्यापी एक बड़े राजनैतिक आन्दोलन का होना अनिवार्य था—पर गांधीजी के नेतृत्व ने उसकी रूपरेखा को बदल दिया। बिखरे हुए हत्याकाण्डों के स्थान पर एक संगठित अहिंसात्मक आन्दोलन का विकास हुआ। मुस्लिम-समाज ने खुले दिल से गांधीजी के नेतृत्व को स्वीकार किया।

देशभर में खिलाफ़त कमेटियां बन गईं और एक केन्द्रीय खिलाफ़त कमेटी के नेतृत्व में उन्होंने टर्की के प्रति अंग्रेज़ी सरकार की नीति का खुला विरोध आरम्भ कर दिया। १९१९ के अन्त में गांधीजी के प्रयत्न से, जब अलीबंधु जेल से छूटे तब इस आन्दोलन को एक नया बल मिला। उलमाओं का हार्दिक समर्थन उसे पहिले से ही प्राप्त था—अंग्रेज़ों के खिलाफ़। खिलाफ़त के पक्ष में जो आन्दोलन किया जा रहा था उसे देश के कोने-कोने तक फैलाने में उनका बड़ा हाथ रहा है। १९२० में जब अबुल कलाम आज़ाद जेल से निकल कर आये, तब आन्दोलन का वेग और भी प्रबल होगया। मई १९२० में अखिल भारतीय खिलाफ़त कमेटी ने गांधीजी के 'अदम-तआवुन' (असहयोग) के कार्यक्रम को अपनाया—कांग्रेस ने इस कार्यक्रम को कई महीने बाद स्वीकार किया। मुस्लिम-लीग के लिए भी पीछे रहना कठिन होगया। मौलाना शौकतअली की प्रेरणा से मुस्लिम-लीग ने भी असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया—पर वास्तविक काम खिलाफ़त-कमेटी के नेतृत्व में ही हुआ। १९२०-२१ में भारतीय राष्ट्रीयता की स्वतन्त्र रूप से विकसित होने वाली दो विभिन्न धारायें—गङ्गा और यमुना के समान—एक दूसरे से जा मिलीं, और उनके इस सम्मिलन से राष्ट्रीय आन्दोलन को एक अभूतपूर्व बल प्राप्त हुआ। अंग्रेज़ी शासन की जड़ें हिल उठीं। यह सच है कि बहुत कम हिन्दू या मुसल्मान यह जानते थे कि वह किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष और बलिदान कर रहे हैं; वह तो संघर्ष में ही एक नये गौरव का अनुभव कर रहे थे। १९२०-२१ का वह स्वातंत्र्य-युद्ध हमारी राजनीति के इतिहास में सचमुच एक गौरवशाली स्मृति है!

साम्प्रदायिकता की प्रगति

आन्दोलन का धार्मिक पक्ष बिल्कुल स्पष्ट था। आज़ाद और मोहम्मदअली उसके दो प्रमुख नेता थे, दोनों के जीवन की प्रेरणा का मूल-स्रोत धर्म था। आज़ाद के लिए तो यह मुसल्मान का फ़र्ज़ था कि वह या तो अपने को ख़त्म करदे या अपनी आज़ादी क़ायम रख सके। मोहम्मदअली भी कम धार्मिक न थे। राष्ट्रीय-खिलाफ़त आन्दोलन के दिनों की दो प्रमुख घटनाओं—१९२० की हिजरत और १९२१ के मोपला-आंदोलन—से भी इस धार्मिक प्रवृत्ति का पता लगता है। १९२१ के अंत में आज़ाद और अलीबन्धु फिर गिरफ्तार कर लिए गए। फ़र्वरी १९२२ में, चौरीचौरा के हत्याकाण्ड के बाद, गांधी जी ने आन्दोलन स्थगित कर दिया। नवम्बर १९२२ में मुस्तफ़ा कमाल के उस समय के सुल्तान-ख़लीफ़ा को पदच्युत करके टर्की के शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते ही खिलाफ़त आंदोलन का सारा आधार ही ख़त्म होगया। आने वाले

वर्षों में निराशा और खीझ हमारी राजनीति का मुख्य विषय बन गई। सांप्रदायिकता के आधार पर होने वाले कौंसिलों के नये चुनाव ने सांप्रदायिक विद्वेष को प्रोत्साहन दिया। ग़लतफ़हमियों के इस वातावरण में दूसरों के दोष ढूंढ़ निकालना कठिन नहीं था। हिन्दुओं में यह भावना ज़ोर पकड़ने लगी कि ख़िलाफ़त का साथ देकर उन्होंने एक संकुचित धार्मिकता का समर्थन किया था। मुसल्मानों का ख्याल था कि हिन्दुओं के दब्बूपन की वजह से उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रीय-शक्ति का सांप्रदायिकता की धाराओं में वह निकलना स्वाभाविक ही था। अंग्रेज़ी सरकार से जब बस न चला तो हिन्दुओं ने मुसल्मानों के कान उमेठने की कोशिश की। और मुसल्मानों ने भी हिन्दुओं पर अपना ग़ुस्सा निकालना चाहा। सांप्रदायिकता के इस प्रबल झन्झावात में राष्ट्रीय नेतृत्व का एक बहुत बड़ा अंश डिग उठा। मौलाना मोहम्मद अली ने १९२३ में जेल से छूटने पर कहा कि अब वह एक छोटे क़ैदख़ाने से बड़े क़ैदख़ाने में आगये हैं। उसी वर्ष कोकोनाडा कांग्रेस के वह सभापति बने। पर, उनकी राजनीति उतनी उग्र नहीं रह गई थी, और धीरे-धीरे वह क्रियात्मक राजनीति के क्षेत्र से हटते गए, यद्यपि वह अपने अन्तिम दिनों तक भी सांप्रदायिकता के कट्टर समर्थक नहीं बन सके थे। पर, मौलाना शौकतअली ने तो अपने को सांप्रदायिकता के हाथ बेच ही दिया। उधर स्वामी श्रद्धानन्द ने, जो दिल्ली में मशीनगनों के सामने छाती खोलकर खड़े होगए थे और जिन्हें मुसल्मानों ने जामामस्जिद में भाषण देने पर मजबूर किया था, हिन्दू सांप्रदायिकता का नेतृत्व अपने हाथों में लिया। और, लाजपतराय जैसे कट्टर और मंजे हुए देशसेवी भी सांप्रदायिकता की ओर झुक चले। इन घटनाओं की प्रतिक्रिया मुस्लिम-जनता पर होना स्वाभाविक ही था। बड़े-बड़े लेखक भी इस प्रभाव से बच न सके। अमीरअली ने अंग्रेज़ों की आलोचना करना बन्द करदी, और खुदाबख़्श खुले आम हिन्दुओं को गालियां देने लगे।

इक़बाल के शक्तिशाली व्यक्तित्व की चर्चा ऊपर आ चुकी है। इक़बाल क्रियात्मक राजनीति के क्षेत्र में कभी नहीं रहे, पर उनके प्रभावशाली साहित्य और सशक्त व्यक्तित्व का प्रभाव मुसल्मान राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के जीवन और आदर्शों पर बहुत गहरा पड़ रहा था। यह प्रभाव, यह कहने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए, राष्ट्रीयता के सर्वथा विरुद्ध था, और सामाजिक-संगठन के मार्ग में भी रुकावट डालने वाला था। इक़बाल अपने योरुप-प्रवास से लौटने के बाद से ही राष्ट्रीयता के कट्टर विरोधी होगए थे। उन्होंने योरुप में राष्ट्रीयता का नग्न-ताण्डव देखा था और तभी से अन्तर्राष्ट्रीयता में वह

विश्वास करने लगे थे, यद्यपि उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता की कल्पना एक अखिल-मुस्लिम-संगठन की सीमाओं से बंधी थी। जबकि कुछ मुसलमानों ने अपनी राष्ट्रीयता की प्रेरणा धर्म से प्राप्त की, इक़बाल का मत था कि राष्ट्रीयता धर्म की शत्रु है। उन्होंने कहा—

इन ताज़ा खुदाओं में बड़ा सबसे वतन है,
जो पैरहन उसका है वह मज़हब का कफ़न है।

और—

चीनो अरब हमारा हिन्दोस्तां हमारा।
मुस्लिम हैं हम वतन है सारा जहां हमारा॥

इस विचार-धारा से राष्ट्रीयता का अहित और साम्प्रदायिकता का समर्थन होना स्वाभाविक था। इक़बाल की अन्तर्राष्ट्रीयता भी कभी शुद्ध रूप न ले सकी। सच तो यह है कि इक़बाल पर विचारों का अधिक प्रभाव पड़ता था, वस्तु-स्थिति का कम। इस्लाम के वह प्रशंसक थे—पर उसके और मुस्लिम समाज के वर्त्तमान संगठन के अन्तर को वह न देख सके, एक विश्व-व्यापी संगठन में उनका विश्वास था—इस्लाम में भी उन्हें इस संगठन का रूप मिला। उन्होंने यह सोचने की चिन्ता नहीं की कि उनके सामने इस्लाम का जो रूप था, उसमें विश्व-व्यापी संगठन का आधार बनने की पात्रता रह नहीं गई थी, न उन्होंने यही सोचा कि उनके सामने भी किसी ऐसे ही विश्व-व्यापी संगठन का एक कोई विशद प्रयोग किया जा रहा है। इक़बाल प्रधानतः कवि थे। भावनायें उन्हें उड़ा ले जाती थीं। इस्लाम को उन्होंने आदर्श माना और इसलिए राजनैतिक क्षेत्र में उन्होंने राष्ट्रीय संस्थाओं के बदले मुस्लिम संस्थाओं का—कांग्रेस के बदले मुस्लिम लीग का—समर्थन किया। इक़बाल ने भारतीय मुस्लिम समाज के सामने शक्ति का एक नया आदर्श रखा, पर उसके प्रयोग की दिशा के सम्बन्ध में वह मौन रहे। इक़बाल का शक्ति का सन्देश व्यक्ति के लिए था—उसका आदर्श व्यक्तित्व को विकास की चरम सीमा तक ले जाना था, पर समाज-सेवा का कोई आदर्श उन्होंने व्यक्ति के सामने नहीं रखा। विवेकानन्द और उनमें यही अन्तर था—और इसी कारण जहां हम एक ओर हिन्दू-समाज का नेतृत्व विवेकानन्द के बाद गांधी के हाथों में पाते हैं, जो जीवन में बड़ी से बड़ी शक्ति प्राप्त तो करना चाहता है पर उसे समाज की सेवा में लगा देता है, मुस्लिम-समाज में इक़बाल के बाद जिस व्यक्ति का सबसे अधिक प्रभाव रहा वह हैं मुहम्मदअली जिन्ना जो सारी शक्ति अपने आपमें केन्द्रित कर रखना चाहते हैं।

राष्ट्रीयता का पुनरुत्थान

सांप्रदायिकता के इन अंधेरे दिनों में भी कुछ प्रमुख मुसल्मान नेता राष्ट्रीयता में अपना विश्वास अडिग बनाये रह सके। इनमें मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, डॉ० अन्सारी, हकीम अजमल खां, चौधरी खलीकुज्ज़मा आदि के नाम मुख्य हैं। जमीयत-उल-उल्मा, जिसकी स्थापना १६१६ में मौलाना मोहम्मद-उल-हसन के नेतृत्व में हुई थी, और जिसने १६२१ में मुसल्मानों को असहयोग का मार्ग स्वीकार करने का प्रसिद्ध 'फ़तवा' दिया था, मुफ्ती किफ़ायतुल्ला के नेतृत्व में, अनवरत रूप से, राष्ट्रीयता का समर्थन करती रही। मुस्लिम लीग भी राष्ट्रीयता का समर्थन कर रही थी—यद्यपि इन दिनों उसकी शक्ति अधिक नहीं थी। १६२७ में सायमन-कमीशन की नियुक्ति के बाद मुस्लिम-लीग में दो दल होगए। सरकार-परस्त दल ने फ़ीरोज़खां नून और डॉ० इक़बाल के नेतृत्व में अपना संगठन किया, पर एक बड़े दल ने मुहम्मदअली जिन्ना के नेतृत्व में कमीशन के वहिष्कार का निश्चय किया। १६२८ में नेहरू रिपोर्ट के प्रकाशन से राष्ट्रीय विचार रखने वाले मुसल्मानों की स्थिति कुछ और कमज़ोर हो गई। प्रथम-श्रेणी के कुछ मुसल्मान नेताओं ने, जिनमें मौलाना मुहम्मद-अली मुख्य थे, उसका विरोध किया। मुसल्मानों के एक सर्वदल सम्मेलन ने, जिसमें लीग का वह दल भी शामिल हुआ था जिसके नेता मि० जिन्ना थे, नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकृत कर दिया—पर, इसका परिणाम भी यह हुआ कि कांग्रेस के समर्थक मुसल्मानों ने फौरन ही एक 'राष्ट्रीय मुस्लिम दल' की स्थापना कर ली। १६३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में मुसल्मानों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। १६३१ में लखनऊ में सर अली इमाम के नेतृत्व में देश भर के राष्ट्रीय मुसल्मानों की एक बहुत बड़ी कान्फ्रेंस हुई, जिसमें कई हज़ार व्यक्तियों ने भाग लिया। इसके कुछ ही दिनों पहिले इलाहाबाद में डॉ० इक़बाल के सभापतित्व में मुस्लिम-लीग का वार्षिक उत्सव होकर चुका था, जिसमें ७५ से भी कम व्यक्ति शामिल थे।

१६२६-३० के विश्वव्यापी अर्थ-संकट के बाद से प्रायः प्रत्येक देश और वर्ग में दो परस्पर विरोधी विचार-धाराएं एक दूसरे से टकराने लगी थीं। एक ओर तो प्रगतिशील शक्तियां थीं, जो समाज के वर्तमान ढांचे को तोड़ फेंकना, और एक नये समाज का निर्माण करना, चाहती थीं, और दूसरी ओर प्रतिक्रियात्मक शक्तियां थीं, जो अपना सारा बल उसे न केवल सुरक्षित रखने, पर अधिक सशक्त बनाने में, लगाना चाहती थीं। हमारे देश में, और देश के मुस्लिम-समाज में भी, १६३० से १६३७ तक प्रगतिशील शक्तियों का प्राधान्य रहा। इन वर्षों में

मुसल्मान एक बड़ी संख्या में कांग्रेस का साथ देते रहे। हुसैन अहमद मदनी और उवैदुल्ला सिंधी जैसे प्रमुख उलमा बराबर कांग्रेस के साथ रहे। कांग्रेस के मुस्लिम नेताओं में मौलाना आज़ाद, हकीम अजमल खां, डॉ० किचलू, डॉ० अन्सारी आदि मुख्य थे। अपने धार्मिक चिन्तन, प्रगाढ़ विद्वत्ता, और प्रभावशाली वक्तृत्वशक्ति से मौलाना आज़ाद ने सदा ही समझदार मुसल्मानों के एक बहुत बड़े तबक़े को कांग्रेस के साथ रखने में सहायता पहुंचाई है। कांग्रेस के साम्यवादी वर्ग में तो मुसल्मानों की एक बड़ी संख्या थी। यूसुफ़ मेहरअली का नाम इस सम्बन्ध में अनायास ही याद आजाता है। मैकडोनल्ड के 'सांप्रदायिक निर्णय' के प्रति कांग्रेस के अनिश्चय के रवैये ने जहां एक ओर कुछ हिंदुओं को असंतुष्ट किया था, वहां उससे कुछ मुसल्मान भी नाराज़ हुए, और अन्सारी, खलीक़ुज़्ज़मां आदि ने कांग्रेस को छोड़ देने की धमकी भी दी। कांग्रेस में मुसल्मानों की तादाद ज़रूर कम होगई, पर अधिकतर मुसल्मान बहुत-सी ऐसी मुस्लिम संस्थाओं में शामिल होगए, जिनके आदर्श कांग्रेस से मिलते-जुलते थे।

इनमें पंजाब का अहरार दल प्रमुख था। इसकी स्थापना १६३० में हुई। '३० और '३२ के आन्दोलनों और क़ुर्बानियों में अहरार पार्टी ने क्रियात्मक भाग लिया। तब से वह देश की एक प्रमुख संस्था बन गई है। राजनैतिक आदर्शों में कांग्रेस से समानता रखते हुए भी सामाजिक विचारों में अहरार दल उससे आगे बढ़ा हुआ है। राजनीति में उसका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है। १६३६ में जब वर्तमान महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, अहरारों ने सबसे पहिले साम्राज्यवादी युद्ध होने के नाते उसकी आलोचना की, और अपने इन विचारों के कारण अहरार दल के बहुत से सदस्य जेलों में गए। सीमाप्रांत में इसी प्रकार खान अब्दुल ग़फ़्फ़ारखां के नेतृत्व में खुदाई खिदमतगारों का संगठन हुआ। सदियों से जिन पठानों के हाथ खून से रङ्गे रहे हैं उनके हृदयों में अहिंसा का सफल प्रवेश किस प्रकार हो सका, यह इस युग की एक आश्चर्य-घटना है। १६३० के आन्दोलन में खुदाई खिदमतगारों ने अपने अहिंसात्मक अनुशासन का बड़ा ज्वलन्त परिचय दिया। तब से यह सारा आन्दोलन कांग्रेस के संरक्षण में चलता रहा है, परन्तु पठानों तक ही सीमित है, और सीधा कांग्रेस के अन्तर्गत नहीं है। खान अब्दुल ग़फ़्फ़ारखां के व्यक्तित्व द्वारा ही वह उससे सम्बद्ध है। मुसल्मानों के निम्न-वर्ग, विशेषकर जुलाहों, में भी राष्ट्रीय जीवन के चिह्न दिखाई देने लगे थे। इन लोगों ने 'अखिल भारतीय मोमिन कान्फ्रेंस' की स्थापना की। उनका दावा है कि यह संस्था देश के ४॥ करोड़ मुसल्मान कारीगरों का प्रतिनिधित्व करती है। इसके अलावा मुसल्मानों में, शिया पोलिटिकल कान्फ्रेंस

आदि अन्य राजनैतिक दल भी हैं जिनका झुकाव राष्ट्रीयता की ओर है। कुछ प्रांतीय प्रवृत्तियां भी समय-समय पर संगठित होती रही हैं। इनमें शेख मोहम्मद अब्दुल्ला द्वारा संगठित जम्मू और काश्मीर की मुस्लिम कान्फ्रेंस, बंगाल की कृषक-प्रजा पार्टी, व पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी प्रमुख हैं।

१६३७ का चुनाव प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों पर प्रगतिशील प्रवृत्तियों के प्राधान्य का स्पष्ट प्रतीक था। प्रोफ़ेसर हुमायूं कबीर के शब्दों में, "हिंदुओं में जगह-जगह कांग्रेस की जीत हुई, और पुराने विचारों के समर्थक बड़े-से-बड़े व्यक्ति उसके सामने टिक न सके। मुसलमानों में भी प्रतिक्रियावादी तत्त्व पीछे धकेल दिये गए, यद्यपि वे नष्ट नहीं किये जा सके। बंगाल में लीग, जिसे पूंजीवादी वर्ग का प्रतिनिधित्व प्राप्त था, प्रजा पार्टी के टिकट पर खड़े होने वाले फ़ज़लुलहक़ के सामने टिक न सकी। पंजाब में कट्टर सांप्रदायिकता की समर्थक लीग सर सिकंदर के नेतृत्व में हिन्दू और मुसलमान नरम राजनीतिज्ञों का जो संगठन किया गया था उससे हारी। युक्तप्रांत में लीग, कुछ प्रगतिशील तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करने के कारण, नवाब छतारी और उनके प्रतिक्रियावादी समर्थकों पर विजय प्राप्त कर सकी। सीमाप्रांत में कांग्रेस ने लीग को उखाड़ फेंका, और सिंध में भी वह अधिक सफल न हो सकी।"[1] दूसरे शब्दों में, १६३७ में देश के सामने एक ऐसा अवसर था जब यदि हिंदू और मुसलमान प्रगतिशील शक्तियां मिल जातीं तो बहुत कुछ काम कर सकती थीं। पर १६३७ की इन राजनैतिक घटनाओं के पीछे इतिहास की जो प्रबल शक्तियां काम कर रहीं थीं, उन्हें कौन रोक पाता? कुछ लोगों का अनुमान है कि चुनाव के बाद ही यदि कांग्रेस सभी प्रांतों में मन्त्रिमण्डल बनाने पर तैयार होजाती तो चुनाव से प्राप्त की गई इस शक्ति को संयोजित किया जा सकता था। बंगाल में फ़ज़लुलहक़ कांग्रेस के क्रियात्मक सहयोग के लिये बेचैन थे, पर जब कांग्रेस ने पद-ग्रहण न करने का निश्चय कर लिया, तो उन्हें मजबूर होकर लीगकी शरण लेनी पड़ी। सर सिकंदर को भी ऐसी ही परिस्थितियों में लीग का सहारा टटोलना पड़ा। लीग को उसकी वर्तमान स्थिति तक पहुंचाने में फ़ज़लुलहक़ और सर सिकंदर का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उन प्रांतों में भी, जिनमें कांग्रेस का बहुमत था, उसकी इस अनिश्चयात्मक नीति ने प्रतिक्रियावादी शक्तियों को बल दिया। मुस्लिम-लीग चुनाव के दिनों की करारी हार से अब उभरने लगी थी, और अपने संगठन में जुट गई थी। उसे आशा थी कि मंत्रिमण्डल बनाने में कांग्रेस उसका सहयोग चाहेगी, पर जब कांग्रेस ने उसकी अवज्ञा की, उसने अपनी सारी शक्ति

१-प्रो० हुमायूं कबीर : Muslim Politics, 1906-42, पृ० १४-१५।

मुसल्मानों को उसके ख़िलाफ़ संगठित करने में लगादी। अनुभव की कमी, और राष्ट्रीयता के शुद्ध-स्वरूप को न पहिचान पाने के कारण कांग्रेस मंत्रियों ने कुछ ग़लतियां भी कीं। मुस्लिम-लीग ने कांग्रेस को बदनाम करने, और मुसल्मानों को उसके ख़िलाफ़ भड़काने में इन ग़लतियों से पूरा लाभ उठाया। इन्हीं दिनों, अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों को लेकर, कांग्रेस और अंग्रेज़ी सरकार के बीच संघर्ष एक व्यापक रूप ले रहा था। कांग्रेस की शक्ति को कुचलने के लिए सरकार के लिए प्रतिक्रियावादी शक्तियों का समर्थन प्राप्त करना अनिवार्य होगया। लीग ने इस अवसर से लाभ उठाकर अपनी स्थिति को मज़बूत बना लिया। इस प्रकार, भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग में अंग्रेज़ी सरकार और मुस्लिम सांप्रदायिकता दोनों ने मिलकर एक दुर्भेद्य प्रतिक्रियावादी मोर्चा स्थापित कर लिया। अगले अध्याय में हम इस मोर्चे की बारीकियों से अवगत होने का प्रयत्न करेंगे।

: ४ :

मुस्लिम लीग और पाकिस्तान की मांग

इक़बाल का स्वप्न

यह बात साधारणतया मानी जाती है कि हिन्दुस्तान के बंटवारे का विचार सबसे पहिले डॉक्टर इक़बाल ने मुस्लिम लीग के १९३० के इलाहाबाद-अधिवेशन के सामने रखा था। इस सम्बन्ध में कुछ बातें जान लेना ज़रूरी हैं। डॉक्टर इक़बाल ने इस भाषण में कहा था कि ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय मुसल्मानों का भाग्य उन्हें मुस्लिम उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के एक राजनैतिक संगठन की ओर ले जा रहा है। यह कल्पना ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के उनके अपने अध्ययन का परिणाम थी। इस कल्पना के पीछे एक विश्व-व्यापी मुस्लिम-संघ का उनका स्वप्न तो पृष्ठ-भित्ति का काम कर ही रहा था, पर हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नों पर दृष्टि रखते हुए भी इक़बाल का यह विश्वास हो चला था कि प्रान्तों के पुनः संगठन से हमारी साम्प्रदायिक समस्या का हल प्राप्त हो सकेगा। सांप्रदायिक चुनाव के वह कट्टर विरोधी थे, और उनका विश्वास था कि यदि प्रांतों का फिर से संगठन किया जाय, और मुस्लिम-प्रांतों को पूर्ण स्वायत्त-शासन दे दिया जाय तो मुसल्मानों के लिए दूसरी क़ौमों से समझौता कर लेना आसान हो जायगा। इस तरीक़े को साम्प्रदायिक चुनाव पर वह तरजीह देते थे।

इक़बाल ने अपने भाषण में यह तो बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया था कि यह विचार केवल उनकी अपनी 'व्यक्तिगत इच्छा' है। वह जानते थे कि जहां तक मुस्लिम-जनता का प्रश्न है, वह निस्संदेह संघ-शासन का समर्थन करेगी। 'व्यक्तिगत-इच्छा' की दृष्टि से भी इक़बाल देश के बंटवारे का समर्थन नहीं कर रहे थे। वह तो केवल इस सिद्धान्त का विश्लेषण कर रहे थे कि हिन्दुस्तान की आबहवा, वर्ण, भाषा, धर्म और सामाजिक संगठन की विभिन्नताओं को देखते हुए यह संभव हो सकता है कि उसके अन्तर्गत भाषा, वर्ण, इतिहास, धर्म और आर्थिक स्वार्थों की एकता के आधार पर कई ऐसे छोटे राज्यों की स्थापना की जा सके, जो एक बड़ी सीमा तक स्वाधीन हों। इसी सम्बन्ध में उन्होंने यह विचार भी व्यक्त किया था कि मुस्लिम उत्तर-पश्चिमी प्रान्त अखिल-भारतीय संघ-शासन के अन्तर्गत एक राजनैतिक इकाई का रूप ले सकेगा। हम इस बात को भुला नहीं सकते कि डॉक्टर इक़बाल सारे देश के लिए एक संघ-शासन की स्थापना के पक्ष में थे। पर, वह एक 'सच्चा संघ-शासन' चाहते थे, जिसमें वे सब अधिकार जो केन्द्रीय-शासन को सौंपे न गए हों, प्रांतीय सरकारों के हाथ में

रहें, और केन्द्रीय-शासन केवल उन्हीं अधिकारों का प्रयोग कर सके जो प्रान्तीय शासन द्वारा स्पष्टतः उसे दे दिये गए हों। अपने इन विचारों में इक़बाल निस्संदेह अपने समय से बहुत आगे बढ़े हुए थे।

कैम्ब्रिज : पाकिस्तान की जन्मभूमि

यह एक दिलचस्प बात है कि पाकिस्तान का विचार सबसे पहिले कैंब्रिज-यूनीवर्सिटी के मुस्लिम विद्यार्थियों के एक छोटे से दल में उत्पन्न हुआ। जनवरी १६३३ में, जब पार्लमेण्ट की एक संयुक्त-कमैटी हिन्दुस्तान के भावी शासन-विधान के संबन्ध में खोजबीन कर रही थी, कैम्ब्रिज के चार मुसलमान विद्यार्थियों ने—जिनके नाम थे, मोहम्मद अस्लम खां, रहमतअली, शेख़ मुहम्मद सादिक़ और इनायतुल्लाखां—'अब या कभी भी नहीं' के नाम से चार पृष्ठोंका एक पैम्फ़-लेट छापा, जिसमें, पहिली बार, हिन्दुस्तान को दो हिस्सों में बांटने का विचार प्रगट किया गया था। दलील यह थी कि हिन्दुस्तान के मुसलमान ग़ैर-मुसलमानों से हर तरह से मुख्तलिफ़ हैं। उनका खाना-पीना, पहिनना-ओढ़ना, रस्म-रिवाज, शादी के तरीक़े वग़ैरा सब अलहदा हैं, और इन कारणों से वह एक अलग राष्ट्र मान लिए जाने के हक़दार हैं। अलग राष्ट्र होने के नाते उनका यह अधि-कार होजाता है कि वह अपने एक अलग राज्यका संगठन करें। प्रकृति ने पञ्जाब, काश्मीर, सिन्ध और सीमा-प्रदेश के प्रान्तों को इसके लिए निर्धारित किया है। इन प्रान्तों को मिलाकर यदि एक राज्य का निर्माण किया जाय तो उसकी भौगोलिक सीमा फ्रांस से दुगुनी और आबादी लगभग बराबर होगी। कैम्ब्रिज के इन विद्यार्थियों ने डॉक्टर इक़बाल से अपना मत-भेद स्पष्ट शब्दों में प्रगट किया। उन्होंने कहा कि इक़बाल की कल्पना तो केवल यही थी कि इन प्रान्तों को मिला कर एक राज्य बना दिया जाय, और वह अखिल-भारतीय संघ-शासन के अन्तर्गत हो। उसके विरुद्ध, यह लोग चाहते थे कि इन प्रान्तों को मिलाकर एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की जाए, देश के अन्य भागों से जिसका राजनैतिक सम्बन्ध केवल अन्तर्राष्ट्रीय ढंग का हो। यदि देश में संघ-शासन की स्थापना हुई तो उसमें हिन्दुओं की प्रधानता अनिवार्य है और मुसलमानों को ऐसे संघ में शामिल होना पड़ा तो उनकी हालत ग़ुलामों से भी बदतर होगी। यह विचार काफ़ी दिनों तक केवल कुछ ख़ब्ती-दिमाग़ों की उपज माने जाते रहे। गोलमेज़-परिषद् में शामिल होने वाले प्रमुख मुसल्मान प्रतिनिधियों से जब उसके सम्बन्ध में पूछा गया तो एक ने तो बताया कि वह 'कुछ लड़कों की योजना' है और दूसरे ने 'काल्पनिक और अव्यावहारिक' कह कर उसकी आलोचना की।

इस पैम्फ़लेट पर दस्तख़त करने वाले चार व्यक्तियों में से एक, रहमतअली,

ने अपने इस प्रचार को पूरे ज़ोर के साथ जारी रखा। जुलाई १९३५ में उन्होंने एक नया पैम्फ़लेट छापा, जिसमें उन्होंने अपनी पुरानी दलीलों को फिर से दोहराया, और इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया कि जबकि बर्मा हिन्दुस्तान से अलहदा किया जा सका तो पाकिस्तान के एक स्वतन्त्र राज्य बनाये जाने में क्या कठिनाई हो सकती है। १९४० में करांची में 'पाकिस्तान नेशनल मूवमेण्ट' के तत्त्वावधान में की गई एक सभा में उन्होंने एक बयान दिया जो 'इस्लाम की मिल्लत और भारतीयता का ख़तरा' के नाम से बाद में प्रकाशित किया गया। इस पैम्फ़लेट में उन्होंने बताया कि 'मिल्लत' के सामने जो सबसे बड़ा काम है, वह 'हिन्दुस्तान को तोड़ना और एशिया का पुनर्निर्माण' करना है। उन्होंने भारतीयता को इस्लाम के लिए घातक बताया। और लिखा कि 'मिल्लत' के बचाव के लिए यह ज़रूरी है कि वह हिन्दुस्तान से अपने सम्बन्ध तोड़ दे। उनका विश्वास था कि हिन्दुस्तान न तो कभी मुसल्मानों की मातृभूमि था, न कभी होगा। इस बीच, रहमतअली के आन्दोलन की सीमाएं उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों से बहुत आगे बढ़ चुकी थीं। वह एक मुस्लिम राज्य की नहीं, कई मुस्लिम राज्योंकी कल्पना करने लगे थे। उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों को मिलाकर पाकिस्तान बनाने की जो योजना थी, उस पर तो रहमतअली पूरा ज़ोर दे ही रहे थे, परन्तु उन्होंने अब इस बात का प्रचार करना आरम्भ किया कि बंगाल और आसाम मिलकर 'बंगे-इस्लाम' का रूप ले लें, और हैदराबाद की रियासत 'उसमानिस्तान' के रूप में एक स्वतन्त्र राज्य बन जाय, और ये तीनों स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य अपना एक संघ क़ायम कर लें।[1]

डाक्टर लतीफ़ की योजना

१९३८ई० में उस्मानिया यूनीवर्सिटी के एक भूतपूर्व अध्यापक, डॉक्टर लतीफ़, पाकिस्तान के विचार को सस्ती भावप्रवणता के क्षेत्र से निकाल कर विद्वत्तापूर्ण विचार-विनिमय के क्षेत्र में ले आये। १९३८ ई० में उन्होंने 'भारतवर्ष का सांस्कृतिक भविष्य' और 'भारतवर्ष के विभिन्न सांस्कृतिक प्रदेशों का एक संघ' नाम की दो विद्वत्तापूर्ण पुस्तिकाएं लिखीं। १९३९ ई० में उन्होंने 'भारतवर्ष में मुस्लिम समस्या' नाम की एक पुस्तक में अपने इन विचारों को बड़े विशद रूप

1—१७ मार्च १९४५ को लन्दन में एक भाषण में मुस्लिम लीग से अपने 'पाकिस्तान नेशनल मूवमेंट' का अंतर बताते हुए रहमतअली ने कहा, "मुस्लिम लीग दो पाकिस्तानी राज्य चाहती है, हम आठ चाहते हैं, लीग ३-३॥ करोड़ मुसल्मानों को हिन्दुस्तान के अन्तर्गत छोड़ देने के लिए तैयार है। हम उनके छः और राज्य बना लेना चाहते हैं। लीग हिन्दुस्तान को हिन्दू और मुसल्मान दोनों की सामान्य मातृभूमि मानती है। हम इस विचार से सहमत नहीं हैं।"

धिकार प्रांत में रखने में ही सर सिकंदर का विश्वास था।

सर सिकंदर हयात ख़ां की योजना बड़ी दोषपूर्ण थी। यह समझना कठिन है कि वह किस सिद्धांत के आधार पर देश को सात भागों में बांटना चाहते थे। उनकी योजना के पीछे न तो समस्या के सांस्कृतिक पक्ष का कोई गहरा अध्ययन था, न आर्थिक पक्ष की जानकारी। दक्षिण भारत को वह दो भागों में बांटना चाहते थे। मद्रास-प्रांत, ट्रावन्कोर, मद्रास की देशी रियासतें और कुर्ग को एक भाग में रखने का उनका प्रस्ताव था, और बम्बई प्रांत, हैदराबाद, पश्चिम की देशी रियासतें मिलकर एक दूसरे समूह का निर्माण करने वाली थीं। इस प्रकार बंटवारे में सांस्कृतिक समानता का तनिक भी ध्यान नहीं रखा गया है। एक ओर तो हम गुजराती और मलयालम भाषाओं का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को एक ही समूह में पाते हैं, और दूसरी ओर मराठी, तेलगू और कन्नड़ भाषा-भाषी विभिन्न समूहों में बांट दिये गए हैं। यह समझना भी बड़ा कठिन है कि मध्यप्रांत के देशी राज्यों का मध्यप्रांत से अलहदा किया जाना किस बड़े उद्देश्य की पूर्ति के लिए है। राजपूताना के देशी राज्यों को भी कई भागों में बांट देने का प्रस्ताव है। बीकानेर और जैसलमेर पंजाब वाले समूह में मिला दिये जायंगे। शेष रियासतें एक ऐसे अस्तव्यस्त समूह में शामिल होंगी जो करधनी के समान देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैला होगा, जिसमें ग्वालियर, मध्य-भारत के देशी राज्य, बिहार और उड़ीसा के देशी राज्य, और मध्यप्रांत और बिहार के सूबे होंगे। सर सिकंदर की योजना अस्पष्ट और कई दोषोंसे पूर्ण है, पर उसका महत्त्व इसमें है कि उसने पहिली बार हिंदुस्तान को कई भागों में बांट देने के विचार को क्रियात्मक राजनीति के क्षेत्र में ला खड़ा किया। सर सिकंदर की योजना किसी पंडित की अपने अध्ययन-कक्ष में तैयार की गई सैद्धांतिक योजना नहीं थी, एक राजनीतिज्ञ का गम्भीरता से पेश किया गया प्रस्ताव था।

मुस्लिम-लीग का निर्णय

यह है पाकिस्तान के विचार के विकसित और पल्लवित होने का एक संक्षिप्त इतिहास। इस अवसर पर मुस्लिम-लीग ने अचानक इस क्षेत्र में प्रवेश किया, और बड़े उत्साह के साथ इस विचार को अपना लिया। जब कि पाकिस्तान के सम्बन्ध में दुनियां भर की काल्पनिक योजनायें बनाई जारही थीं, मुस्लिम-लीग उनके सम्बन्ध में बिल्कुल तटस्थ थी। १६२८ में, अपने उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए लीग ने अपने एक प्रस्ताव में घोषित किया कि "भारतीय परि-स्थितियों में केवल एक ही ढंग की शासन-व्यवस्था उपयुक्त हो सकती है, और वह है संघ-शासन, जिसके अंतर्गत प्रांतों में पूर्ण स्वायत्त-शासन हो, व उस

शासन को वे सब अधिकार प्राप्त हों जो उसने स्पष्टतः केन्द्रीय शासन को सौंप न दिये हों।" इक़बाल की कल्पना का 'सच्चा संघ-शासन' भी यही था। जब १९३५ का एक्ट पास हुआ, जिसमें स्वायत्त-शासन के सिद्धांत के आधार पर प्रांतों का संगठन किये जाने व उनके एक केन्द्रीय-शासन से संबद्ध-संश्लिष्ट कर दिये जाने की योजना थी, तो लीग ने उसे, 'उसका जो भी उपयोग हो सके कर लेना चाहिए' की नीति को दृष्टि में रखते हुए, प्रयोग में लाना स्वीकार किया—यद्यपि उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि "उसमें बहुत सी ऐसी बातें भी हैं जो एतराज़ के क़ाबिल हैं, और जो शासन और व्यवस्था के सारे क्षेत्र पर वास्तविक नियंत्रण और मंत्रियों और धारासभा द्वारा सच्चे उत्तरदायित्व के निर्वाह को असम्भव बना सकती हैं।" १९३६ में चुनाव के अवसर पर, मुस्लिम-लीग ने अपने उद्देश्यों के सम्बंध में जो घोषणा की थी, उससे भी उसकी नीति पर प्रकाश पड़ता है। लीग ने अपने उन प्रतिनिधियों के सामने, जो धारा-सभा में जाकर काम करने वाले थे, दो उद्देश्य रखे थे—एक तो यह कि मौजूदा प्रांतीय शासन और प्रस्तावित केन्द्रीय शासन दोनों को हटाकर उनके स्थान पर 'प्रजातंत्रात्मक स्वराज्य' की स्थापना के लिए प्रयत्न किया जाय, और दूसरे, जहां तक वर्त्तमान धारा-सभाओं का सम्बंध है, "राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जनता के लाभ के लिए उनका अधिक से अधिक उपयोग किया जा सके।" इस प्रगतिशील घोषणापत्र में यह भी कहा गया है कि "जब तक सांप्रदायिक चुनाव हैं, मुस्लिम-लीग को अपनी अलग स्थिति तो रखना है ही, पर वह किसी भी ऐसे दल के साथ जिसके उद्देश्य और आदर्श लगभग वही हैं, जो लीग-पार्टी के, पूरे सहयोग की भावना में काम करेगी।" इस घोषणा-पत्र में हम कोई बात ऐसी नहीं पाते जिसे सांप्रदायिक, प्रतिक्रियावादी अथवा संकुचित कह सकें। प्रगतिशीलता उसमें कूट-कूट कर भरी है। वह हमें एक सोनहले भविष्य का विश्वास दिलाता है, जिसमें देश की समस्त प्रगतिशील शक्तियां मिल-जुल कर काम करेंगी। पं० नेहरू ने कांग्रेस की ओर से भी यही आश्वासन दिया—"कांग्रेस धारासभाओं में एक निश्चित कार्यक्रम और एक निश्चित नीति के साथ प्रवेश कर रही है। वह धारासभाओं में, बहुमत में हो या अल्पमत में, अपने इस कार्यक्रम और नीति को आगे बढ़ाने में दूसरे दलों के साथ बड़ी खुशी के साथ सहयोग करेगी।"

पर, सूर्यास्त के रङ्गीन बादलों की तरह, आशा और विश्वास की यह कल्पना अधिक दिनों नहीं टिक सकी। कांग्रेस के मंत्रिमण्डल बना लेने के बाद से ही सारा दृश्य बदल चला। मि० जिन्ना ने घोषणा की कि "कांग्रेसी शासन ने

लोगों को काफ़ी सप्रमाण दिखाई दिया, तो इसमें भी क्या आश्चर्य था ? कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के इस्तीफ़ा देने के बाद मुस्लिम-लीग का महत्त्व अचानक, और तेज़ी से, बढ़ चला था—यह अंग्रेज़ी सरकार की नई नीति का परिणाम था। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के इस्तीफ़ा दे देने से पहिले तो अंग्रेज़ी शासन को आश्चर्य और कुछ दुःख हुआ। कुछ दिनों तक उसे आशा रही कि कांग्रेस अपना रवैया बदल देगी। तब उन्होंने मुस्लिम-लीग और दूसरी सांप्रदायिक संस्थाओं की ओर सहयोग का हाथ बढ़ाया। सरकारी प्रचार की दिशा फ़ौरन बदल दी गई। कांग्रेस को बदनाम किया जाने लगा। यह कहा जाने लगा कि वह अल्प-संख्यक जातियों के विकास के मार्ग में बाधक है—यहां हम यह न भूलें कि जब तक कांग्रेस ने पद न छोड़े थे कभी किसी गवर्नर ने उस पर सांप्रदायिकता का दोष नहीं लगाया था और कांग्रेस के इस्तीफ़ा दे देने के बाद भी कई गवर्नरों ने कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के असांप्रदायिक होने का समर्थन किया था, परन्तु अब क्योंकि अंग्रेज़ी नीति में परिवर्त्तन हो चुका था, लीग अचानक भारतीय मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि बन गई थी !

पाकिस्तान का मनोविज्ञान

मि० जिन्ना के सामने यह एक अभूतपूर्व अवसर था, और उन्होंने उससे पूरा लाभ उठाया। वह अंग्रेज़ी शासन के दृष्टिकोण से अपना महत्त्व समझ गए थे, और उसे अधिक से अधिक बढ़ा लेने का कोई अवसर छोड़ना नहीं चाहते थे। लीग के लाहौर-अधिवेशन में उन्होंने कहा भी—"आप लोग यह न भूलें कि युद्ध की घोषणा के अवसर तक वायसराय गांधी, और केवल गांधी, की बात ही करते थे।" अब मि० जिन्ना का मौक़ा आया था ! उन्होंने अपने आपको अंग्रेज़ी नीति का साधन बन जाने दिया—क्योंकि इससे उनके अपने सांप्रदायिक स्वार्थों की पुष्टि होती थी। उन्होंने अब अंग्रेज़ी शासन पर ज़ोर डाला कि वह स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा कर दे कि वह किसी ऐसे विधान को स्वीकृत नहीं करेगा जिसके लिए मुस्लिम भारत की स्वीकृति पहिले से प्राप्त न कर ली गई हो। अंग्रेज़ी सरकार ने उनकी यह बात फ़ौरन मान ली। १९४० की अगस्त-घोषणा में यह बात अस्पष्ट रूप से मान ली गई कि विधान में किसी भी प्रकार का स्थायी; अथवा अस्थायी परिवर्तन, बिना मुस्लिम-लीग के समर्थन और स्वीकृति के नहीं किया जायगा। अंग्रेज़ी सरकार के लिए तो यह एक अच्छा अवसर था। विदेशों में जनमत तेज़ी से भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में होता जा रहा था—उसे इस भुलावे में रखा जा सकता था कि अंग्रेज़ यदि भारतवर्ष को स्वाधीनता नहीं दे रहे हैं तो

इसका कारण यही है कि भारतीय मुसलमान एक-राय से उसका विरोध कर रहे हैं। भारत-मंत्री एमेरी यह कहते हुए थकते न थे कि अंग्रेज़ी सरकार भारतीयों को शासनाधिकार सौंप देने के लिए बेचैन है, पर सवाल यह है कि उसे सौंपे किसके हाथों में। भारतीय राजनैतिक दलों में जहां एका हुआ, वह फ़ौरन भारतीयों के हाथ में शासन के सब अधिकार दे देंगे। जिन्ना साहिब के लिए मुस्लिम-लीग की ताक़त को बढ़ा लेने का यह बड़ा अच्छा मौक़ा था। अंग्रेज़ी सरकार और जिन्ना दोनों अपनी-अपनी स्थिति को मज़बूत बनाने की दृष्टि से एक मैत्री के सूत्र में बंध गए। यह समझौता कांग्रेस के ख़िलाफ़ था। उसके पीछे केवल कूटनीतिज्ञता थी, विश्वास अथवा सिद्धांतों की सामान्यता न थी। यह तो वैसा ही समझौता था जैसा कुछ महीनों पहिले नात्सी जर्मनी और सोवियट रूस में हुआ था। जर्मनी और रूस के समझौते के समान इस समझौते से भी अंग्रेज़ी सरकार और लीग दोनों की स्थिति अधिक दृढ़ हो सकी।

भारतीय राजनीति की इस पृष्ठभूमि पर पाकिस्तान के प्रस्ताव को रख कर ही हम उसके वास्तविक महत्त्व को समझ सकते हैं। हमें यह बात भूलना नहीं चाहिए कि पाकिस्तान का प्रस्ताव कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के पद-त्याग के चार महीने बाद—एक ऐसे समय जब अंग्रेज़ी सरकार को कांग्रेस के ख़िलाफ़ सभी राजनैतिक तत्त्वों को सशक्त बनाने की नीति स्वीकार करने पर विवश होना पड़ा था—हमारे सामने आया। यह कहना ठीक न होगा कि जिन्ना साहिब अंग्रेज़ी शासन के हाथ में कठपुतली का काम कर रहे थे—सच तो यह है कि वह अंग्रेज़ों की कमज़ोरी का पूरा लाभ उठाने में लगे हुए थे। वह जर्मनी के फ़्यूरर से भी अधिक तेज़ी के साथ अपने हाथों में शक्ति संग्रहीत कर रहे थे। ग़ैर-कांग्रेसी सूत्रों में उनकी धाक ऐसी थी जैसी किसी ज़माने में शायद मुग़ल-सम्राट की भी न रही हो। मंत्रिमण्डलों का निर्माण और पतन उनके इशारे पर निर्भर रहता था। पंजाब और बंगाल के मुस्लिम-प्रांत भक्ति, बल्कि भय से, जिन्ना साहब की आज्ञाओं का पालन कर रहे थे। वायसराय की रक्षा-समिति(Defence Council)से वह बड़े से बड़े मुसलमान नेताओं को अलहदा रखने में सफल हुए—और जिन्होंने आसानी से उनका कहना नहीं माना उन्हें लीग से निकाल बाहर करने की उन्होंने धमकी दी। मध्य-कालीन युद्धों में जिस प्रकार सिपाहियों के जोश को ताज़ा रखने के लिए मारू बाजे बजते रहते थे, वैसे भारतीय राजनीति की पृष्ठभूमि पर मुस्लिम-लीग व उसके प्रमुख नेताओं द्वारा पाकिस्तान की मांग बराबर दोहराई जाती रही—और कांग्रेस के ख़िलाफ़ लड़ाई अपने पूरे ज़ोर में चलती रही। अप्रैल १९४१ में लीग ने मद्रास अधिवेशन में अपनी

इस मांग को फिर से दोहराया, और लाहौर-प्रस्ताव के क्षेत्र को और भी विस्तीर्ण बना लिया।

मुस्लिम-लीग की शक्ति दिन ब दिन बढ़ती जा रही थी। दिसम्बर १९४१ में लीग की वर्किङ्ग-कमैटी ने अपने नागपुर-अधिवेशन में इस बात पर अपना 'गहरा असन्तोष और विरोध' प्रकट किया कि 'अंग्रेज़ी अख़बारों और राजनीतिज्ञों में कांग्रेस को संतुष्ट करने की नीति पर अधिकाधिक ज़ोर दिया जा रहा है,' और घोषित किया कि "यदि ८ अगस्त १९४० की नीति और गम्भीर घोषणा में अथवा मुसल्मानों के साथ किए गए वायदों में किसी प्रकार का अंतर पड़ा तो हिन्दुस्तान के मुसल्मान उसे अपने प्रति एक बड़े विश्वास-घात के रूप में देखेंगे, अथवा यदि नीति में कोई ऐसा परिवर्त्तन हुआ या कोई ऐसी नई घोषणा हुई जिससे पाकिस्तान की मांग पर बुरा असर पड़ा अथवा जिसके परिणाम-स्वरूप एक ऐसी केन्द्रीय-सरकार का संगठन हुआ जिसमें हिन्दुस्तान को एक इकाई माना गया और मुसल्मानों को अल्प-संख्या में डाल दिया गया, तो मुसल्मानों को इससे बड़ा क्षोभ पहुंचेगा और वे अपनी समस्त शक्ति लगाकर इसका ऐसा ज़ोरदार विरोध करेंगे जिसका प्रभाव, इस नाज़ुक स्थिति में देश के युद्ध-प्रयत्नों पर, बहुत बुरा पड़ना अवश्यम्भावी है......।" कांग्रेस भी अपनी धमकियों में कभी इतनी दूर तक न गई थी! इसके बाद, अंग्रेज़ी सरकार की ओर से, क्रिप्स प्रस्ताव के रूप में, जो नई वैधानिक योजना रखी गई उसमें देश को दो भागों में बांट देने की मुस्लिम-मांग का जितना अधिक समर्थन किया जा सकता था, मौजूद था।

अगस्त १९४२ में, नेताओं की गिरफ्तारी के बाद, देश भर में विद्रोह और विक्षोभ की जो आंधी उठी, मि० जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम-लीग उस समय भी अपनी नीति को अडिग रख सकी—राष्ट्रीयता का यह अभूतपूर्व उत्कर्ष मुस्लिम-लीग का स्पर्श न कर सका। किसी भी परिस्थिति में, और किसी भी नैतिक क़ीमत पर, अपनी पार्टी को सशक्त बनाने (real-politik) की जिस पश्चिमी नीति को मि० जिन्ना ने अपनाया था, क्रान्ति के उन सुलगते हुए दिनों में भी वह उसे छोड़ने के लिए तैयार न हुए। जिन्ना साहिब ने घोषणा की कि "कांग्रेस का निश्चय"—उनका इशारा अगस्त प्रस्ताव की ओर था—"न केवल अंग्रेज़ी सल्तनत के ख़िलाफ़ बग़ावत की घोषणा है, यह एक गृह-युद्ध की खुली चुनौती भी है, और यह आन्दोलन चलाया ही इसलिए गया है कि अंग्रेज़ी सरकार को कांग्रेस की मांग स्वीकार करने पर मजबूर कर दिया जाय, और हमारा विश्वास है कि कांग्रेस की मांग हमारी मांगों के प्रतिकूल

है।" उन्होंने भारतीय मुसल्मानों को आन्दोलन से अलहदा रहने की सलाह दी—यद्यपि उस आन्दोलन के पीछे भारत की संपूर्ण जनता के लिए शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा थी, साम्प्रदायिकता का उसमें अंश भी नहीं था; और मुस्लिम-हितों का उससे कोई विरोध नहीं होता था। मैं यह जानता हूं कि उन संक्रामक घड़ियों में देश में अनेकानेक मुसल्मान ऐसे थे जो क्रान्ति की उन ख़तरनाक लहरों से खिलवाड़ करने के लिए बेचैन थे जो देश को अपने प्रबल आघातों से हिला रही थीं। पर इसे मि० जिन्ना और मुस्लिम-लीग का उन पर प्रभाव ही मानिए कि उनके आदेश पर इनमें से अधिकांश ने अपने को उस समय की राजनैतिक घटनाओं से अलहदा रखा। पर, यह शक्ति और प्रभाव किन साधनों द्वारा, किन परिस्थियों में, मि० जिन्ना और उनकी लीग ने प्राप्त किया था, यह बहुत कम लोग जानते थे।

अगस्त १९४२ के बाद तो यह दशा हुई कि एक ओर तो सरकार का दमन-चक्र अपने पूरे वेग से राष्ट्रीयता पर प्रहार कर रहा था और उसके आघातों से कांग्रेस की मशीनरी टूटती जा रही थी, और दूसरी ओर मुस्लिम-लीग अपनी शक्ति बढ़ाने के एकाकी-प्रयत्न में दत्तचित्त थी। 'आन्दोलन' के प्रारम्भ होने के एक हफ्ते बाद ही लीग की वर्किंग-कमेटी ने अंग्रेज़ी-सरकार से मांग की कि वह मुसल्मानों को इस बात का आश्वासन दे कि उन्हें आत्म-निर्णय का पूरा अधिकार होगा, और यदि मुसल्मानों का बहुमत पाकिस्तान के पक्ष में हुआ तो वह उसे मान लेगी। मुस्लिम-लीग ने यह प्रस्ताव भी रखा कि वह दूसरे ऐसे दलों के साथ जो सहयोग के लिए तैयार हों, एक ऐसी अस्थायी सरकार बनाने के लिए भी तैयार है, जो देश की समस्त शक्तियों का उपयोग उसके बचाव, और युद्ध के सफल संचालन, के लिए कर सके—पर शर्त्त यह होगी कि मुसल्मानों की मांग पूरी कर दी जानी चाहिए। मुस्लिम-लीग की नीति में यह एक नया परिवर्त्तन था—अब वह कांग्रेस के राजनैतिक क्षेत्र से हट जाने से जो परिस्थिति पैदा होगई थी उसका पूरा लाभ उठाना चाहती थी। अब तक तो जिन्ना साहिब की दलील यह थी कि जब तक पाकिस्तान की मांग स्वीकार न कर ली जाए, विधान में, स्थायी अथवा अस्थायी, किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जाना चाहिए, पर, अब उन्होंने यह मांग पेश की कि समझौता हो या न हो, मुसल्मानों को शासन के अधिकारों से केवल इसलिए वंचित नहीं रखना चाहिए कि कांग्रेस जेल में है। मुस्लिम बहुमत वाले प्रांतों में तो मुस्लिम-लीग ने अपने मंत्रि-मण्डल बना ही लिए थे। सिंध में, ख़ान बहादुर अल्लाबख्श को बिना किसी कारण के हटा दिया गया, और मुस्लिम-

लीग का मंत्रिमण्डल क़ायम कर दिया गया। बंगाल में फ़ज़लुलहक़ से ज़बर्दस्ती त्याग-पत्र पर दस्तख़त कराए गए, और सर नज़ीमुद्दीन, जिन्ना और बंगाल गवर्नर के संयुक्त आशीर्वादों के साथ, प्रधान-मंत्री की गद्दी पर बैठे। जिन्ना साहिब ने पंजाब में भी यूनियनिस्ट-पार्टी के प्रभाव को कम करने, व सर सिकंदर हयातख़ां को लीग के अधिक कड़े अनुशासन में लाने, की चेष्टा की। सर सिकंदर मंजे हुए खिलाड़ी थे—परन्तु फिर भी पंजाब में मुस्लिम जनता पर अपने प्रभाव को मि० जिन्ना ने बहुत बढ़ा लिया। सर सिकंदर की असामयिक मृत्यु, और ख़िज़र हयात ख़ां तिवाना के नेतृत्व में एक नए मंत्रिमण्डल के निर्माण, से मि० जिन्ना को पंजाब में अपनी शक्ति बढ़ाने का फिर एक अवसर मिला। मि० जिन्ना इन दिनों शक्ति और प्रतिष्ठा के ऊंचे आकाश में थे, और उनकी शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती जारही थी, मुस्लिम-लीग की जड़ें गहरी और मज़बूत बनती जारहीं थीं—परन्तु, अंग्रेज़ अधिकारी इस स्थिति से अब कुछ चिन्तित हो चले थे। एडगर स्नो ने अपनी नई पुस्तक ('Glory & Bondage', 1945) में लिखा है कि अप्रैल १९४३ में जब वह अपने ६ महीने के रूस के प्रवास से लौटे, 'मुस्लिम लीग के मुग़ल-सम्राट क़ायदे आज़म' अपनी शक्ति के शिखर पर थे। वायसराय के एक अफ़सर ने उनसे कहा, "जिन्ना इस समय देश की सबसे अच्छी मख़मली घास पर बैठे हैं। सारा क्षेत्र उनके हाथ में है। गांधी को जितने ज़्यादा दिन जेल में रखा जायगा, जिन्ना की मौज है। लेकिन अब हम चिन्तित हो चले हैं। पाकिस्तान बर्फ़ की लुढ़कती हुई गेंद की तरह तेज़ी से बढ़ता जारहा है। वह समय शायद दूर नहीं है, जब उसे रोकना असम्भव होजाय।"

इन परिस्थितियों में यह स्वाभाविक ही था कि मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान के पीछे एक धार्मिक कट्टरता का वातावरण बन जाता। विभिन्न विचार-धाराओं के मानने वाले मुसल्मानों में से हर एक को उसमें अपने आदर्शों की पूर्त्ति होती दिखाई दी। मुस्लिम राजनीतिज्ञों को उसमें राजनैतिक सौदों का एक बड़ा अच्छा आधार मिल गया था। धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्तियों ने कल्पना की कि पाकिस्तान के रूप में पृथ्वी पर एक ऐसे स्वर्गीय राज्य की स्थापना होने जा रही है जहां इस्लाम-धर्म के उच्चतम आदर्श जीवन के दैनिक व्यवहार की चीज़ बन जायंगे। इन पंक्तियों के लेखक को उन दिनों अहमदिया-आंदोलन के एक प्रमुख नेता से बात करने का अवसर मिला, जो पाकिस्तान का समर्थन शुद्ध धार्मिक आधार पर कर रहे थे। मुस्लिम साम्यवादियों को उसमें एक साम्यवादी राज्य की झलक दिखाई दी। युवकों को संघर्ष के लिए एक राजनैतिक नारा

मिल गया था। जनता की आत्मा एक नए उत्साह से उद्वेलित हो उठी—उसने शक्ति का एक नया विस्तार, और भविष्य के सपनों का एक व्यापक आधार पा लिया था। ऐसे सनसनीख़ेज़ वातावरण में, जब विवेक सोया हुआ था और भावुकता अपने रङ्गीन पंखों को फैलाकर कल्पना के व्यापक आकाश में उड़ चली थी, पाकिस्तान के विचार ने मूर्त्त-रूप लिया। एक अनवरत प्रचार के द्वारा, जिसे एक विदेशी सरकार का समर्थन प्राप्त था, इस विचार ने विश्वास का रूप लिया, विश्वास ने धर्म का जामा पहिना, धर्म कट्टरता की शक्ल में परिवर्त्तित होगया। परिस्थितियों की कठोर वास्तविकता से भाग निकलने का यह एक आकर्षक मार्ग था, परन्तु भावनाओं के तूफ़ानी प्रवाह में उसके समर्थक यह न जान सके कि इस मार्ग का अन्त होता था विद्वेष, अविवेक और आत्महत्या की एक अंधेरी गुफ़ा में।

: ५ :

अंग्रेज़ी शासन और हमारी वैधानिक प्रगति

भारत और अंग्रेज़

भारत में अंग्रेज़ी शासन की स्थापना के सम्बन्ध में कई भ्रांतिपूर्ण धारणायें फैली हुई हैं। इनमें से एक यह भी है कि यह एक आकस्मिक और दैवी घटना थी। अंग्रेज़ों के सामने इस देश में अपने साम्राज्य का निर्माण कर लेने का कोई लक्ष्य नहीं था। यह सच है कि अंग्रेज़ केवल व्यापार के लिए ही आए थे, पर जब उन्होंने देखा कि हिंदुस्तान की राजनैतिक स्थिति से लाभ उठाया जा सकता है तो उन्होंने व्यापार को गौण और साम्राज्य-निर्माण को अपना प्रधान लक्ष्य बनाया; और अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति में अच्छे-बुरे कैसे भी साधनों को उठा न रखा। सशक्त ऐतिहासिक प्रवृत्तियां उनके इस काम के पीछे थीं, जिनमें इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति मुख्य थी। जब तक मुग़ल-साम्राज्य अपनी शक्ति के शिखर पर रहा, अंग्रेज़ व्यापारियों को अपने वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र के बाहर दृष्टि डालने का साहस न पड़ा, पर उसके पतन के बाद हमारी राजनैतिक स्थिति में जो अस्थायित्व आया उसका उन्होंने पूरा लाभ उठाया। अपने योरोपियन प्रतिद्वंदियों, पुर्तगीज़, डच, और विशेषकर फ्रांसीसियों, से निबटने में ही उन्हें काफ़ी समय लग गया। इस बीच मराठे दक्षिण में निज़ाम व उत्तर में राजपूतों को पीछे हटाकर उस समय के भारतीय राज्यों में सबसे प्रमुख स्थान ले चुके थे—और एक ओर सिखों व दूसरी ओर अवध और बंगाल के नवाबों पर आक्रमण कर रहे थे। इसी बीच जब मराठे उत्तरी भारत की राजनीति में अपने को खोए हुए थे, दूर-दक्षिण में हैदरअली ने एक शक्तिशाली राज्य की नींव डाली। १७६१ ई० से १७७२ ई० तक पेशवा माधवराव प्रथम के समय में—मराठे पानीपत की हार से उभरने की चेष्टा में लगे रहे—अंग्रेज़ों ने इसका उपयोग बंगाल में अपनी शक्ति की स्थापना में किया। मराठों और मैसूर के मतभेद का भी अंग्रेज़ों ने पूरा लाभ उठाया—और मराठों के साथ मिलकर मैसूर को समाप्त कर दिया। परन्तु, मैसूर के पतन के बाद मराठों ने देखा कि उन्होंने स्वयं ही अपने और अंग्रेज़ों के बीच की दीवार को ढहा दिया है, और तब उन्हें एक लम्बे समय तक अंग्रेज़ों के साथ जीवन और मरण के संग्राम में जूझे रहना पड़ा। प्रथम-मराठा-

युद्ध (१७७६-८२ ई०) का अन्त स्पष्ट मराठा विजय में हुआ। कुछ अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ तो यह भी सोचने लगे थे कि वे मराठों के साथ मिलकर हिंदुस्तान को दो टुकड़ों में बांट लें, पर तभी मराठा-साम्राज्य का पतन एक अभूतपूर्व तेज़ी से शुरू होगया, और १८१८ में उनकी शक्ति का बिल्कुल अन्त होगया। मराठा-साम्राज्य के पतन के बाद अंग्रेज़ी-साम्राज्य के विस्तार का मार्ग अधिक सुगम होगया।

हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी सल्तनत के फैल जाने के बारे में एक दूसरी ग़लत धारणा यह है कि उसे हिंदुस्तानियों की ओर से किसी बड़े मुक़ाबिले का सामना नहीं करना पड़ा। मैं यह मानता हूँ कि वह मुक़ाबिला संगठित नही था, उसके पीछे राष्ट्रीयता जैसी किसी प्रज्वलनशील विचार-धारा का बल भी नहीं था, पर हिंदुस्तानियों ने किसी भी जगह आसानी से घुटने टेक दिए हों, यह बात नहीं थी। भारतीयों की ओर से अंग्रेज़ साम्राज्य-वादियों को एक बड़े विरोध का सामना करना पड़ा इसका प्रमाण तो इसी तथ्य से मिल जाता है कि उन्हें अपने काम में—पलासी से सत्तावन के विद्रोह तक—एक शताब्दी से अधिक का समय लग गया। हर क़दम पर उन्हें एक कड़े मुक़ाबिले का सामना करना पड़ा। बंगाल में ही उन्हें काफ़ी समय लग गया, मराठों के साथ संघर्ष आधी शताब्दी के लगभग चला, और अन्त में सिखों को अपने आधिपत्य में लेते-लेते उन्हें बीस वर्ष के क़रीब लग गए। देश भर में उनका साम्राज्य स्थापित होते ही असंतोष की एक देश-व्यापी लहर सत्तावन के विद्रोह में रूप में उठी। भारतीय विरोध को सफलता क्यों नही मिली, और कैसे मुट्ठी भर अंग्रेज़ इतने बड़े देश पर अपना शासन स्थापित कर सके, ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर इतिहास के पृष्ठों में टटोलना होगा, इस स्थान पर उनका विश्लेषण अनुपयुक्त ही होगा।

अंग्रेज़ी-राज्य के भारत में स्थापित होने के सम्बन्ध में एक तीसरी बात जो बारबार दोहराई जाती है यह है कि अंग्रेज़ों के भारतीय राजनीति में प्रवेश करने के पहिले हमारा अपना शासन-तंत्र, और हमारी अपनी राज्य-व्यवस्था, बिल्कुल टूट चुके थे, देश भर में अशान्ति और अराजकता फैले हुए थे, और इस अशान्ति और अराजकता से अंग्रेज़ों ने आकर हमें मुक्त किया, और बड़ी उदारता से, हमारे लिए एक नये शासन-तंत्र की नींव डाली। इस सम्बन्ध में हमें यह बात हर्गिज़ नहीं भूलना चाहिये कि मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद देश में जो राजनैतिक टूट-फूट हुई थी उसके ध्वंसावशेषों पर एक नई राजनैतिक-व्यवस्था के निर्माण का कार्य भारतीय नेतृत्व में बहुत पहिले से प्रारम्भ हो चुका था। अठारहवीं शताब्दी भारतीय इतिहास का वैसा अंधकारमय युग नहीं है, जैसा

साधारणतः माना जाता है। वह सिराजुद्दौला, हैदरअली और टीपू, पेशवा माधवराव, महादजी सिन्धिया, नाना फड़नवीस, अहिल्याबाई होल्कर और कई अन्य प्रमुख सेनानायकों और राजनीतिज्ञों की शताब्दी है। इन भारतीय नेताओं ने, अंग्रेज़ों से बहुत पहिले, भारतीय एकता की दिशा में निर्माण-कार्य आरम्भ कर दिया था। यह सच है कि इनके सामने कार्य की रूप-रेखा बहुत स्पष्ट न थी, और इन लोगों के लक्ष्य प्रायः एक-दूसरे से टकरा भी जाते थे। पर अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना के पहिले ही मराठे अखिल-भारतीयता की भावना को एक काफ़ी विकसित रूप दे चुके थे। उनके अंग्रेज़ों से उलझे रहने के कारण हैदरअली को सशक्त होने का मौक़ा मिल गया। यदि अंग्रेज़ बीच में न आजाते तो मुझे पूरा विश्वास है कि मराठे टीपू की शक्ति का अन्त कर देते और वे निःसन्देह देश के एकमात्र शासक होते। मराठा राज्य के पतन के बाद जिस अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना इस देश में हुई न तो उसके शासन-तंत्र में ही कुछ नवीनता थी और न उसकी व्यवस्था पर पश्चिम की प्रगतिशील विचार धाराओं का कुछ प्रभाव था। वह तो तीसरे दर्जे के अंग्रेज़ी शासकों के हाथ में एक निम्नकोटि की तानाशाही थी। कोई भी हिंदुस्तानी शासन-व्यवस्था उससे कहीं अधिक प्रगतिशील होती।

एक बात और, और तब हम अपने वर्त्तमान वैधानिक विकास के सूत्रों को पकड़ सकेंगे। आम तौर से यह भी माना जाता है कि जब अंग्रेज़ों ने इस देश की राजनीति में दिलचस्पी लेना शुरू की वह सांस्कृतिक पतन के निम्न-स्तर तक जा पहुँचा था। भारतीय संस्कृति अपने जीवन की अन्तिम सिसकियां ले रही थी, या वह सप्राण और सतेज थी, इसका अन्दाज़ा तो इसीसे लगाया जा सकता है कि राजनैतिक क्षेत्र में पुनर्निर्माण के आरम्भ होने के बहुत पहिले ही सांस्कृतिक क्षेत्र में एक नवजीवन की चेतना का संचार होने लगा था। बंगाल में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना की अगली पीढ़ी में ही बंगाली तरुणों के अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य, कला और विज्ञान के संपर्क में आने की उत्सुकता के प्रमाण मिलते हैं। भारतीय नवयुग (Renascence) का सूत्रपात उन्हीं दिनों हुआ।[1] जब कई मिशनरियों व जन-सेवा की भावना से प्रेरित अन्य योरो-पियन सज्जनों ने कलकत्ता नगर में कई स्थानों पर, और श्रीरामपुर और आस-

१—देखिए इंडियन-हिस्ट्री-कांग्रेस के १९३८ के इलाहाबाद-अधिवेशन में पढ़ा गया मेरा प्रबन्ध : An Early Chapter in the History of Indian Renascence —*Proceedings of the Indian History Congress*, 1938.

पास के कई गांवों में अंग्रेज़ी स्कूल और छात्रावास खोले तो भारतीय विद्यार्थियों ने एक बहुत बड़ी संख्या में वहां आना शुरू कर दिया। १८०१ में कलकत्ते में लॉर्ड वेलेज़ली ने कंपनी के नौकरों के लिए फ़ोर्ट-विलियम कॉलेज की स्थापना की। यह कॉलेज शीघ्र ही पूर्व और पश्चिम की विद्वत्ता और संस्कृतियों के लिए एक संपर्क-स्थल बन गया, और इसी सम्मिलन और पारस्परिक प्रभाव की नींव पर आज की भारतीय सभ्यता का विशाल भवन खड़ा है। १८१८ ई० में, जब अंग्रेज़ भारत के सार्वभौम शासक बने भी नहीं थे, राजा राम मोहन राय ने लॉर्ड अम्हर्स्ट को अपना वह ऐतिहासिक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया था कि हिंदुस्तान में यदि शिक्षा का प्रसार करना हो तो वह पश्चिमी साहित्य और विज्ञान की शिक्षा होनी चाहिए। सच तो यह है कि हमारे देश में प्राचीन की अन्त्येष्टि के पहिले ही नवीन के निर्माण का शंखनाद उद्घोषित हो उठा था। कभी-कभी तो विनम्रता को ताक़ पर उठा कर रख देने और चीख़ उठने को जी चाहता है—है संसार का कोई दूसरा राष्ट्र जिसने अधःपतन के दलदल में धंसते हुए भी इतनी बड़ी जीवनी-शक्ति का परिचय दिया हो ?

इस आत्म-विश्वास की भावना के बल पर ही हमारी राष्ट्रीयता का विकास हुआ। पश्चिम के 'चैलेंज' का जवाब हमने सबसे पहिले धार्मिक क्षेत्र में दिया। राममोहनराय ने उपनिषदों, दयानन्द सरस्वती ने वेदों, और सर सैयद अहमद और अमीरअली आदि ने इस्लाम की प्राचीन महानता, को पुनर्जीवित करके हमारे मन में इस भावना को जन्म दिया कि हम धर्म के क्षेत्र में पश्चिम से किसी प्रकार कम नहीं हैं। भारतीय पुरातत्त्व में दिलचस्पी रखने वाले शोपनहॉवर, मोनियर विल्सन आदि कई योरोपियन लेखकों ने हमारे प्राचीन साहित्य की महानता में हमारे आत्म-विश्वास को जाग्रत किया। सामाजिक क्षेत्र में भी हम परिवर्त्तन और सुधार के लिये बेचैन हो उठे, और धर्म और समाज के सुधार के कई मिले-जुले आन्दोलन देश के कोने-कोने में उठ खड़े हुए। राजनैतिक दृष्टि से गुलाम होते हुए भी हम यह महसूस करने लगे कि हम एक ऐसी महान् सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं जिसके नीचे से नीचे स्तर तक पश्चिम आज भी नहीं पहुंच सका है, और तब हमारे मन में इस भावना का विकास हुआ कि यदि हम गुलामी के इस तौक़ को फेंक दें तो एक बार फिर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का नेतृत्व हमारे हाथ में आ सकता है। इस भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति हमें स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व में मिलती है। उन्होंने पश्चिम को लक्ष्य करके कहा, "पार्थिव क्षेत्र में तुमने हम पर विजय प्राप्त की है; हम आध्यात्मिक क्षेत्र में तुम

पर विजयी होंगे।" इस आत्म-विश्वास, और चुनौती के साथ, हमारे राष्ट्रीय-जागरण का प्रारम्भ होता है। इन्हीं दिनों इटली के राष्ट्र-निर्माता मैज़िनी का एक आध्यात्मिक राजनीति का संदेश भी हमारे हृदय के संवेदनशील तारों को झंकृत कर रहा था। भारतीय राष्ट्रीयता के पहिले युग में मैज़िनी का प्रभाव भी लगभग उतना ही पड़ा जितना बंकिमचन्द्र या गीता के नए अध्ययन का। विवेकानंद के शक्ति के संदेश ने जिन प्रसुप्त भावनाओं को जाग्रत किया था, और जिन्हें मैज़िनी ने देश-प्रेम का ज्वलन्त रूप दिया था, बंकिमचन्द्र के 'आनंदमठ' ने उनके संगठित होने में मार्ग प्रदर्शन किया। भारतीय संस्कृति की महानता में इस आत्म-विश्वास की जागृति के साथ ही साथ पश्चिम के प्रति एक महान् अवज्ञा का भाव भी हमारे मन में विकास पाने लगा। अमरीका से लौटने के बाद के विवेकानन्द के भाषणों में हम उसकी प्रतिध्वनि पाते हैं। १८८६ में अबीसीनिया द्वारा इटली पर विजय व १९०५ में रूस पर जापान की विजय ने इस भावना को पुष्ट किया। पहिले महायुद्ध के दिनों में, जब हिंदुस्तानियों ने पश्चिम के लोगों को साम्राज्य-लिप्सा और तुच्छ व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए कटते-मरते देखा, यह भावना अपनी चरम-सीमा तक जा पहुँची। गांधी के व्यक्तित्व में, आध्यात्मिक और राजनैतिक दोनों क्षेत्रों में, पश्चिम के प्रति विद्रोह की इस प्रवृत्ति को पूर्ण अभिव्यक्ति मिली।

वैधानिक प्रयोगों का आरम्भ

भारतीय राष्ट्रीयता की इस बढ़ती हुई शक्ति की पृष्ठभूमि पर ही हम उन वैधानिक प्रयोगों को ठीक से समझ सकेंगे जिन्हें हमारे अंग्रेज़ शासकों ने प्रजा-तन्त्र की स्थापना के नाम पर समय-समय पर हमारे देश में क्रियात्मक रूप दिया। भारतीय जनता में आत्म-विश्वास और नागरिक अधिकारों की चेतना के जाग्रत होते ही शासकों के सामने एक समस्या खड़ी होगई। साम्राज्यवाद का विषैला पौधा तो अज्ञान के अंधेरे में ही अच्छा फूलता-फलता है, पर, भाग्य की बात, हमारे देश में इस अज्ञान को दूर करने में स्वयं साम्राज्यवादी शासकों का ही हाथ रहा है। यह तो स्पष्ट ही है कि अंग्रेज़ी सरकार ने शिक्षा का प्रसार इस उद्देश्य से किया था कि उसे क्लर्कों की एक ऐसी सेना मिल सके जिसके सहारे वह शासन चला सके। अंग्रेज़ी शिक्षा के द्वारा भारतीय विद्यार्थी स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृभाव के पश्चिमी सिद्धांतों के संपर्क में आए। जिन लोगों ने अंग्रेज़ी पढ़ ली थी वे सभी तो सरकारी नौकरियों में खप नहीं सकते थे;न जिस क़िस्म की सरकारी नौकरियां उन दिनों मिल रही थीं उनसे उन सबकी आकांक्षा तृप्त हो सकती थी। इस प्रकार नवीन विचार-धाराओं, आकांक्षाओं और स्वप्नों को

लिए पढ़े-लिखे व्यक्तियों का एक नया दल इस देश में खड़ा होगया, जिसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती थी। परन्तु, इसे उत्साहित भी नहीं किया जा सकता था, क्योंकि उसका अर्थ होता ऐसी आकांक्षाओं को जन्म देना, जिनकी पूर्त्ति के लिए सरकार तैयार न थी। कुछ थोड़े से अंग्रेज़ तो दूर भविष्य में, जबकि हिन्दुस्तानियों के हाथ में शासन के अधिकार देना ज़रूरी हो जायगा, बिना किसी भय के देख सकते थे, परन्तु अधिकांश के मन में हिन्दुस्तानियों के प्रति विश्वास अथवा सौहार्द्र का तनिक भी भाव नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के बीच तक तो अंग्रेज़ों और हिन्दुस्तानियों का सामाजिक संपर्क प्रायः मिट चुका था।

परन्तु, १८५७ के विद्रोह के बाद, जो अधिकांश अंग्रेज़ों के लिए एक अप्रत्याशित घटना थी, यह ज़रूरी दिखाई देने लगा कि सरकार को जनमत के सम्पर्क में रहना चाहिए। '५७ की घटनाओं ने यह स्पष्ट बता दिया था कि ऐसे सम्पर्क का न होना कितना ख़तरनाक हो सकता है। १८६१ का एक्ट, जिसके कारण पहली बार धारासभाओं की स्थापना हुई, इस उद्देश्य से बनाया गया था कि सरकार को कुछ प्रमुख ग़ैर-सरकारी व्यक्तियों का सहयोग मिल जाय—जिससे एक ओर से सरकार भारतीय जनमत से अपना सीधा संपर्क रख सके और दूसरी ओर हिन्दुस्तानियों की शासन में अधिकार पाने की बढ़ती हुई आकांक्षा को एक सीमा तक तृप्त किया जा सके। १८६१ के एक्ट का उद्देश्य इससे अधिक नहीं था। उसे भारतीय प्रजातन्त्र की ओर पहला क़दम कहना ग़लत होगा। इस एक्ट के बनने के ३१ वर्ष बाद, कांग्रेस द्वारा इंग्लैंड व हिन्दुस्तान दोनों में सात साल तक किये गए अनवरत परिश्रम और प्रचार के बाद, एक दूसरा एक्ट बना जिसमें चुनाव के सिद्धान्त को अव्यक्त रूप से माना गया व धारासभाओं की सदस्य-संख्या और अधिकारों को थोड़ा-सा बढ़ा दिया गया, पर उस समय भी लॉर्ड डफ़रिन ने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि उक्त 'सुधारों' का मंशा हर्गिज़ यह नहीं था कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी ढंग की पार्लमेण्ट स्थापित कर दी जाय। इस घोषणा से शासन-विधान सम्बन्धी इन दोनों योजनाओं के उद्देश्य का स्पष्ट पता चल जाता है।

१६०५ के बायकॉट व स्वदेशी आन्दोलनों व सरकार द्वारा दमन-चक्र का आरम्भ होने के बाद से ही धीरे-धीरे देश भर में फैल जाने वाले क्रान्तिकारी आन्दोलनों के कारण भारत सरकार के सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई थी। इसका मुक़ाबिला भी उन्होंने अपने उसी वैधानिक अस्त्र से किया। शासन में सुधारों की घोषणा हुई—नये प्रान्तों में धारासभाएं बनीं; पुरानों में उनके

सदस्यों की वृद्धि हुई, सभी जगह धारासभाओं को अधिक अधिकार मिले। चुनाव के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से मान लिया गया। प्रान्तीय व केन्द्रीय कार्य-कारिणी सभाओं में हिन्दुस्तानियों को नियुक्त किया गया, पर, इस बार भी सरकार का स्पष्ट उद्देश्य यही था कि शासन में अधिकार का लालच देकर वह नम्र-दल के राजनीतिज्ञों को अपने साथ ले ले, और तब इस नैतिक बल का उपयोग राष्ट्रीय आन्दोलन की उग्र प्रवृत्तियों को कुचलने में करे। इस बार तो और भी स्पष्ट रूप से यह कह दिया गया कि हिन्दुस्तानी यह आशा न रखें कि अंग्रेज़ी सरकार उन्हें पार्लमेण्टी ढंग का शासन देना चाहती है; वह तो उसकी प्रकृति के अनुकूल वस्तु थी ही नहीं। अनुदार दल के वायसराय लॉर्ड मिन्टो ने तो यही कहा था कि इन (१६०६ के) सुधारों का उद्देश्य "भारतवर्ष में पश्चिमी ढंग के किसी प्रजातंत्रात्मक शासन की स्थापना नहीं है" परन्तु उदार-दल के भारत-मन्त्री मि० मॉर्ले ने एक क़दम और आगे बढ़ कर कहा—"यदि यह धारणा किसी भी अंश में ठीक निकली कि वर्त्तमान सुधार, व्यक्त अथवा अव्यक्त किसी भी रूप में पश्चिमी ढंग का शासन स्थापित करने में सहायक होंगे तो मैं उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना पसन्द न करूंगा।" ऐसी परिस्थिति में यदि १६०६ के 'सुधारों' की धारा-सभाओं ने वाद-विवाद के अखाड़ों का रूप ले लिया तो इसमें आश्चर्य क्यों हो ? इससे बड़े किसी उद्देश्य की उनसे अपेक्षा ही कब की गई थी ?

प्रजातंत्र की जड़ों पर आघात

परन्तु, अंग्रेज़ अधिकारियों ने प्रजातंत्र-शासन को हिन्दुस्तान के लिए अनुपयुक्त माना हो, केवल यही बात नहीं थी, उन्होंने जान-बूझ कर ऐसे साधनों का प्रयोग किया जिनसे प्रजातंत्र-शासन हमारे देश में कभी पनप ही न सके। प्रजातंत्र की स्थापना और विकास के लिए एक विशेष वातावरण की आवश्यकता होती है—एकता, मैत्री और सहानुभूति के वातावरण की। उसकी सफलता के लिए यह ज़रूरी है कि देश में रहने वाले विभिन्न समुदाय एकता की भावना से प्रेरित होते हों, और एक-दूसरे के साथ पूरी सहानुभूति और एक-दूसरे के दृष्टि-कोणों को समझने की पूरी क्षमता रखते हों—दूसरे शब्दों में, जाति और संप्रदाय की सीमा को पार कर राष्ट्रीय भावना सब में समान रूप से व्याप्त हो। हमारे देश में इस प्रकार की भावना जन्म ले चुकी थी, और विकास के पथ पर थी—१६०५-६ की देश-व्यापी राजनैतिक जाग्रति इसकी साक्षी थी। इस प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य भारतवर्ष में पूर्ण-प्रजातंत्र शासन की स्थापना ही था। परन्तु, अंग्रेज़ी सरकार ने अपनी नीति से राष्ट्रीयता के इस पनपते हुए पौधे को, प्रजातंत्र की

और बढ़ती हुई भारतीय जनमत की विचार-धारा को, बीच में ही काट डालना चाहा, और देश में ऐसा वातावरण बनाना चाहा जिसमें तानाशाही के अलावा किसी भी प्रकार की शासन-पद्धति का गुज़र नहीं हो सकता था।

अपने भारतीय शासन में अंग्रेज़ों ने बहुत पहले से भेद-भाव की नीति को बरतना शुरू कर दिया था। यों तो १८२१ में, 'एशियाटिक जर्नल' में हम एक लेखक को लिखते हुए पाते हैं, "भारतीयों में भेदभाव की सृष्टि हमारे शासन का मूल-मंत्र होना चाहिए।" इसी अंक में एक दूसरे सज्जन ने लिखा, "हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि (भाग्यवश) इस देश में धर्म और जातियों की जो विभिन्नता है उसे स्थायित्व प्रदान करें, न कि यह कि उसके मिटाने की चेष्टा करें।" १८५८ में लॉर्ड एलफिंस्टन को हम इस नीति का सरकारी रूप से समर्थन करते हुए पाते हैं। जहां तक हिंदुस्तान के दो बड़े समाजों का संबंध था उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः अन्त तक मुसल्मानों पर सरकार की कोपदृष्टि थी और हिंदू उसके कृपापात्र थे, पर हिंदुओं में ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय-आंदोलन ज़ोर पकड़ता गया, सरकार की नीति में परिवर्त्तन होता गया और अब उसने हिंदुओं के विरुद्ध मुसल्मानों का समर्थन प्राप्त करना चाहा। १९०४ के बंग-भंग के पीछे हिंदुओं और मुसल्मानों में भेद डाल देने की नीति स्पष्ट थी। अपनी 'India in Transition' नाम की पुस्तक में सर हैनरी कॉटन ने स्पष्टतः लिखा है—"इस योजना का उद्देश्य एकता और संगठन की भावनाओं को कुचल डालना था—उसके पीछे शासन-सुविधा संबंधी कोई कारण नहीं था। लॉर्ड कर्ज़न की स्पष्ट नीति यह थी कि राष्ट्र-प्रेम की उभरती हुई प्रवृत्ति को कुचल दिया जाय और राष्ट्रीयता की बढ़ी हुई शक्ति को कमज़ोर बना दिया जाय।" कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' ने लिखा—"योजना के पीछे वास्तविक उद्देश्य यह था कि पूर्वी बंगाल के मुसल्मानों की ताक़त को बढ़ाया जाय, जिससे हिंदुओं की तेज़ी से बढ़ती हुई ताक़त को पूरे ज़ोर के साथ रोका जा सके।"

१९०९ के 'सुधारों' के पीछे भी संप्रदाय को संप्रदाय के प्रति खड़ा कर देने की यही भावना काम कर रही थी, और स्पष्टतः इसी उद्देश्य से इन सुधारों के साथ सांप्रदायिक चुनाव की योजना को क्रियात्मक रूप दिया गया। हिज़-हाईनेस आगाखां के नेतृत्व में जो डेपुटेशन लॉर्ड मिंटो से शिमला में मिला था उसे मौ० मोहम्मदअली ने १९२३ में कांग्रेस के सभापति के पद से "एक आदेश के अनुसार किया गया काम" कहा था। भारत-सरकार के एक बड़े कर्मचारी ने लॉर्ड मिंटो द्वारा सांप्रदायिक चुनाव के सिद्धांत को मान लिए जाने के बाद के एक पत्र में लिखा—"आज एक बहुत बड़ी बात हुई है। राजनैतिक

दूरदर्शिता का एक ऐसा काम हुआ है जिसका प्रभाव हिंदुस्तान और उसके इतिहास पर एक लम्बे समय तक रहेगा। यह काम है ६ करोड़ २० लाख व्यक्तियों (मुसलमानों) को राजद्रोह की सफ़ों में शामिल होने से रोक लेना।" यहां हम यह बात भी न भूलें कि सांप्रदायिक चुनाव के सिद्धांत का देश-व्यापी विरोध होने पर भी सरकार उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुई। ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन के मन्त्री ने लिखा—"हमारी कमेटी इस निश्चय का विरोध करती है। यदि एक धार्मिक वर्ग के साथ पक्षपात किया गया तो दूसरे सब धर्मों के मानने वाले अपने-अपने लिए विशेष प्रतिनिधित्व की मांग करेंगे।" इस आलोचना में तनिक भी अतिशयोक्ति न थी—कई धार्मिक संप्रदायों ने अपने लिए अलहदा चुनाव की मांग उपस्थित कर भी दी थी। मद्रास के लैंड होल्डर्स एसोसिएशन ने लिखा—"इससे उन विषमताओं के बढ़ जाने का भय है जो धार्मिक क्षेत्र को छोड़कर हर जगह ख़त्म होती जा रही हैं, साथ ही यह जनता में एकता की उस भावना के उन्नति की एक आवश्यक शर्त है, जो,विकास पाने में बाधक होगा।" भारत-सरकार के १ अक्तूबर १६०८ के पत्र से भी स्पष्ट है कि वह जानती थी कि हिंदुओं में साधारणतः यह माना जाता था कि "इन प्रस्तावों में एक धर्म को दूसरे धर्म के ख़िलाफ़ खड़ा करने की कोशिश" है। बॉम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन की राय में, "सुधार के प्रस्तावों का मूल-सिद्धांत पढ़े-लिखे वर्ग के प्रभाव के विरुद्ध एक नई शक्ति को खड़ा कर देना था।" गुजरात सभा के विचार में इससे एक वर्ग के विरुद्ध दूसरे वर्ग के उठ खड़े होने, और भारतीय जनमत की शक्तियों के आपस में ही लड़ कर बिखर जाने और एक दूसरे को नष्ट कर देने का भय था।" परन्तु इस देशव्यापी विरोध के बावजूद भी भारत-सरकार ने सांप्रदायिक चुनाव के सिद्धांत को हमारे शासन-विधान का एक प्रमुख अंग बना ही दिया।

सांप्रदायिक चुनाव के भयंकर परिणामों से भारतीय राजनीति का प्रत्येक विद्यार्थी परिचित है, परन्तु एक लम्बे अर्से तक वह राष्ट्रीयता के अदम्य प्रवाह को रोक नहीं सका। हिंदू और मुसलमानों में भेद डालने की सरकारी नीति की प्रतिक्रिया के रूप में हिंदू और मुसल्मानों में राष्ट्रीयता के आधार पर एकता स्थापित करने की दिशा में संगठित प्रयत्न आरम्भ होगए। मालवीय जी के प्रयत्न से इलाहाबाद व अन्य स्थानों में हिंदू-मुस्लिम एकता को मज़बूत बनाने की दिशा में कई एकता-सम्मेलन हुए। अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियां भी भारतीय मुसल्मानों को अंग्रेज़ शासकों का विरोध करने के लिए प्रोत्साहित कर रही थीं। टर्की के प्रति इंग्लैंड की जो नीति थी वह भारतीय मुसल्मानों के असन्तोष व विक्षोभ को

बढ़ा रही थी। १९१२ के बाद से मुसलमानों में राष्ट्रीय चेतना का जो निर्बाध स्रोत प्रवाहित हुआ उसका ज़िक्र ऊपर आचुका है। मुस्लिम-लीग जैसी प्रतिक्रियावादी संस्था भी इस प्रभाव से अपने को अलहदा न रख सकी। १९१३ में उसने भारतवर्ष में स्व-शासन की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया। राष्ट्रीय विचार वाले असंख्य मध्यम-श्रेणी के मुसलमान लीग में शामिल होगए। इन प्रगतिशील तत्वों के लीग में आजाने से कांग्रेस व लीग के बीच का अन्तर बहुत कम हो गया। कई वर्षों तक प्रायः एक ही स्थान पर कांग्रेस व लीग के वार्षिक अधिवेशन होते रहे। १९१६ में दोनों के बीच एक वैधानिक समझौता भी होगया, जिससे कांग्रेस ने मुसलमानों के अलहदा चुनाव का विरोध न करने और लीग ने 'होम-रूल' के आंदोलन को अपना लेने का निश्चय कर लिया। खिलाफ़त के प्रश्न को लेकर मुसलमानों में अंग्रेज़ी शासन के विरोध की भावना और भी तीखी होती जारही थी। सभी सांप्रदायिक शक्तियां शासन के विरुद्ध एक निकट संगठन में बंधती जा रही थीं।

राष्ट्रीय आंदोलन का विस्तार एक दूसरी दिशा में भी हो रहा था। अबतक राष्ट्रीय आंदोलन मध्यम-वर्गके पढ़े-लिखे व्यक्तियों तक ही सीमित था; परन्तु अब उसमें नई औद्योगिक श्रेणियां भी शामिल होती जा रहीं थीं। भारतीय उद्योग-धंधों के विकास के साथ यह स्थिति अनिवार्य थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक सरकार ने भारतीय उद्योग-धन्धों को पनपने ही न दिया था, पर उसके बाद नये साम्राज्यों की स्थापना और अंग्रेज़ी साम्राज्य से उनकी प्रतिद्वंद्विता का लाभ उठाकर भारतीय उद्योग-धन्धे भी संगठित होने लगे थे। बम्बई में कपड़े व बंगाल में जूट की मिलें तेज़ी के साथ खड़ी होती जा रहीं थीं। इनके सहारे हमारे देश में भी पूंजीवादी वर्ग का निर्माण हो रहा था। इस वर्ग की सहानुभूति राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ होना स्वाभाविक थी। एक ओर जैसे मध्यम-श्रेणी के पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी डॉक्टरी, वकीली, पत्रकार कला आदि क्षेत्रों से अंग्रेज़ों को हटा कर इन धन्धों को स्वयं अपने हाथ में ले लेने के लिए उत्सुक थे, उसी प्रकार पूंजीपतियों के लिए भी यह स्वाभाविक था कि वह औद्योगिक क्षेत्र से अंग्रेज़ों का प्रभुत्व हटा कर स्वयं उनका स्थान ले लें। राष्ट्रीय असन्तोष का प्रमुख अस्त्र स्वदेशी का आन्दोलन था। इस आन्दोलन का प्रभाव भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास पर अच्छा पड़ रहा था। ऐसी दशा में हमारे नये पूंजीपतियों द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता का समर्थन होना स्वाभाविक ही था। इनके अलावा विद्यार्थी, व्यापारी, छोटे-मोटे दुकानदार, दफ्तरों के क्लर्क और निम्न मध्यम श्रेणी के अन्य व्यक्ति भी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगे थे। महायुद्ध ने बड़े से लेकर

छोटे तक सभी वर्गों को भारतीय शासन के खिलाफ़ संगठित कर दिया। युद्ध के परिणाम-स्वरूप भी पूंजीपतियों का धन व शक्ति दोनों बहुत बढ़ गए थे—इससे भी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का बल बढ़ा।[1] हिंदू और मुसल्मान, पूंजीपति और श्रमिक, किसान और व्यापारी, सभी वर्गों में सरकार के प्रति असंतोष और संगठन की प्रवृत्ति, बढ़ते जा रहे थे। वातावरण में कम्पन और गति, और आने वाले विस्फोट की गंध थी।

परिस्थितियों की चुनौती दिन-ब-दिन गम्भीर रूप लेती जा रही थी। उसे स्वीकार किये बिना चारा नहीं था, और एक सीमा तक संतुष्ट करते हुए दूसरी ओर से राष्ट्रीयता पर एक और भी बड़ा प्रहार करना अब ज़रूरी हो गया था। १६१६ के 'सुधारों' की यही पृष्ठभूमि थी। कहा यह गया कि युद्ध में हिंदुस्तान ने साम्राज्य की जो अमूल्य सेवाएं की हैं—उसकी सुरक्षा में दस लाख से अधिक व्यक्ति और लगभग ढाई अरब रुपया भेंट चढ़ा दिया है—उसके पुरस्कार में उसे ये अधिकार दिये जा रहे थे। परन्तु वैधानिक परिवर्तन का मुख्य कारण तो देश की राजनैतिक परिस्थिति ही हो सकती थी। २० अगस्त १६१७ को सम्राट की वह ऐतिहासिक घोषणा प्रकाशित की गई जिसमें कहा गया था कि "भारत में अंग्रेज़ी राज्य का अन्तिम लक्ष्य शासन के प्रत्येक विभाग में अधिक-से-अधिक हिंदुस्तानियों को शामिल करना व हिंदुस्तान में स्व-शासन की ऐसी क्रमबद्ध उन्नति, जिसके परिणाम-स्वरूप वह अंग्रेज़ी साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए पूर्ण उत्तरदायी शासन की ओर अग्रसर होसके, होगा।" भारत में अंग्रेज़ी राज्य के इतिहास में सचमुच यह एक नया दृष्टिकोण था। अब तक सभी दलों के प्रमुख अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ इस बात से इन्कार करते रहे थे कि वे हिंदुस्तान में ज़िम्मेदार हुकूमत के बनने में सहायक होना चाहते हैं। प्रतिनिधि संस्थाएं बन गई थीं, और उनके सदस्यों की संख्या व अधिकार भी धीरे-धीरे बढ़ाये जा रहे थे, पर अब उत्तरदायी शासन को ही हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य का सीधा लक्ष्य मान लिया गया था। यह एक बड़ा आकर्षक आदर्श था, पर

१—१६०६ में भारतीय मिलें राष्ट्रीय आवश्यकता का केवल ६ फ़ीसदी माल तैयार करती थीं, और ६४ फ़ीसदी विदेशों से, विशेष कर, इंग्लैंड से आता था। १६२१ में ४२ फ़ीसदी आवश्यकता देशी माल से पूरी होने लगी थी, और आयात २६ फ़ीसदी रह गया था। इसी प्रकार १६१३ में हिन्दुस्तान में केवल १३००० टन लोहा और फ़ौलाद तैयार किया जाता था, पर १६१८-१६ में यह संख्या १२३,८६० टन तक जा पहुंची थी। युद्ध के वर्षों में ही (१६१४-१८ तक) सूती कपड़े पहले से दुगुने व जूट व ऊन के कपड़े तिगुने बनने लगे थे।

जहां तक वस्तुस्थिति का प्रश्न था, यह स्पष्ट कर दिया गया था कि इस आदर्श की प्राप्ति "धीमी किश्तों" में होगी और "हर क़दम का समय और माप" अंग्रेज़ी शासन द्वारा निर्धारित किया जायगा।

उत्तरदायी शासन की पहली क़िश्त के रूप में हमें १६१६ का विधान मिला। प्रजातन्त्रीकरण के दिखावे के रूप में उसमें बहुत कुछ था। केन्द्रीय धारासभा के दोनों भागों में चुने हुए सदस्यों को बहुमत दे दिया गया था—और उन्हें शासन की आलोचना करने व उस पर प्रभाव डालने के अधिक साधन दे दिये गए थे। प्रांतीय धारा-सभाओं के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक बढ़ा दी गई थी—और उनमें भी चुने हुए सदस्यों को बहुमत दे दिया गया था। प्रांतीय कार्यकारिणी में भी परिवर्तन किये गए—उसका एक भाग, जिसके अन्तर्गत कुछ गौण-विभाग थे, चुने हुए मन्त्रियों को सौंपा गया। मत देने के अधिकार का विस्तार बढ़ा दिया गया। परन्तु जहां एक ओर अंग्रेज़ी सरकार हिंदुस्तान में प्रजातंत्र के नाम पर नई शासन-योजनाएं बना रही थी, दूसरी ओर वह स्वयं अपने हाथों देश के राजनैतिक जीवन से प्रजातन्त्र की जड़ों को ही उखाड़ फेंकने में व्यस्त थी। मौंटफ़ोर्ड कमेटी ने एक राय से सांप्रदायिक चुनाव को बुरा बताया था, पर स्वयं उसने न केवल इस बात की सलाह दी कि मुसल्मानों के लिए उसका क़ायम रखना ज़रूरी है, पर सिखों के लिए भी उसी ढंग के चुनाव की सिफ़ारिश की। १६१६ के एक्ट में न केवल मुसल्मानों के लिए ही सांप्रदायिक चुनाव क़ायम रहा, सिखों को भी अलहदा चुनाव के अधिकार दिये गए। मद्रास के अब्राह्मणों और मराठों और कुछ अन्य जातियों के अधिकारों को भी माना गया, दलित जातियों के प्रतिनिधित्व के लिए कुछ विशेष सदस्यों को नामज़द किया गया, संगठित उद्योगों को प्रतिनिधित्व दिया गया, और भारतीय ईसाइयों, ऐंग्लो-इण्डियन और योरोपियन जातियों को अलग चुनाव का अधिकार मिला। सांप्रदायिक चुनाव का सिद्धांत विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के लिए मान लिया गया। इस बीच मॉन्टेग्यू के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण नरम दल के नेता कांग्रेस से अलग होगए थे—और उन्होंने अपनी एक अलहदा संस्था, लिबरल फ़ैडरेशन, का निर्माण कर लिया था। अन्य प्रतिक्रियावादी शक्तियों को भी अपने साथ लेने के प्रयत्न में सरकार लगी हुई थी। वह देशी राजाओं के प्रति भी अपनी नीति बदल रही थी। उन्हें अब साधारण सामन्त की स्थिति से उठाकर सार्वभौम सत्ताधीशों की श्रेणी में लाया जा रहा था। १६२१ में 'नरेन्द्र मण्डल' का संगठन हुआ।

यह कहना सत्य नहीं है कि १६१६ की शासन-योजना को विकसित होने के

लिए उचित वातावरण नहीं मिला। उसका प्रारम्भ तो निस्संदेह एक अशुभ घड़ी में हुआ था, जब काले कानून, जलियानवाला बाग़ और गांधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन पर देश की दृष्टि जमी थी। परन्तु, यह नहीं कहा जा सकता कि देश ने उसे विकास का पूरा मौक़ा नहीं दिया। नरम दल के नेता शुरू से ही उसका समर्थन कर रहे थे। सप्रू वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य बने। चिन्तामणि ने युक्तप्रान्त में शिक्षा-मन्त्री का पद ग्रहण किया। सुरेन्द्रनाथ बंगाल में मन्त्री बने। कांग्रेस का उग्र दल भी, स्वराज्य पार्टी के रूप में, कौंसिलों में प्रविष्ट हो गया। कांग्रेस के विट्ठलभाई पटेल केन्द्रीय धारासभा के प्रथम चुने हुए अध्यक्ष बने। परन्तु नये सुधारों का खोखलापन जल्दी ही लोगों पर प्रगट हो गया—और नरम दल वाले भी अधिक दिनों तक उसे अपना सहयोग न दे सके। सप्रू और चिन्तामणि दोनों को इस्तीफ़ा देने पर बाध्य होना पड़ा। लोगों ने देखा कि १६१६ के सुधारों का एकमात्र परिणाम यह निकला कि गवर्नर की शक्ति पहले के मुक़ाबिले में कई गुना अधिक बढ़ गई। केन्द्रीय सरकार द्वारा जितने अधिकार प्रान्तीय सरकार को सौंपे गये वे सब उत्तरदायी मन्त्रियों के स्थान पर गवर्नर के हाथ में आ गए, और उत्तरदायी मन्त्रियों का स्थान वही रह गया जो किसी विभागीय अध्यक्ष का होता है—वे सर्वथा गवर्नर के अधीन थे और अपनी धारासभाओं के प्रति किसी प्रकार से उत्तरदायी नहीं रह गए थे। मद्रास के एक मन्त्री, सर के० वी० रेड्डी द्वारा एक कमीशन के सामने दी गई गवाही १६१६ के शासन-विधान पर अच्छा प्रकाश डालती है। उन्होंने कहा—"मैं राष्ट्रीय संपत्ति के विकास का मन्त्री हूं, पर जंगल मेरे अन्तर्गत नहीं हैं। मैं औद्योगिक विभाग का मन्त्री हूं, पर कल-कारखानों से मेरा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह गवर्नर के स्वतन्त्र अधिकार में है, और कल-कारखानों के बिना औद्योगिक विभाग की कल्पना करना कठिन है। मैं कृषि का मन्त्री हूं, पर आबपाशी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं......मैं औद्योगिक विभाग का मन्त्री हूं, पर उसमें भी बिजली के कारखाने से मेरा सम्बन्ध नहीं, वह तो सुरक्षित विभाग है। मज़दूर और मशीनरी के विषय भी सुरक्षित हैं।"

१६३५ की शासन-योजना

हमारे वैधानिक इतिहास में अगला महत्वपूर्ण प्रयोग १६३५ की शासन-योजना है। उसके निर्माण में जितना समय और श्रम लगा, संसार के किसी भी देश की शासन-योजना में उसका चौथाई भी शायद ही लगा हो। बरसों तक विचार-विनिमय, वाद-विवाद, कमेटी—कान्फ्रेंसें, गवाही और ह्वाइट पेपर का क्रम रहा। सायमन-कमीशन की नियुक्ति हुई। उसने हिन्दुस्तान भर में दौरा किया।

अपनी रिपोर्ट पेश की। वह उठाकर एक ओर रख दी गई। एक, दो, तीन गोलमेज़-परिषदें हुईं। संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की अनेकों मीटिंग हुईं, पार्लमेण्ट में महीनों बहस की गई, तब जाकर १९३५ का विधान बना। ऐसी दशा में यदि हम उसमें राजनीतिज्ञता की पराकाष्ठा की आशा करें तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। पर, शेवलंकर ने उसे "साम्राज्यवादी कूटनीतिज्ञता की पराकाष्ठा" कहा है—"एक ऐसी व्यापक और प्रतिभाशाली योजना जिसका उद्देश्य स्वतन्त्र भारत की कल्पना को ही समाप्त कर देना और जहां तक वैधानिक उपायों द्वारा हो सकता था, अंग्रेज़ी साम्राज्य को उन परिस्थितियों के बदल जाने पर भी जिनमें उसकी स्थापना हुई थी, क़ायम रखना था।" १९३५ का विधान देखने में बड़ा आकर्षक है, उसके द्वारा प्रान्तीय शासन, न्याय और रक्षा के विभागों समेत, ऐसे मन्त्रियों के हाथों में सौंप दिया गया था जो संयुक्त रूप से धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी थे। अंग्रेज़ी शासन के इतिहास में यह पहला अवसर था जब प्रान्तीय शासन में भी कुछ वास्तविक अधिकार जनता के मनोनीत व्यक्तियों के हाथ में दिये गए हों। भौगोलिक सीमाओं व जन-संख्या की दृष्टि से हमारे प्रान्त रूस के अतिरिक्त योरुप के अन्य बड़े देशों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। इतने बड़े प्रदेशों में प्रजातन्त्र शासन की स्थापना के महत्त्व को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार केन्द्रीय शासन में भी रक्षा और वैदेशिक विभाग को छोड़कर, शासन का प्रायः सारा शेष भाग एक उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के हाथों में दिये जाने का प्रस्ताव था। मत देने का अधिकार भी लगभग ४ करोड़ व्यक्तियों को, जिनकी संख्या १९१९ के विधान की तुलना में लगभग पांचगुनी थी, दे दिया गया था। परन्तु, एक ओर जहां शासन के एक बड़े अंश को उत्तरदायित्व-पूर्ण बनाने का आयोजन था, दूसरी ओर 'विशेष उत्तरदायित्वों' के नाम पर अंग्रेज़ी सरकार द्वारा नियुक्त गवर्नर-जनरल को इतने अधिकार दे दिये गए थे कि, सर बैरीडेल कीथ के शब्दों में, उससे उत्तरदायी शासन के ख़त्म हो जाने का ही डर था। इसी कारण तो सर सेम्युएल होर जैसा अनुदार राजनीतिज्ञ इंग्लैण्ड की साधारण-सभा को यह आश्वासन दिला सका कि १९३५ के विधान के अन्तर्गत उग्र दल के व्यक्तियों के केन्द्रीय शासन पर अधिकार पा जाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इंग्लैण्ड के अनुदार दल में भारत के प्रति सदा से जो अविश्वास रहा है, १९३५ के विधान में उसकी अधिक-से-अधिक अभिव्यक्ति हुई है। यों तो प्रत्येक वैधानिक परिवर्तन के अवसर पर उत्तरदायी शासन पर अधिक-से-अधिक प्रतिबंध लादने की चेष्टा की गई है, पर १९३५ के विधान में इन प्रतिबंधों का

हम एक अम्बार-सा पाते हैं, न्यूयॉर्क के आकाश चुम्बी प्रासादों के समान, एक के ऊपर एक। प्रांतीय शासन में भी गवर्नर के हाथ में बहुत बड़ी शक्ति दे दी गई है—वह अपने 'विशेष अधिकारों' के नाम पर शासन में जब चाहे तब हस्तक्षेप तो कर ही सकता है, बिना मन्त्रिमण्डल से पूछे, क़लम की हल्की-सी गति से, वैधानिक शासन को बिल्कुल समाप्त करके अपने हाथों में सारी शक्ति केन्द्रित कर लेने का तानाशाही अधिकार भी उसे प्राप्त है। केन्द्रीय शासन तो प्रजातन्त्र का मख़ौल है। प्रमुख विभागों में उत्तरदायी शासन के लिए कोई स्थान नहीं है, परन्तु जिन थोड़े से विभागों में उसका प्रवेश है उनमें भी गवर्नर जनरल द्वारा 'विशेष उत्तरदायित्व' के नाम पर हस्तक्षेप की पूरी सुविधा है। गवर्नर जनरल को यह भी अधिकार है कि वह देशी राजाओं और अल्पसंख्यक दलों के समुचित प्रतिनिधित्व के नाम पर मन्त्रिमण्डल की एकता को नष्ट कर सके। जिस धारासभा के प्रति यह मन्त्रिमण्डल उत्तरदायी माना जाता था स्वयं उसकी रचना कुछ अनोखे सिद्धान्तों के आधार पर की गई है। उसके दोनों भागों में एक तिहाई से अधिक देशी राजाओं द्वारा नियुक्त सदस्य होंगे, कौंसिल ऑफ़ स्टेट के ब्रिटिश भारत से आने वाले सदस्यों का चुनाव सीधे जनता द्वारा रखा गया है, यद्यपि उस चुनाव में भाग लेने का अधिकार बहुत अधिक धनी व्यक्तियों को ही दिया गया है। नीचे के चैंबर में जो सदस्य ब्रिटिश भारत के होंगे उन्हें चुनने का अधिकार साम्प्रदायिक चुनाव के आधार पर चुनी गई प्रान्तीय धारासभाओं के सदस्यों को होगा। चुनाव के इस अभूतपूर्व तरीक़े से चुने जाने के बाद भी केन्द्रीय धारासभा को बहुत कम अधिकार दिये गए हैं। रक्षा, विदेशी नीति, राष्ट्रीय क़र्जे का लेनदेन, सिक्के और विनिमय-दर, रेलवे—यह सब उसके अधिकार के बाहर हैं। केन्द्रीय बजट की ८० फ़ीसदी से अधिक रक़म के सम्बन्ध में उसे मत देने का अधिकार नहीं है। क़ानून बनाने अथवा शासन पर नियंत्रण आदि क्षेत्रों में वह गवर्नर जनरल के अधिकारों से बंधी हुई है। जहां तक व्यापार और अर्थनीति का सम्बन्ध है, वर्षों के परिश्रम से ऐसे प्रतिबंध विधान में पिरो दिये गए हैं कि भारतीयों के लिए उनका स्पर्श करना भी असम्भव होगा। दूसरी ओर, गवर्नर-जनरल के हाथ में सार्वभौम सत्ता दे दी गई है। उस पर जनता द्वारा चुनी गई धारासभाओं का कोई नियंत्रण नहीं है। वह न केवल धारासभाओं के प्रत्येक निर्णय को अस्वीकृत ही कर सकता है, बल्कि स्वयं अपने अधिकार से अस्थायी और स्थायी दोनों प्रकार के क़ानून बना सकता है। मंत्रियों से असहयोग की स्थिति में उसे सारे शासन-तंत्र को ख़त्म करने का पूरा अधिकार है। न तो गवर्नर जनरल और न प्रान्तीय गवर्नर ही

उस सलाह को मान लेने के लिए बाध्य हैं जो उन्हें जनता के प्रतिनिधि-मन्त्रियों द्वारा दी जाय।

वैधानिक प्रयोगों की विशेषताएं : एक विश्लेषण

हमारे देश में १८६१ के एक्ट से १९३५ के शासन-विधान, और १९४२ की क्रिप्स योजना और १९४५ के वेवल प्रस्तावों तक, प्रत्येक वैधानिक परिवर्त्तन के पीछे कुछ प्रमुख भावनाएं काम करती रहीं हैं। प्रत्येक वैधानिक प्रस्ताव एक विशेष परिस्थिति का सामना करने की दृष्टि से उठाया गया। १८६१ में शासन के जन-मत के सम्पर्क में रखने की ज़रूरत; १८९२ में कांग्रेस की दिन-ब-दिन बढ़ती हुई मांगों को कहीं-न-कहीं रोक देने की इच्छा; १९०९ में राष्ट्रीय आंदोलन में एक ओर तो सांप्रदायिक आधार पर भेद डाल देने और दूसरी ओर नरम और उग्र राजनीतिज्ञों को एक दूसरे से अलहदा कर देने की नीति; १९१९ में स्वराज्य की राष्ट्रीय मांग को कमज़ोर बना देने की इच्छा; और १९३५ में दिन-प्रति-दिन सशक्त बनते जाने वाले राष्ट्रीय आंदोलन का किसी रूप में मुक़ाबिला करना—इस प्रकार प्रत्येक वैधानिक परिवर्त्तन के पीछे देश की राजनीति का एक विशेष युग रहा है। १९४२ और '४५ के असफल प्रस्तावों के पीछे भी भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय दबाव का प्रभाव स्पष्ट था। प्रत्येक 'सुधार' के पीछे घटनाओं का एक लम्बा चक्र रहा है; परन्तु राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई शक्ति सदा ही उसका प्रमुख कारण रही है, इसलिए प्रत्येक 'सुधार' में हम राष्ट्रीयता की इस शक्ति के साथ समझौते की भावना तो पाते ही हैं, पर साथ ही, एक हाथ से कुछ थोड़े से अधिकार देते हुए, दूसरे से साम्राज्य की जड़ों को मज़बूत बनाने की चेष्टा भी हम पाते हैं। सच तो यह है कि ये वैधानिक 'सुधार' उस संघर्ष के पथ पर मील के पत्थरों के समान हैं जो पिछली आधी शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीयता और अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के बीच एक बढ़ते हुए वेग से चलता रहा है।

यद्यपि प्रत्येक वैधानिक प्रगति के साथ हमारे राजनैतिक अधिकारों का विस्तार हुआ है, पर वे अधिकार हमारी मांग और आशा की तुलना में सदा ही कम-से-कम रहे हैं। १८९२ की योजना कांग्रेस के सात वर्ष के अनवरत आन्दोलन का फल थी—किसी ने उसके सम्बंध में ठीक ही लिखा कि वह पहाड़ खोदकर चूहा निकालने जैसा प्रयत्न था। १९०९ के सुधारों से, स्वयं मोंटफ़ोर्ड कमेटी के शब्दों में, भारतीय आकांक्षाओं की तृप्ति न तो हुई और न हो ही सकती थी। १९१९ का द्वैध-शासन सर्वथा असफल रहा। १९३५ के संघ शासन की सराहना हिंदुस्तान में शायद ही किसी ने की हो। क्रिप्स-योजना, कांग्रेस, लीग,

महासभा, सिख कान्फ्रेंस, सभी ने अवज्ञा के साथ ठुकरा दी। वेवल प्रस्तावों का आरम्भ एक नाटकीय परिस्थिति में हुआ और अंत ग्रीक-ट्रैजिडी के समान। क्यों ऐसा होता रहा है? इसका तो केवल एक ही उत्तर हो सकता है, और वह यह कि इन योजनाओं के बनाने वालों की नीयत कभी साफ़ नहीं रही है। ऊपर से वे राष्ट्रीय मांगों को पूरा करने की इच्छा प्रदर्शित कर रहे हैं, पर उनका केन्द्रीय विचार सदा ही अपने हाथों में सत्ता को रोके रहना रहा है। उन्होंने परछाईं से लुभाना चाहा है, ठोस मौलिक वस्तु कभी नहीं दी है।

अपनी इस नीति को उन्होंने तरह-तरह के बहानों से छिपाना चाहा है। १९१९ तक तो बहाना था कि पार्लमेंटरी ढंग का प्रतिनिधिक व उत्तरदायी शासन हिंदुस्तान के लिए उपयुक्त नहीं है। परन्तु, पिछले महायुद्ध के दिनों में प्रजावाद और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धांतों ने जो ज़ोर पकड़ा उसके बहाव में यह बहाना टिक न सका, और अंग्रेज़ों ने उत्तरदायी शासन को भारत में अपनी नीति का अन्तिम लक्ष्य घोषित किया, परन्तु साथ ही वे इस बात का भी लगातार ऐलान करते रहते हैं कि अशिक्षा, साम्प्रदायिक मतभेद, राजनैतिक अपरिपक्वता, राष्ट्रीय मनोवृत्ति आदि-आदि ऐसे अनेक कारण हैं जो उत्तरदायी शासन के विकास में बाधक हैं। इसके अलावा अंग्रेज़ों का यह दावा भी लगातार बढ़ता गया है कि हिंदुस्तान के "सामाजिक व धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों की रक्षा" की ज़िम्मेदारी भी उन पर है। १९३७ के बाद से सांप्रदायिक मतभेदों के बहुत अधिक बढ़ जाने और उन्हें क़ायम रख सकने के अगम विश्वास के कारण, अब तो अंग्रेज़ सरकार ने इस आकर्षक सिद्धांत की सृष्टि भी करली है कि भारत के वैधानिक भाग्य-निर्णय का अधिकार भारतीयों को ही होना चाहिए। अंग्रेज़ी सरकार तो किसी भी ऐसी वैधानिक योजना को मान लेगी जिसे हिंदुस्तान के सब वर्गों और जातियों और प्रमुख राजनैतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो। इस सम्बंध में वह आश्वस्त है ही कि यह एक ऐसी शर्त है जिसको पूरा न होने देना स्वयं उसके हाथ में है। क्रिप्स और वेवल प्रस्तावों की असफलता से इस कथन का औचित्य स्पष्ट होजाता है।

इन सब वैधानिक 'सुधारों' का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में एक सम्प्रदाय के ख़िलाफ़ दूसरा सम्प्रदाय, एक जाति के ख़िलाफ़ दूसरी जाति और एक दल के विरुद्ध दूसरा दल, खड़ा होता गया और भारतीय समाज अनेकानेक टुकड़ों में बंटता गया। यह एक ऐसी प्रवृत्ति थी जो प्रजावाद के बिल्कुल विरुद्ध जाती है। प्रजावाद का अर्थ जहां देश में एकता की स्थापना करना है, प्रजावाद के नाम पर हमारे शासकों द्वारा जो वैधानिक योजनाएं बनाई जा रही थीं, उनका

स्पष्ट उद्देश्य प्रजावाद की जड़ों को ही उखाड़ फेंकना था। १६०६ और १६१६ के विधानों ने मुसल्मानों को हिंदुओं से, और नरम विचारों के राजनीतिज्ञों को उग्र विचार वालों से, अलहदा करने की दिशा में बहुत सफलता प्राप्त की। १६२५ में बर्कनहैड ने लॉर्ड रीडिंग को स्वराज्य-पार्टी में फूट डलवाने के लिए प्रयत्न करने की सलाह दी, और १६२८ में इन्हीं सज्जन ने इन्हीं वायसराय को लिखा कि वह सायमन कमीशन के विरोध में जो शक्तियां एकत्रित हो गई थीं, उनमें मतभेद डालने की चेष्टा करें।[1] गोलमेज़ परिषदों का भी यही उद्देश्य था। "उसमें मुसल्मानों को हिंदुओं के ख़िलाफ़, सिखों को मुसल्मानों के ख़िलाफ़, किसानों को ज़मींदारों के ख़िलाफ़, और देशी नरेशोंको अपनी प्रजा के ख़िलाफ़ — उभाड़ा गया था।"[2] मैक्डोनल्ड-निर्णय ने दलित जातियों को हिंदुओं के ख़िलाफ़ खड़ा करने की कोशिश की। गांधी जी के उपवास और पूना पैक्ट के बन जाने से इसमें तो उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली। परन्तु, अपनी एक-दूसरी चाल में वह सफल हो गए। वह मुस्लिम प्रांतों को हिंदू प्रांतों के ख़िलाफ़ खड़ा कर देने की योजना थी। पंजाब और बंगाल में मुसल्मानों को विशेष अधिकार देकर उन्हें मुस्लिम बहुमत वाले प्रांतों में परिणत कर दिया गया। सीमाप्रांत में भी धारा-सभाओं की स्थापना करके मुस्लिम प्रांतों में दो की वृद्धि की गई। अब मुस्लिम प्रांतों को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा किया जा सकता था। उधर, १६३५ की योजना ने देशी नरेशों को राष्ट्रीयता के विरुद्ध संगठित कर ही दिया था। कौंसिल ऑफ स्टेट में २६० में से १०४ और फ़ैडरल एसेम्बली में ३७५ में से १२५ सदस्य नियुक्त करने का अधिकार देशी राजाओं को दे दिया गया था। इन सदस्यों का सरकारी इशारे पर नाचना और प्रगति के रास्ते में एक बड़ी बाधा के रूप में खड़े होना एक निश्चिन्त बात थी।

यह है हमारी वैधानिक प्रगति का एक संक्षिप्त खाका, और उसकी विशेषताओं का एक सूक्ष्म विश्लेषण। अंग्रेज़ लेखक प्रायः इस बात का दावा करते हैं कि हमारे देश की वैधानिक प्रगति अंग्रेज़ी साम्राज्य के अन्य अंगों, कैनेडा, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि की तुलना में दुगुने वेग से हुई है। इस कथन में तात्त्विक दृष्टि से चाहे कितनी ही सच्चाई हो, इससे अधिक कठोर और ज्वलंत सत्य यह है कि प्रजातन्त्र की दिशा में हमें ले जाने का दावा करने वाले इन 'सुधारों' की आड़ में लगातार हमारे देश में एक ऐसा वातावरण

१—के० बी० कृष्णा: The Problem of Minorities, पृ० सं० २०७-८

२—शार्दूलसिंह कवीशर: Non-Violent Non-co-operation, पृ० सं० ३११।

खड़ा कर देने की घृणित चेष्टा चलती रही है जिसमें प्रजातन्त्र का विकास सर्वथा असम्भव हो जाय। मत देने का अधिकार पढ़े-लिखे लोगों में से लगभग २५ फ़ीसदी को मिल गया है, और प्रान्तीय शासन में बहुत काफ़ी अधिकार मिल गए हैं। परन्तु प्रजातन्त्र की भावना को जो चीज़ें दृढ़ बनाती हैं उनकी ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया गया है। शिक्षा और समाज सुधार के क्षेत्र में विकास सर्वथा असंतोषजनक रहा है। हमारी सरकार ने शिक्षा में कभी दिलचस्पी नहीं ली, और समाज-सुधार उसके बाहर की बात रही है। पिछले १५० वर्ष के अंग्रेज़ी शासन में १० फ़ीसदी जनता भी शिक्षित नहीं बन पाई है। शिक्षा का कहीं अधिक प्रचार तो अंग्रेजी शासन की स्थापना के पहले था। अंग्रेज़ी शासन में शिक्षा का विकास जिस गति से हुआ है उसे देखते हुए समस्त जनता के शिक्षित होने में कम से कम ६-७ सौ वर्ष लगेंगे। गति के इस धीमेपन से एक और भी ख़तरा है। राजनैतिक अधिकारों के साथ ही साथ यदि शिक्षा का प्रचार नहीं होता रहा तो स्वार्थी नेताओं के लिए अशिक्षित जनता की भावनाओं का उभाड़ना, और उसे स्वार्थ के लिए ग़लत दिशा में प्रवृत्त कर देना बड़ा आसान हो जाता है। जैसा लेनर्ड ने लिखा है—"जनता द्वारा शासन" एक ऐसा आदर्श है जो हमें इस सिद्धान्त के परे ले जाता है कि अल्पसंख्यक दलों की बात सुन ली जायगी और हर एक नागरिक को अपने विचारों को व्यक्त करने का अधिकार होगा। अधिकार, बिना उनका उपयोग करने की क्षमता के, अर्थहीन होते हैं।" यह क्षमता शिक्षा द्वारा ही आती है, परन्तु एक ऐसी शिक्षा के द्वारा जिसका जीवन से सीधा सम्बन्ध हो, और जो व्यक्ति में समाज-सेवा की ऐसी आकांक्षा सुलगा दे कि वह उसे चैन से बैठने न दे। जबतक समाज में विषमताएं हैं, व्यक्ति के लिए सामूहिक रूप से सोचना दुःसाध्य ही रहेगा। एक विदेशी सरकार कभी समाज-सुधार के काम को अपने हाथ में नहीं ले सकती। ऐसी दशा में यदि हमारी धारासभाएं, जो अंग्रेज़ी शासन के बोझ से दबी हुई हैं, अभी तक समाज-सुधार के क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकी हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? सच तो यह है—और यह एक कड़वा और तीखा सत्य है—कि हमारे देश की सरकार प्रगतिशील शक्तियों की तुलना में प्रतिक्रियावादी शक्तियों के सहारे पर अधिक निर्भर है। तभी तो वह क़ायम है।

हमारे देश में एक दल ऐसा है जो वस्तुस्थिति के इस विश्लेषण का आधार लेकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि हमारे देश में प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए उचित वातावरण नहीं है। वह यह मानने के लिए तैयार है कि इसका उत्तर-

दायित्व हमारी राष्ट्रीय मनोवृत्ति नहीं, विदेशी सरकार के अनवरत प्रयत्नों और अपरिवर्तनशील नीति पर है, पर वह यह भी मानता है कि कारण चाहे कुछ भी क्यों न रहे हों, वस्तुस्थिति आज ऐसी है कि हम प्रजातन्त्र शासन के योग्य अब रह नहीं गए हैं। मैं इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हूँ—न मैं अपने देश में पूर्ण प्रजातन्त्र शासन की सफलता के सम्बन्ध में अविश्वासी हूँ। मैं यह जानता हूँ कि हमारे देश में एक ओर यह प्रयत्न चलता रहा है, और चलता जा रहा है, कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए जिस वातावरण की आवश्यकता होती है वह न बन सके, परन्तु, दूसरी ओर,पिछले डेढ़ सौ वर्षों में, धीमे,पर निश्चय के साथ, एक उत्फुल्ल, सप्राण, प्रगतिशील नागरिक-जीवन का विकास होरहा है; जो हमें पूर्ण प्रजातन्त्र के लिए तैयार कर रहा है। इन वर्षों में हमारे देश में अभूतपूर्व प्रतिभा वाले महान् व्यक्तियों के नेतृत्व में सशक्त धार्मिक और सामाजिक और राजनैतिक आंदोलन, ज्वार की फेनिल लहरों के समान,एक तूफ़ानी वेग से आगे बढ़ते रहे हैं—जिन्होंने एक ओर हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में साहस, कष्ट सहन और शुद्धता के अमर स्रोतों को जन्म दिया है,और दूसरी ओर उन प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर लगातार आक्रमण किया है जिनका आधार लेकर अंग्रेज़ी साम्राज्य का ऊपर से भव्य दीखने वाला, पर भीतर से खोखला,भवन खड़ा है।

राष्ट्रीयता हमारे आज के समस्त व्यापक जीवन का मूल-मन्त्र है; वह देश के सर्वांगीण जीवन,धर्म और कला,साहित्य और संस्कृति, को अपने गरुड़ जैसे सशक्त और व्यापक पंखों के नीचे लिये है। धार्मिक प्रेरणा में, इस राष्ट्रीय जीवन का मूल आधार है। सामाजिक सुधार की विभिन्न प्रवृत्तियां उसके स्तम्भ हैं। ऐसी नींव और ऐसे स्तम्भों का आधार लेकर ही तो हमारी राष्ट्रीयता एक अपरिग्रही, सत्य और अहिंसात्मक राजनैतिक आंदोलन में फलीभूत हो सकी है। गांधी, जो भारतीय राष्ट्रीयता के सबसे बड़े प्रतीक हैं, राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रानाडे और गोखले के व्यक्तित्वों का ही विकास हैं—जैसे एक ही आत्मा जन्म-जन्मांतरों में विकास पाती चली जा रही हो—बोधिसत्वों की योनियों में होती हुई बुद्धत्व की पूर्णता तक। गांधी का हृदय समाज-सुधार की भावना से द्रवित है—हरिजनों की सेवा उन्हें प्रांतीय मन्त्रिमण्डलों के निर्माण से अधिक प्रिय है। उनके व्यक्तित्व की गहराई में हम और भी नीचे जायं तो उन्हें मूलतः एक धार्मिक व्यक्ति के रूप में पायंगे। गांधी, जिस राष्ट्रीयता के प्रतीक हैं, वह आज हमारे जीवन के सभी अंगों में व्याप्त होगई है। कला और साहित्य में हम उसी का स्पंदन पाते हैं। वह आज की भारतीय जनता को प्रेरित करने वाले विचारों में सब से प्रमुख है। वह भारतवर्ष के विभिन्न वर्गों और समुदायों में

समन्वय की भावना उत्पन्न कर सका है। राष्ट्रीयता की इस प्रबल विचार-धारा का ही यह फल है कि अली-बंधु वर्षों तक महात्मा गांधी के साथ काम करते रहे, और आज भी सीमा-प्रांत के गांधी, मौलाना आज़ाद और दूसरे नेता देश के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर हैं।

मैं यह जानता हूँ कि हमारा राष्ट्रीय आंदोलन निर्दोष नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि वह सदा ही समाज-सुधार की प्रवृत्ति के साथ अपने को संबद्ध नहीं रख सका है। कई बार उसने अपने को प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हाथ का खिलौना बन जाने दिया है। प्रगतिशील शक्तियों को इससे हानि पहुँची है। मध्ययुग की प्रेरणाओं से भी वह सर्वथा मुक्त नहीं है। सांप्रदायिक दृष्टिकोण भी कभी-कभी उसकी दृष्टि को धुंधला बना देता है, पर इन सब कमियों के होते हुए भी हमारी राष्ट्रीयता आज के विश्व की एक स्वस्थ और सशक्त विचार-धाराओं में से एक है। उसकी यह शक्ति लगातार बढ़ती जा रही है। देश के सभी वर्गों, हिंदू और मुसल्मान, ग़रीब और अमीर, किसान और मज़दूर, श्रमजीवी और पूंजीपति, का सहयोग उसे प्राप्त है, और इस सहयोग की व्यापकता और गहराई, और उस सहयोग के पीछे त्याग का भाव और कष्ट-सहन की क्षमता, दिन-प्रति-दिन बढ़ते जारहे हैं। साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन को मध्यकालीन प्रेरणाओं और सामाजिक विषमताओं से मुक्त कर देने का आंतरिक प्रयत्न भी अपने पूरे वेग पर है—हमारी राष्ट्रीयता दमन की लपटों में पड़कर कुन्दन की तरह निखरती रही है। ऐसी दशा में मैं निश्चय के साथ यह कह सकता हूँ कि अपनी सब कमियों के बावजूद भी, और उनसे अपना संघर्ष क़ायम रखते हुए आज भारतीय राष्ट्रीयता ने इतनी शक्ति और इतनी क्षमता अवश्य संग्रहीत करली है कि यदि देश के शासन का उत्तरदायित्व उसे सौंप दिया जाय तो वह पूर्ण प्रजातन्त्र के सिद्धांतों पर सफलता पूर्वक उसका संचालन कर सकेगी।

: ६ :

भारतीय राजनीति के प्रमुख तत्व

पिछले कुछ वर्षों से विभिन्न राजनैतिक क्षेत्रों में यह विश्वास फैलता जा रहा था कि देश की राजनैतिक परिस्थितियों को देखते हुए प्रजातंत्र शासन को ही हमारे राजनैतिक विकास का एकमात्र रास्ता मान लेना शायद ठीक न हो। हमारे वैधानिक विकास की निरर्थकता और वैधानिक प्रगति के साथ-साथ आपसी मतभेदों के लगातार बढ़ते जाने से इस धारणा को अधिक बल मिल गया है। बहुत कम व्यक्ति उन विरोधी शक्तियों से, जो हमारे वैधानिक विकास के पीछे काम करती रही हैं, परिचित थे, और बहुत कम लोगों ने यह सोचा कि यदि हम किसी प्रकार के प्रजातन्त्र शासन की स्थापना अपने देश में नहीं करना चाहते, और यदि प्रजावाद हमारे लिए हितकर नहीं है, तो तानाशाही अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई शासन-तन्त्र हमारी विभिन्न राजनैतिक समस्याओं को किस प्रकार एक सफल समाधान की दिशा में ले जा सकेगा। इसी बीच, वर्त्तमान महायुद्ध के आरम्भ होने के बाद से, और विशेषकर जब से हमारी राष्ट्रीयता की वास्तविक शक्ति का कुछ अन्दाज़ा हमारे साम्राज्यवादी शासक लगा सके, इंग्लैंड में एक संगठित आन्दोलन ही इस 'सिद्धान्त' को लेकर उठ खड़ा हुआ कि भारतवर्ष में प्रजातन्त्र की स्थापना करना उसकी प्राचीन संस्कृति, वर्त्तमान राजनीति और समस्त राष्ट्रीय मनोवृत्ति के विरुद्ध जाना है। इस सम्बन्ध में 'भारतवर्ष और प्रजातन्त्र' के लेखकद्वय सर जॉर्ज शूस्टर व गाई विंट, और 'भारतवर्ष की वैधानिक समस्या पर रिपोर्ट' के लेखक प्रो० सर रेजीनल्ड कूपलैंड का नाम सहज ही स्मरण हो आता है।

इस विचार-धारा को कूटनीति का जामा पहिनाने में हमारे भूतपूर्व 'भारत-मन्त्री मि० एमेरी ने तो कमाल ही हासिल कर लिया था। उन्होंने किस प्रकार उसे भारतवर्ष के वैधानिक विकास के मार्ग में एक स्थायी चट्टान के रूप में ला खड़ा किया, इसका कुछ अनुमान उनके असंख्य भाषणों में से एक अवतरण से किया जा सकेगा। १६. नवम्बर १६४१ को मैंचेस्टर में 'भारतीय वैधानिक समस्या' पर बोलते हुए मि० एमेरी ने कहा—"एक बात जो हम—और पहिले के अधिकांश भारतीय नेता भूल जाते हैं, वह यह है कि हमारे ढंग का शासन-विधान एक ऐसे संयुक्त-समन्वित समाज में ही सफल हो सकता है जहां राज-

नैतिक दल निश्चित सार्वजनिक समस्याओं को लेकर अपने मतभेदों को व्यक्त करते हों, और उन्हें केन्द्र मान कर देश का व्यापक जन-समाज अपनी धारणाओं को बनाता और बदलता रहता हो, परन्तु जीवन के मूल-सिद्धांतों अथवा मूल-विश्वासों के संबंध में कोई स्थायी वैषम्य न हो। दुर्भाग्यवश, ऐसी परिस्थितियां भारतवर्ष में, कम से कम आज के भारतवर्ष में, मौजूद नहीं हैं।"[1] इन प्रमुख लेखकों और कूटनीतिज्ञों के अतिरिक्त कुछ अन्य लेखक व अनुदार पत्रों के सम्वाददाता भी इसी आशय के विचारों का प्रचार करने में लगे हैं, और क्योंकि बड़ी आकर्षक और वैज्ञानिक भाषा में ये विचार पाठक के सामने आते हैं, इनका प्रभाव और भी भयंकर रूप में उसके मन पर पड़ता है।

प्रजातन्त्र शासन भारतवर्ष के लिए उपयुक्त नहीं है, इस विचार के फैलने में कुछ हमारी आंतरिक परिस्थिति, और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्र, से सहायता मिली। पिछले कुछ वर्षों, और विशेष कर १९३७ के बाद से, हमारी सांप्रदायिक समस्या ने एक गम्भीर रूप ले लिया है। कांग्रेस द्वारा पदग्रहण किए जाने के कुछ ही महीनों के बाद मि० जिन्ना ने, लीग के लखनऊ अधिवेशन में इस बात की घोषणा की कि मुसल्मान कांग्रेस से न तो ईमानदारी की आशा कर सकते थे और न भलमनसाहत की। मुस्लिम-लीग की शक्ति, और विरोध, लगातार बढ़ते जा रहे थे। कांग्रेस के शासन के पहिले ६ महीनों में लीग की १७० नई शाखाएं खुल चुकी थीं, जिनमें ९० संयुक्त प्रांत में व ४० पंजाब में थीं, और केवल संयुक्त-प्रांत में ही एक लाख से अधिक सदस्य बन चुके थे।[2] कांग्रेस के पदत्याग करने पर लीग ने देश भर में एक 'मुक्ति-दिवस' मनाने का आयोजन किया, और उसके कुछ ही महीने बाद उसने देश के बंटवारे की मांग सामने रखी। ऐसी परिस्थिति में उन लोगों के लिए जो हिंदू-मुस्लिम संबंधों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित न थे, यह धारणा बना लेना कि हमारे यहां प्रजातन्त्र के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं है, सहज-स्वाभाविक था। उधर, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी प्रजातन्त्र के प्राचीर और दुर्ग एक-एक करके ढह रहे थे। दो महायुद्धों के बीच प्रजातन्त्र के जिस विरोध ने जर्मनी में एक सशक्त क्रियात्मक रूप ले लिया था, सितम्बर १९३९ में उसका प्रताड़न-चक्र अपने पूरे वेग में चल पड़ा था। पोलैण्ड, नॉर्वे, डेनमार्क, बेल्जियम, हॉलैण्ड, योरुप के छोटे-छोटे देश जिन्होंने प्रजातन्त्र की थाती को अपने प्राणों से सिमटा कर पोषित किया था, तानाशाही के थपेड़ों में चकनाचूर होते जारहे थे। फ्रांस का

१–एल० एस० एमेरी : India and Freedom, पृ० ४७।

२–प्रो० कूपलैंड : Indian Politics, 1936-42, पृ० १८३।

गौरवशाली साम्राज्य दो हफ्तों में धूल चाटने लगा था। इंग्लैण्ड पर विनाश के बादल मंडरा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में प्रजातन्त्र में लोगों का विश्वास यदि डिग उठा था तो उसमें आश्चर्य ही क्या था? महायुद्ध की प्राथमिक घटनाओं से प्रत्येक देश में प्रजातन्त्र की श्रेष्ठता में जनता का जो विश्वास दृढ़तर होता जा रहा था, उसमें एक गहरी ठेस लगी। भारतीय परिस्थितियों का प्रभाव जैसे विदेशी चिन्तन की एक धारा-विशेष पर पड़ा वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव भारतीय विचार-धाराओं पर पड़ना भी अनिवार्य था।

हमारे राजनैतिक दल : कांग्रेस

सबसे प्रमुख दलील जो प्रायः इस धारणा का समर्थन करने के लिए दी जाती है कि प्रजातन्त्र भारतवर्ष के लिए अनुपयुक्त है, वह यह है कि हमारे राजनैतिक दल अपने संगठन व आदर्शों में पश्चिम के राजनैतिक दलों से बिल्कुल भिन्न हैं। इस सम्बंध में सबसे बड़ी आलोचना जिस दल की की जाती है वह है हमारे देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था—कांग्रेस। कांग्रेस के सम्बंध में प्रायः यह कहा जाता है कि वह विभिन्न समूहों व समुदायों का संग्रह-मात्र है। उसके सामने कोई निश्चित आर्थिक अथवा राजनैतिक आदर्श नहीं हैं। 'भारतवर्ष और प्रजातंत्र' के लेखक-द्वय शूस्टर और विंट के शब्दों में, उसमें "करोड़पति और मज़दूर, ज़मींदार और किसान, संत और ठग, शिक्षक और अशिक्षित, गंवार और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशारद, उदार विचारों वाले, क्रांतिकारी, समाजवादी, सन्यासी, कट्टर मुसल्मान और रूढ़िवादी हिंदू" सभी शामिल हैं, और "अंग्रेज़ी शासन के प्रति घृणा ही इन सब परस्पर-विरोधी तत्त्वों को एक दूसरे के साथ संयोजित किए हुए है।"[1]

इन लेखकों के मतानुसार पार्लमेंटरी संस्थाओं में कांग्रेस का विश्वास दिखावा-मात्र है। जब तक पार्लमेंटरी संस्थाओं में उसका बहुमत सुरक्षित है, तभी तक कांग्रेस उनका समर्थन करेगी। यदि परिस्थितियां बदल गईं तो वह उन्हें ठुकरा देगी। इसके समर्थन में कहा जाता है कि अपने आंतरिक मामलों में कांग्रेस एक छोटे समूह के संपूर्ण नियंत्रण में है, जो उस पर स्वेच्छाचारिता से शासन करता है। इस संबंध में १६३६ की श्री० सुभाष बोस के चुनाव की घटना ही बार-बार दोहराई जाती है। यह भी कांग्रेस की फ़ासिस्ट मनोवृत्ति का ही परिचायक माना जाता है कि उसने अपने प्रांतीय शासन के दिनों में एक ओर तो देशी राज्यों में राजनैतिक असंतोष को उकसाया, और दूसरी ओर मुस्लिम जनता से सीधा संपर्क स्थापित करके मुस्लिम-लीग को ख़त्म करना चाहा। यह

१—शूस्टर और विंट : India and Democracy, पृ० १६६

नैतिक दल निश्चित सार्वजनिक समस्याओं को लेकर अपने मतभेदों को व्यक्त करते हों, और उन्हें केन्द्र मान कर देश का व्यापक जन-समाज अपनी धारणाओं को बनाता और बदलता रहता हो, परन्तु जीवन के मूल-सिद्धांतों अथवा मूल-विश्वासों के संबंध में कोई स्थायी वैषम्य न हो। दुर्भाग्यवश, ऐसी परिस्थितियां भारतवर्ष में, कम से कम आज के भारतवर्ष में, मौजूद नहीं हैं।"[1] इन प्रमुख लेखकों और कूटनीतिज्ञों के अतिरिक्त कुछ अन्य लेखक व अनुदार पत्रों के सम्वाददाता भी इसी आशय के विचारों का प्रचार करने में लगे हैं, और क्योंकि बड़ी आकर्षक और वैज्ञानिक भाषा में ये विचार पाठक के सामने आते हैं, इनका प्रभाव और भी भयंकर रूप में उसके मन पर पड़ता है।

प्रजातन्त्र शासन भारतवर्ष के लिए उपयुक्त नहीं है, इस विचार के फैलने में कुछ हमारी आंतरिक परिस्थिति, और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्र, से सहायता मिली। पिछले कुछ वर्षों, और विशेष कर १९३७ के बाद से, हमारी सांप्रदायिक समस्या ने एक गम्भीर रूप ले लिया है। कांग्रेस द्वारा पदग्रहण किए जाने के कुछ ही महीनों के बाद मि० जिन्ना ने, लीग के लखनऊ अधिवेशन में इस बात की घोषणा की कि मुसल्मान कांग्रेस से न तो ईमानदारी की आशा कर सकते थे और न भलमनसाहत की। मुस्लिम-लीग की शक्ति, और विरोध, लगातार बढ़ते जा रहे थे। कांग्रेस के शासन के पहिले ६ महीनों में लीग की १७० नई शाखाएं खुल चुकी थीं, जिनमें ९० संयुक्त प्रांत में व ४० पंजाब में थीं, और केवल संयुक्त-प्रांत में ही एक लाख से अधिक सदस्य बन चुके थे।[2] कांग्रेस के पदत्याग करने पर लीग ने देश भर में एक 'मुक्ति-दिवस' मनाने का आयोजन किया, और उसके कुछ ही महीने बाद उसने देश के बंटवारे की मांग सामने रखी। ऐसी परिस्थिति में उन लोगों के लिए जो हिंदू-मुस्लिम संबंधों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित न थे, यह धारणा बना लेना कि हमारे यहां प्रजातन्त्र के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं है, सहज-स्वाभाविक था। उधर, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी प्रजातन्त्र के प्राचीर और दुर्ग एक-एक करके ढह रहे थे। दो महायुद्धों के बीच प्रजातन्त्र के जिस विरोध ने जर्मनी में एक सशक्त क्रियात्मक रूप ले लिया था, सितम्बर १९३९ में उसका प्रताड़न-चक्र अपने पूरे वेग में चल पड़ा था। पोलैण्ड, नॉर्वे, डेनमार्क, बेल्जियम, हॉलैण्ड, योरुप के छोटे-छोटे देश जिन्होंने प्रजातन्त्र की थाती को अपने प्राणों से सिमटा कर पोषित किया था, तानाशाही के थपेड़ों में चकनाचूर होते जारहे थे। फ्रांस का

१—एल० एस० एमेरी : India and Freedom, पृ० ४७।

२—प्रो० कूपलैंड : Indian Politics, 1936-42, पृ० १८३।

गौरवशाली साम्राज्य दो हफ्तों में धूल चाटने लगा था। इंग्लैण्ड पर विनाश के बादल मंडरा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में प्रजातन्त्र में लोगों का विश्वास यदि डिग उठा था तो उसमें आश्चर्य ही क्या था ? महायुद्ध की प्राथमिक घटनाओं से प्रत्येक देश में प्रजातन्त्र की श्रेष्ठता में जनता का जो विश्वास दृढ़तर होता जा रहा था, उसमें एक गहरी ठेस लगी। भारतीय परिस्थितियों का प्रभाव जैसे विदेशी चिन्तन की एक धारा-विशेष पर पड़ा वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव भारतीय विचार-धाराओं पर पड़ना भी अनिवार्य था।

हमारे राजनैतिक दल : कांग्रेस

सबसे प्रमुख दलील जो प्रायः इस धारणा का समर्थन करने के लिए दी जाती है कि प्रजातन्त्र भारतवर्ष के लिए अनुपयुक्त है, वह यह है कि हमारे राजनैतिक दल अपने संगठन व आदर्शों में पश्चिम के राजनैतिक दलों से बिल्कुल भिन्न हैं। इस सम्बंध में सबसे बड़ी आलोचना जिस दल की की जाती है वह है हमारे देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था—कांग्रेस। कांग्रेस के सम्बंध में प्रायः यह कहा जाता है कि वह विभिन्न समूहों व समुदायों का संग्रह-मात्र है। उसके सामने कोई निश्चित आर्थिक अथवा राजनैतिक आदर्श नहीं हैं। 'भारतवर्ष और प्रजातंत्र' के लेखक-द्वय शूस्टर और विंट के शब्दों में, उसमें "करोड़पति और मज़दूर, ज़मींदार और किसान, संत और ठग, शिक्षक और अशिक्षित, गंवार और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशारद, उदार विचारों वाले, क्रांतिकारी, समाजवादी, सन्यासी, कट्टर मुसल्मान और रूढ़िवादी हिंदू" सभी शामिल हैं, और "अंग्रेज़ी शासन के प्रति घृणा ही इन सब परस्पर-विरोधी तत्त्वों को एक दूसरे के साथ संयोजित किए हुए है।"[1]

इन लेखकों के मतानुसार पार्लमेंटरी संस्थाओं में कांग्रेस का विश्वास दिखावा-मात्र है। जब तक पार्लमेंटरी संस्थाओं में उसका बहुमत सुरक्षित है, तभी तक कांग्रेस उनका समर्थन करेगी। यदि परिस्थितियां बदल गईं तो वह उन्हें ठुकरा देगी। इसके समर्थन में कहा जाता है कि अपने आंतरिक मामलों में कांग्रेस एक छोटे समूह के संपूर्ण नियंत्रण में है, जो उस पर स्वेच्छाचारिता से शासन करता है। इस संबंध में १६३६ की श्री० सुभाष बोस के चुनाव की घटना ही बार-बार दोहराई जाती है। यह भी कांग्रेस की फ़ासिस्ट मनोवृत्ति का ही परिचायक माना जाता है कि उसने अपने प्रांतीय शासन के दिनों में एक ओर तो देशी राज्यों में राजनैतिक असंतोष को उकसाया, और दूसरी ओर मुस्लिम जनता से सीधा संपर्क स्थापित करके मुस्लिम-लीग को ख़त्म करना चाहा। यह

१—शूस्टर और विंट : India and Democracy, पृ० १६६

भी कहा जाता है कि पद-ग्रहण के दिनों में कांग्रेस-मंत्रिमण्डल अपने क्षेत्र के डिक्टेटर के प्रति अधिक उत्तरदायी थे, प्रांतीय धारासभा के प्रति कम। इन लोगों ने तो यह कहने में भी कसर नहीं रखी कि अपने शासन-काल में कांग्रेस एक ऐसे षड्यन्त्र में लगी हुई थी जिसका उद्देश्य राज्य को पार्टी के आधीन ले आना था। ये सब दलीलें कुछ इस ढंग से पेश की जाती हैं कि वे इस परिणाम पर जैसे अपने आप ही पहुंच रही हों कि जब तक कांग्रेस है हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र-शासन कभी सफल नहीं हो सकता।

कांग्रेस का विधान : एक दृष्टि में

सबसे पहिले कांग्रेस के विधान के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना ज़रूरी है। कांग्रेस के विधान का मूल-भूत सिद्धान्त 'प्रजातन्त्रात्मक केन्द्रीकरण' (Democratic Centralisation) कहा जा सकता है। स्थानीय सदस्य ज़िला-कमैटी का चुनाव करते हैं; ज़िला-कमैटियां प्रान्तीय कांग्रेस-कमैटी के सदस्यों को चुनती हैं; प्रान्तीय कांग्रेस-कमैटियां अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमैटी का निर्माण करती हैं। सभापति का चुनाव साधारण सदस्यों द्वारा होता है। प्रो० कूपलैण्ड ने कार्य-समिति की नियुक्ति के तरीक़े को कांग्रेस की अ-प्रजातन्त्रीय प्रवृत्ति का एक उदाहरण बताया है १९३६ तक कार्य-समिति अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमैटी द्वारा चुनी जाती थी। तब से उसे नियुक्त करने का भार सभापति पर है। इस परिवर्त्तन को हम किसी प्रकार भी अ-प्रजातन्त्रीय नहीं कह सकते। प्रायः सभी प्रजातन्त्र-देशों में मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति का अधिकार प्रधान को ही रहता है। अमरीका में प्रेज़ीडेंट अपने सब मन्त्रियों को नियुक्त करता है। इंग्लैंड में इस काम की ज़िम्मेदारी प्रधान-मन्त्री पर है। इस सम्बन्ध में हमारे यहां कुछ स्वस्थ परम्पराएं (Conventions) भी बन गई हैं। कार्य-समिति में देश के चुने हुए नेता रहते हैं, और साथ ही इस बात का ध्यान भी रखा जाता है कि सब प्रान्तों का समुचित प्रतिनिधित्व हो सके।

कांग्रेस और गांधीजी

एक दूसरा आक्षेप कांग्रेस में गांधीजी की अ-वैधानिक, अथवा विधान से ऊपर की, स्थिति के सम्बन्ध में किया जाता है। जैसा कि सब जानते हैं, गांधीजी कांग्रेस के चार-आना सदस्य भी नहीं हैं, कांग्रेस में वर्षों से उन्होंने कोई पद-ग्रहण नहीं किया, पर कांग्रेस शायद ही कभी उनके समर्थन के बिना किसी महत्त्व-पूर्ण निर्णय पर पहुंची हो। क्या यह कांग्रेस की तानाशाही प्रवृत्ति का एक अच्छा उदाहरण नहीं है? यदि हम वस्तुस्थिति का विश्लेषण करें तो हम देख सकेंगे कि कांग्रेस पर गांधीजी का प्रभाव किसी ऐसे शक्तिशाली दल के द्वारा नहीं

है जिसकी सृष्टि और जिसका सङ्गठन उन्होंने कांग्रेस के भीतर ही भीतर कर लिया हो। कांग्रेस पर उनके शासन का मुख्य कारण है भारतीय जनता के हृदयों पर उनका शासन—और यदि कांग्रेस उनकी सलाह को मान्यता देती है तो इसलिए कि वह उसमें जनता की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति पाती है। गांधी ने कांग्रेस को आरामतलब राजनीतिज्ञों की सभा से एक लड़ाकू संस्था के रूप में परिणत किया। गांधी ने हमारी प्रसुप्त जनता में राष्ट्रीयता की चेतना का प्रसार किया। गांधी ने ही हमें एक नई आशा और एक नया दृष्टिकोण दिया। कांग्रेस यदि एक ऐसे व्यक्ति की सलाह के अनुसार काम करती है तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये : वैसे तो ऐसे उदाहरण भी कम नहीं हैं जब कांग्रेस ने गांधी जी के आदेश पर चलने में अपने को असमर्थ पाया।

साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि कांग्रेस पर गांधी जी का प्रभाव दो प्रकार का है। साधारणतः तो वह कांग्रेस के कार्यों के संचालन से अपने को दूर ही रखते हैं। १९३४ में जब गांधी जी ने देखा कि उनका प्रभाव कांग्रेस में अन्य विचार-धाराओं के विकास में बाधक है उन्होंने कांग्रेस से इस्तीफ़ा दे दिया। १९४४ में जेल से छूटने के बाद कांग्रेस के कार्य-संचालन में वह उस समय तक मार्ग-निर्देश करते रहे जब तक कि राष्ट्रपति व कार्यसमिति के सदस्य जेल में थे। उनके बाहर आते ही गांधी जी ने राजनैतिक कार्यों से तटस्थता धारण करली। शिमला-कांफ्रेंस में भी वह एक तटस्थ की हैसियत से ही मौजूद थे। पर, विशेष मौकों पर, जब किसी राजनैतिक आन्दोलन का संचालन करना होता हैं, गांधी जी कांग्रेस की संपूर्ण-सत्ता अपने हाथ में ले लेते हैं। युद्ध में स्वभावतः ही प्रजातन्त्र का रूप बदल जाता है। सिपाहियों को तो सेनानायक के इशारे पर ही चलना पड़ता है। उसका शब्द ही उनके लिए क़ानून है। इस कारण कांग्रेस यदि आंदोलनों का संचालन गांधी जी के एकाकी नेतृत्व में सौंपकर अपने को उनके आदेशों के आधीन बना लेती है तो इसमें कोई ऐसी बात नहीं जो प्रजातन्त्र की भावना के विरुद्ध जाती हो।

शक्ति का केन्द्रीकरण

कांग्रेस पर जो दो अन्य बड़े आक्षेप लगाए जाते हैं, वह हैं—शक्ति का केन्द्रीकरण और सर्वहर प्रवृत्ति (totalitarianism)। पहिले आक्षेप का मुख्य आधार कांग्रेस के 'हाई कमाण्ड' द्वारा शासन के सब अधिकारों का अपने हाथ में केन्द्रित रखना है। कांग्रेस के आलोचकों को इस बात का दुःख है कि एक ऐसे समय जब कि संघ-शासन का प्रयोग इस देश में किया जारहा था, और प्रांतों को पहिली बार स्वायत्त-शासन प्राप्त हुआ था, कांग्रेस ने सब प्रांतों

की शासन-सत्ता एक पार्लमेंटरी सब-कमेटी के हाथ में केन्द्रित करके उसके समुचित विकास में बाधा डाली। इस सम्बन्ध में हम यह न भूलें कि पार्लमेण्टरी सब-कमेटी की नियुक्ति कुछ असाधारण परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए की गई थी। साधारणतः यह विश्वास किया जाता था—और अंग्रेज़ी शासन के पिछले इतिहास को देखते हुए यह विश्वास न किया जाता तो आश्चर्य होता—कि १९३५ की योजना का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता की भावना को भङ्ग करना और प्रांतीयता को प्रोत्साहन देना था। देश की आज़ादी के लिए सतत, प्रयत्नशील कांग्रेस जैसी संस्था के लिए इस प्रवृत्ति से संघर्ष करना ज़रूरी था। वह प्रांतीयता के विषैले प्रभाव को अबाधगति से कैसे बढ़ने दे सकती थी? साथ ही यह भय भी था कि प्रांतीय मंत्रि-मण्डलों को मुक्त, निर्बन्ध, रखा गया तो वे कहीं पार्लमेण्टरी शासन की गुत्थियों में एक बड़े आदर्श को अपनी दृष्टि से ओझल न कर बैठें।

यह कहा जा सकता है कि इस केन्द्रीकरण के मुख्य कारण चाहे कुछ भी क्यों न हों उसका प्रभाव यह पड़ा कि मन्त्रियों में धारा-सभाओं के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का, जो प्रजातन्त्र-शासन का मुख्य आधार है, समुचित विकास नहीं हो सका। मन्त्रिमण्डल अपने आपको धारा-सभाओं व उनके चुनने वाले मत-दाताओं के प्रति उतना उत्तरदायी नहीं मानते थे जितना कांग्रेस के 'हाई कमाण्ड' के प्रति। इससे प्रान्तीय शासन में एक परोक्ष और अ-वैधानिक सत्ता का प्राधान्य होगया। पर, इस सम्बन्ध में भी कांग्रेस के आलोचक यह भूल जाते हैं कि प्रांतीय व केन्द्रीय राजनीति पर इस प्रकार का 'राष्ट्रीय' नियन्त्रण प्रायः प्रत्येक देश में पाया जाता है। प्रांतीय क्षेत्रों में भी उम्मीदवार साधारणतः अखिल राष्ट्रीय राजनैतिक दलों द्वारा ही खड़े किये जाते हैं, और जो लोग उनके पक्ष में अपना मत देते हैं, वे प्रधानतः राजनैतिक दल को ही अपना मत देते हैं और केवल गौण-रूप से चुनाव में खड़े होने वाले व्यक्ति को। यह बात संसार के सभी प्रजातन्त्र-देशों में पाई जाती है। हमारे देश में तो इस प्रवृत्ति के विकास के लिए और भी गुंजाइश थी। यहां प्रांतों द्वारा शासन-अधिकार प्राप्त किये जाने से बहुत पहले ही अखिल-भारतीय राजनैतिक दल स्थापित होचुके थे। एक या दो शुद्ध प्रांतीय राजनैतिक दलों को छोड़कर हमारे सब राजनैतिक दलों का कार्यक्षेत्र देश-व्यापी है। कांग्रेस के सम्बन्ध में तो संसार के किसी भी राजनैतिक दल की तुलना में यह बात और भी अधिक सच है कि जनता ने किसी व्यक्ति को नहीं, पर कांग्रेस और उसके कार्यक्रम के लिए अपना मत दिया था। इस कारण कांग्रेस ही देश की समस्त प्रजा के प्रति ज़िम्मेदार थी। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल सीधे मतदाताओं के प्रति ज़िम्मेदार नहीं थे।

सर्वहर प्रवृत्ति (Totalitarianism)

कांग्रेस पर सर्वहर (totalitarianism) होने का जो आक्षेप लगाया जाता है, वह सचमुच बड़ा मनोरञ्जक है। इस सम्बन्ध में जो सबसे बड़ा प्रमाण दिया जाता है वह है कांग्रेसी प्रांतों और ग़ैर-कांग्रेसी प्रांतों में मन्त्रि-मण्डलों के निर्माण की नीति का अन्तर। कांग्रेस ने मिश्रित मन्त्रि-मण्डल बनाने से इन्कार कर दिया था, और क्योंकि कांग्रेस के बहुमत खो देने की सम्भावना नहीं थी, उसके मन्त्रिमन्डल स्थायी थे। दूसरी ओर, पंजाब को छोड़कर, सभी ग़ैर-कांग्रेसी प्रांतों में मिश्रित मन्त्रिमण्डल थे, और सत्ता का आधार रोज़-रोज़ बदलता रहता था। यह है कांग्रेस के सर्वहर होने का एक बहुत बड़ा प्रमाण! कूपलैण्ड की राय में ग़ैर-कांग्रेसी प्रांतों के शासन में (जहां मन्त्रिमण्डल प्रायः गवर्नर के हाथों में कठपुतली के समान नाचते थे) प्रजातन्त्र की भावना की अधिक रक्षा हो सकी। इस विचार के पीछे यह शरारत भरा सुझाव भी है कि कांग्रेस ने अल्प-संख्यक दलों के प्रति उपेक्षा की भावना रखी, जबकि दूसरे मन्त्रिमण्डलों ने अल्प-संख्यक दलों को अपने साथ लेकर उनके प्रति अपनी शुभेच्छा का प्रदर्शन किया।

कांग्रेस के सर्वहर होने के पक्ष में और भी बहुत से प्रमाण दिये जाते हैं। प्रो० कूपलैण्ड का कहना है कि सरकारी व म्युनिसिपल इमारतों पर राष्ट्रीय झंडे लगाने में भी कांग्रेस का उद्देश्य यही था कि वह दूसरी जातियों की भावना को ठेस पहुंचाये। इसी प्रकार, कहा जाता है, कांग्रेस ने राष्ट्रीय गीत के नाम पर एक ऐसे गीत को सरकारी प्रश्रय दिया जो संस्कृत शब्दों और हिन्दू धार्मिक भावनाओं से भरा हुआ था। संस्कृतमयी हिन्दी का प्रचार भी कांग्रेस के सर्वहर होने का एक प्रमाण है। प्रो० कूपलैण्ड का विश्वास है कि कांग्रेस ने विद्या-मन्दिर-योजना को अपना समर्थन देकर साम्प्रदायिकता की इस नीति को अपनी पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया। सच तो यह है कि कांग्रेस के ख़िलाफ़ बुरे से बुरे इलज़ाम लगाने में प्रो० कूपलैण्ड तनिक भी नहीं झिझके हैं। उन्होंने तो यहां तक कहा है कि ग्राम-सुधार की योजना के पीछे भी कांग्रेस का उद्देश्य यही था कि वह गांवों में अपनी शक्ति की जड़ों को मज़बूती से जमा ले। कांग्रेस के प्रति प्रो० कूपलैण्ड का विद्वेष औचित्य और मनुष्यता की सभी सीमाओं को पार कर जाता है जब वह अपने अंग्रेज़ पाठकों के सामने बड़े निश्चय के साथ यह बात रखते हैं कि कांग्रेस अपने शासन-काल में चुपचाप अपनी एक अलहदा फ़ौज खड़ी करने के काम में लगी हुई थी, और इसके साथ ही साथ ऑक्स-फ़ोर्ड के यह विद्वान प्रोफ़ेसर अपने सहमे हुए पाठक-वर्ग के सामने जर्मनी और

इटली की उस भयंकर स्थिति का विपद चित्र भी खींच देते हैं, जो वहां पर इस प्रकार की अधकचरी सेनाओं के संगठित किये जाने से उपस्थित हो गई थी।

इनमें से बहुत से इलज़ाम ऐसे हैं जिनकी चर्चा करना भी समय नष्ट करना है। यहां कुछ थोड़ी-सी बातों को लिया जाता है, जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि कांग्रेस विभिन्न जातियों की भावनाओं को कुचलने के स्थान पर उन्हें अधिक से अधिक सन्तुष्ट करने के प्रयत्न में लगी रही। कांग्रेस का झंडा कांग्रेस-द्वारा पद-ग्रहण करने के वर्षों पहले से—यह कहना चाहिए कि राष्ट्रीय आन्दोलन के क्रियात्मकरूप लेने के समय से ही—मौजूद था। परन्तु जब कांग्रेस ने देखा कि कुछ वर्गों की ओर से उसका विरोध किया जा रहा है तो उसने अन्य राजनैतिक दलों को भी कांग्रेस के झंडे के साथ अपना झंडा लगाने की इजाज़त दे दी, और उन दिनों कभी-कभी तो एक ही इमारत पर एक साथ चार या पांच झंडे लहराते नज़र आते थे। जर्मनी, इटली, या स्वयं इंग्लैण्ड या अमरीका में भी, क्या ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है? इसी प्रकार, जहां तक राष्ट्रीय-गीत का सम्बन्ध है, कांग्रेस को आरम्भ में तो ध्यान भी नहीं था कि 'वन्देमातरम्' का विरोध होगा। वर्षों से बड़े से बड़े मुसल्मान नेता उसके प्रति अपना आदर व्यक्त करते रहे थे। परन्तु जब कांग्रेस ने देखा कि उसका विरोध किया जा रहा है तो उसने पहले तो यह निश्चय किया कि उसके केवल पहले दो पद—जिनमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक भावना का स्पर्श भी नहीं था—गाये जायं और बाद में उसे बिल्कुल ही बन्द कर दिया। इसी प्रकार जहां तक कांग्रेस की भाषा-सम्बन्धी नीति का सम्बन्ध है, यह तो भारतीय राजनीति से जो व्यक्ति थोड़ा भी परिचित है वह जानता है कि कांग्रेस ने कभी संस्कृत-प्रधान भाषा के प्रचार का प्रयत्न नहीं किया। कांग्रेस का उद्देश्य हिन्दुस्तानी अथवा एक ऐसी भाषा का प्रचार था जिसमें हिंदी और उर्दू के सरल और सर्वसाधारण में बोले जाने वाले शब्दों का प्रयोग होता हो। यहां हमें यह भी भूल नहीं जाना चाहिए कि कांग्रेस ने हिंदी या हिन्दुस्तानी के प्रचार की दिशा में ठोस काम केवल मद्रास में किया, जहां मुसलमानों की संख्या बहुत कम है, और वहां पर भी हिंदी के प्रचार का विरोध मुसल्मानों की ओर से नहीं बल्कि अ-ब्राह्मण जस्टिस पार्टी की ओर से हुआ, और उस विरोध के कारण विशुद्ध राजनैतिक थे।

कांग्रेस के विरुद्ध प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि उसने उन प्रांतों में, जिनमें उसका बहुमत था, अपने मन्त्रिमण्डलों में कांग्रेस के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था के सदस्यों को सम्मिलित नहीं किया। इस सम्बन्ध में हमें कुछ बातें अपने ध्यान में रखनी हैं। पहली बात तो यह है कि उन सब देशों में, जहां

प्रजातन्त्र-शासन है, अधिकांश में वही राजनैतिक दल अपना मन्त्रिमण्डल बनाता है जिसका चुनाव में बहुमत रहा हो, और इस मन्त्रिमण्डल में उसी दल के प्रमुख व्यक्ति रहते हैं। उदाहरण के लिए, इग्लैंड में यदि 'लेबर' पार्टी को बहुमत प्राप्त हो, या अमरीका में प्रेज़ीडेन्ट 'रिपब्लिकन' पार्टी में से चुना जाय, तो वे मन्त्रिमण्डल में केवल अपने ही दल के व्यक्तियों को स्थान देंगे, 'कंजर्वेटिव' या 'डेमाक्रेटिक' या किसी अन्य दल के व्यक्तियों को निमन्त्रित नहीं करेंगे। जेनिंग्स ने अपनी 'अंग्रेज़ी शासन-विधान' नाम की पुस्तक में इस पद्धति का समर्थन करते हुए लिखा है कि "इससे एक स्थायी सरकार का निर्माण होता है। सरकार 'हाउस ऑफ़ कामन्स' के बहुमत के प्रति उत्तरदायी होती है, और उसका नेतृत्व भी करती है। सरकार अपने प्रस्तावों के स्वीकृत किये जाने की आशा रखती है। ......वह अपने दल के बहुमत पर उस समय तक निर्भर रह सकती है, जब तक कि वह उसके सिद्धांतों के बिल्कुल ही ख़िलाफ़ कुछ न कर रही हो। (इसका परिणाम यह होता है कि) वह कम समय में और विश्वास के साथ काम कर सकती है, क्योंकि वह जानती है कि उसे आवश्यक समर्थन प्राप्त है। ये बहुत बड़े लाभ हैं......अल्प-संख्यक दलों की सरकार सदा कमज़ोर होती है, क्योंकि वह शासन कर ही नहीं सकती। मिश्रित सरकारें साधारणतः कमज़ोर होती हैं, क्योंकि उनमें आपसी मतभेद बहुत अधिक रहता है।"[१]

प्रजातन्त्र-देशों में मिश्रित मन्त्रिमण्डल किसी अभूतपूर्व परिस्थिति का मुक़ाबिला करने के लिए ही बनाये जाते हैं, और उस विशेष परिस्थिति का अन्त होने के साथ ही वह समाप्त कर दिये जाते हैं—इंग्लैण्ड में महायुद्ध को सफलता से चलाने की दृष्टि से एक सर्व दल सरकार का निर्माण हुआ था, पर जर्मनी के हथियार डालते ही दुबारा चुनाव हुए और एक दल की सरकार बन गई। १६३७ में हमारे देश के सामने कोई ऐसी असाधारण राजनैतिक परिस्थिति नहीं थी, जिसके कारण मिश्रित-मन्त्रिमण्डलों का निर्माण आवश्यक माना जाता। प्रत्युत, उस समय तो परिस्थितियों का तक़ाज़ा यही था कि एक दल वाले सशक्त मन्त्रिमण्डल बनाये जायं। कांग्रेस का ध्येय अंग्रेज़ गवर्नर और नौकरशाही के अनिच्छुक हाथों से सत्ता छीनना था। ऐसी स्थिति में संयुक्त मोर्चे की ज़रूरत थी, और वह मिश्रित मन्त्रिमण्डलों द्वारा संगठित नहीं किया जा सकता था। कांग्रेस द्वारा मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनाने की नीति के विरोध का यही मुख्य कारण था। कांग्रेस के मन में अल्प-संख्यक वर्गों के प्रति उपेक्षा का भाव तनिक भी नहीं था। कांग्रेस का तो सभी वर्गों की प्रतिनिधि-संस्था होने का सदा

१—जेनिंग्स : The British Constitution, पृ० ६३।

से दावा रहा है। कांग्रेस के शासन-काल में प्रायः प्रत्येक प्रांत के मन्त्रिमण्डल में मुसल्मान लिये गए थे। उसकी पार्लमेंटरी कमेटी के सभापति व संयोजक मौ० आज़ाद थे। ऐसी स्थिति में कांग्रेस ने यदि अपने मन्त्रिमण्डल बनाने में अन्य पार्लमेण्टरी देशों की पद्धति को अपनाया, और अन्य दलों के प्रतिनिधियों को अपने मन्त्रिमण्डलों में शामिल नहीं किया, तो इसमें अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति उपेक्षा की भावना ढूंढ़ निकालना बहुत ही हल्के ढंग का आक्षेप है।

आज तो मैं चारों ओर वैधानिक पण्डितों को यह कहते हुए सुनता हूं कि १९३७ में कांग्रेस ने मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधियों को मन्त्रिमण्डलों में न लेकर एक बहुत बड़ी ग़लती की। मैं जानता हूँ कि आज परिस्थिति बदल गई है। आज मुस्लिम-लीग इतनी शक्तिशाली बन गई है, और मुस्लिम हितों का इतना अधिक प्रतिनिधित्व उसमें आगया है, कि आज की परिस्थिति में कांग्रेस के लिए केन्द्रीय व प्रांतीय दोनों शासनों में मुस्लिम-लीग के साथ किसी प्रकार का समझौता कर लेना वांछित हो सकता है, बशर्ते कि मुस्लिम-लीग इस सहयोग के लिए तैयार हो।[1] १९३७ में तो हमारे देश के राजनैतिक जीवन में मुस्लिम-लीग की कोई स्थिति थी ही नहीं। मुस्लिम-लीग द्वारा खड़े किये गए उम्मीदवारों में से जो सफल हुए उनकी संख्या प्रांतीय धारा-सभाओं के कुल सदस्यों की केवल ४॥ फ़ीसदी और मुसल्मान सदस्यों की ११ फ़ीसदी थी। किसी भी प्रांत में मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधियों का काम-चलाऊ बहुमत भी नहीं था। यदि पंजाब और बंगाल में मुसल्मान मन्त्रिमण्डल बनाये जा सके तो इसका कारण यूनियनिस्ट और कृषक-प्रजा-पार्टी का बहुमत था। सर सिकन्दर हयात खां और फज़लुल-हक़ दोनों लीग के उम्मीदवारों के ख़िलाफ़ खड़े हुए थे, और उनके विरोध में ही जीते। सिंध में मिश्रित-मण्डल बना। उत्तर-पश्चिमी-सीमा-प्रांत में, जहां की प्रायः सारी आबादी मुसल्मान है, शुद्ध कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बना। १९३७ में कांग्रेस मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति में थी या उसे ऐसा करना चाहिए था, यह कहना उस समय की राजनैतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में अपना अज्ञान प्रगट करना है।

देशी-राज्यों के प्रति कांग्रेस की नीति

कांग्रेस के विरुद्ध, उस समय की नीति के सम्बंध में ही जो उसने पद-ग्रहण के दिनों में बरती, दो और बड़े इल्ज़ाम लगाये जाते हैं। उनमें से एक यह है कि कांग्रेस ने अपने दल की शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से देशी राज्यों की प्रजा को

१—मुस्लिम-लीग के शिमला-कान्फ्रेंस के रवैये से यह स्पष्ट हो गया है कि वह कांग्रेस के साथ किसी भी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं है।

ठुकराया। देशी राज्यों के प्रति कांग्रेस द्वारा बरती जाने वाली नीति को देखते हुए इस दोषारोपण में अतिशयोक्ति दिखाई देती है। कांग्रेस तो देशी राज्यों के आंतरिक प्रश्नों में हस्तक्षेप करने से सदा बचती रही है। १९३४ में जब कांग्रेस के एक पक्ष ने देशी राज्यों की राजनीति में कांग्रेस द्वारा अधिक हस्तक्षेप करने का प्रश्न उठाया था तो उस समय के सभापति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इस्तीफ़े की धमकी दी थी। १९३७ तक कांग्रेस तटस्थता की अपनी इसी नीति पर जमी रही। परन्तु ब्रिटिश भारत में प्रांतीय स्वायत्त-शासन की स्थापना का प्रभाव देशी राज्यों पर पड़ना स्वाभाविक था। देशी राज्य और ब्रिटिश भारत भौगोलिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टियों से इतने संबद्ध हैं कि उन्हें एक-दूसरे के प्रभाव से मुक्त रखा ही नहीं जा सकता। ब्रिटिश-भारत में प्रजातन्त्र-शासन की स्थापना के साथ-साथ देशी राज्यों में भी राजनैतिक स्वत्त्वों की मांग का प्रभावशाली बन जाना अनिवार्य था। इसी कारण १९३७ के बाद से ही हम देशी राज्यों में एक नवीन चेतना के चिह्न पाते हैं। कुछ में तो राजनैतिक अधिकारों के लिए छोटे-मोटे सत्याग्रह आंदोलन भी उठ खड़े हुए थे। कांग्रेस ने इन राजनैतिक आंदोलनों में कभी कोई सीधा भाग नहीं लिया। वास्तविक कार्य इन्हीं राज्यों के प्रजा-मण्डल आदि अपनी स्थानीय संस्थाओं द्वारा हुआ।

यदि ब्रिटिश भारत के राजनीतिज्ञों ने देशी राज्यों की समस्याओं में कभी हस्तक्षेप किया भी तो उन्हीं देशी राज्योंके अधिकारियों के निमंत्रण पर। राजकोट का ही उदाहरण लें। राजकोट के मामले में गांधी जी, अथवा वल्लभ भाई पटेल, स्वयं नहीं पड़े, परन्तु राज्य के अधिकारियों, स्वयं राजकोट के दीवान द्वारा, वल्लभ भाई पटेल से यह प्रार्थना की गई थी कि वह उनके आंतरिक मामलों के सुलझाने में सहायता दें। इसी प्रकार लिम्बड़ी-राज्य में भी राज्य के अधिकारियों ने श्री मुन्शी को निमन्त्रित किया था। दोनों स्थानों पर समझौता न हो सकने का कारण यह था कि भारत-सरकार का राजनैतिक-विभाग यह नहीं चाहता था कि ब्रिटिश भारत के राजनीतिज्ञ देशी राज्यों के मामलों में दख़ल दें। लार्ड लिनलिथगो ने भी जब गांधीजी के उपवास के अवसर पर हस्तक्षेप किया तो अपने राजनैतिक विभाग की सलाह के ख़िलाफ़। दूसरी बात जो हमें ध्यान में रखना है वह यह है कि इन दिनों स्वयं भारत-सरकार भी इस बात के लिए उत्सुक थी कि किसी प्रकार देशी राज्य अपनी मध्य-कालीन तानाशाही से बाहर निकल सकें, और अपने यहां कुछ वैधानिक सुधारों का प्रारम्भ करें। जहां तक इस नीति का सम्बंध था, कांग्रेस व भारत सरकार दोनों का ध्येय एक ही था। कांग्रेस ने देशी नरेशों के सार्वभौम अधिकारों का अतिक्रमण करने की कभी चेष्टा नहीं की।

मुस्लिम-लीग पर प्रहार

दूसरा बड़ा गम्भीर इल्ज़ाम जो कांग्रेस के इन दिनों के रवैये के बारे में लगाया जाता है, वह यह है कि कांग्रेस मुस्लिम-जनसाधारण से सीधा संपर्क स्थापित करके मुस्लिम-लीग की जड़ों को ही उखाड़ फेंकना चाहती थी। यह सच है कि कांग्रेस ने पद-ग्रहण करने के बाद ही मुस्लिम-जन-संपर्क आंदोलन का आरम्भ कर दिया, परन्तु इसमें कांग्रेस कोई नई बात नहीं करने जा रही थी। कांग्रेस तो पिछले पचास वर्षों से संपूर्ण भारतीय जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व पा लेने के प्रयत्न में लगी हुई थी और मुस्लिम-जनता का अधिक-से-अधिक सहयोग पा लेना उसी प्रयत्न का एक भाग था। हमें यह बात स्पष्ट रूप के समझ लेनी चाहिए कि कांग्रेस अपने जीवन-काल के आरम्भ से ही एक दोहरे कार्यक्रम में लगी हुई है। एक ओर तो वह अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद को ख़त्म कर देने के प्रयत्न में जी-जान से जुटी है, और दूसरी ओर वह राष्ट्रीय आंदोलन को अधिक से अधिक व्यापक बना देना चाहती है। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से प्रायः प्रत्येक बड़ी टक्कर के बाद उसने अपने आंतरिक सङ्गठन को सशक्त बनाने का प्रयत्न किया है। मुस्लिम-जन-संपर्क आंदोलन के वास्तविक उद्देश्यों को जानने के लिए हमें कांग्रेस-कार्य-क्रम के इस पक्ष को भी ध्यान में रखना है।

लीग की शक्ति के तेज़ी से बढ़ने से कांग्रेस अपने मुस्लिम-जन-संपर्क आंदोलन की सफलता के सम्बन्ध में तो निराश होगई, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अपने कर्त्तव्य के सीधे मार्ग से हट गई। अक्टूबर १९३७ में कांग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी ने अपने कलकत्ता-अधिवेशन में यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था कि वह अल्पसंख्यक वर्गों के स्वत्वों की रक्षा करना व उन्हें विकास के अधिक से अधिक अवसर, व सांस्कृतिक जीवन में अधिक से अधिक भाग ले सकने की सुविधायें, देना अपना प्रमुख कर्तव्य मानेगी। फ़र्वरी १९३८ में, हरिपुरा में कांग्रेस ने अल्प-संख्यक स्वत्वों के सम्बंध में वर्किङ्ग-कमेटी के कलकत्ते के प्रस्ताव को स्वीकार किया, और साथ ही यह घोषणा भी की कि वह अल्प-संख्यक जातियों के धार्मिक, भाषा-संबंधी, सांस्कृतिक और अन्य स्वत्वों की सुरक्षा को अपना प्रधान कर्त्तव्य और प्रमुख नीति मानती है, और किसी भी ऐसी भावी शासन-योजना में, जिसके निर्माण में उसका हाथ होगा, उनके विकास, और देश के राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में उनके पूर्ण सहयोग, के लिए अधिक से अधिक सुविधायें होंगी। कांग्रेस ने लीग के साथ समझौते की बात-चीत भी की। पं० जवाहरलाल नेहरू ने लीग के क़ायदे-आज़म को कई पत्र लिखे। गांधी जी ने कई दिन तक घण्टों उनसे बातचीत की। सुभाषचन्द्र

बोस ने भी उन्हें अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई। परन्तु बातचीत इस कारण सफल न हो सकी कि लीग के नेता ने यह आश्वासन चाहा कि कांग्रेस लीग को भारतीय मुसल्मानों की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था मानले। इन सब बातों से यह तो स्पष्ट होजाता है कि कांग्रेस लीग को ख़त्म कर देने के प्रयत्नों में लगी रहने के स्थान पर उससे समझौता करने की लगातार कोशिश करती रही—बल्कि सांप्रदायिक मनोवृत्ति वाले हिंदुओं का सहयोग उससे दिन-ब-दिन इस कारण खिचता गया कि उनका विश्वास था कि वह लीग से समझौता करने की कोशिश में हिंदुओं के स्वत्वों व अधिकारों की हत्या कर रही है। कांग्रेस निःसन्देह मुसल्मानों को एक बड़ी संख्या में राष्ट्रीय विचार-धारा में ले आने के लिए व्यग्र थी, पर इसमें उसका उद्देश्य यही था कि वह जनता तक स्वतन्त्रता का सन्देश पहुँचा दे, और इस प्रयत्न के पीछे उसका यह विश्वास था कि वह हिंदू और मुसल्मान के भेद-भाव से ऊपर उठकर जनता के लिए ही सब कुछ कर रही है। कांग्रेस का दृष्टिकोण शुद्ध राजनैतिक था। सांप्रदायिकता उसमें लेश-मात्र भी नहीं थी।

कांग्रेस के उद्देश्य व आदर्श

सच तो यह है कि कांग्रेस के प्रति इस प्रकार के ग़लत प्रचार की थोड़ी-सी भी सफलता का मुख्य कारण यह है कि जन-साधारण में कांग्रेस के उद्देश्यों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं है, और कांग्रेस के विरोधियों ने जान-बूझ कर उसके आदर्शों को तोड़ा-मरोड़ा है। हम यह बात भूल नहीं सकते कि कांग्रेस देश में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं की स्थापना के बहुत पहले से मौजूद थी, और यदि उसने धारा-सभाओं में एक राजनैतिक दल की हैसियत से प्रवेश करने का निश्चय किया तो केवल इसलिए कि वह अपने उस आदर्श की ओर एक क़दम और बढ़ा सके, जिसकी प्राप्ति के लिए उसकी स्थापना हुई थी। दूसरे शब्दों में, कांग्रेस पहले हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए लड़ने वाली संस्था है, और धारा-सभाओं में एक राजनैतिक दल की हैसियत से किया हुआ उसका कार्य उसकी स्थिति का केवल एक गौण पक्ष है। इस कारण पश्चिम के राजनैतिक दलों से हम उसकी सर्वथा तुलना नहीं कर सकते। पश्चिम के राजनैतिक दल का उद्देश्य रहता है, बहुमत द्वारा राजतन्त्र को अपने अधिकार में लेना और अपने सिद्धांतों व आदर्शों के अनुसार उसका सञ्चालन करना। कांग्रेस का देश के वर्तमान राज-तन्त्र की उपयुक्तता में तनिक भी विश्वास नहीं है। वह तो उसे उखाड़ फेंकना चाहती है—इस अर्थ में वह एक क्रांतिकारी संस्था है—और देश में प्रजातन्त्र-शासन की स्थापना करना चाहती है। कांग्रेस प्रजातन्त्र

के अन्तर्गत सङ्गठित किया गया एक दल नहीं है। वह तो प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए प्रतिज्ञाबद्ध, कटिबद्ध और जीवनोत्सर्ग के लिए सतत् तत्पर, एक जीवित संस्था है। उसके अन्तर्गत कई राजनैतिक विचार-धारायें हैं, सोशलिस्ट-पार्टी है, फार्वर्ड ब्लाक है, कम्यूनिस्ट हैं, जो देश में प्रजातन्त्र की स्थापना हो जाने पर विभिन्न राजनैतिक दलों का रूप ले लेंगी। फिर भी राजनैतिक दल की हैसियत से कांग्रेस जब कभी धारा-सभाओं में काम करती है, वह प्रजातन्त्र-शासन के सिद्धांतों का सदा ही अक्षरशः पालन करती है। कांग्रेस के पद-ग्रहण करने का अर्थ यह कभी नहीं होता कि वह सत्ता को हड़पना या अल्प-संख्यक वर्गों को कुचलना चाहती है। वह यदि शक्ति प्राप्त करना चाहती है तो भारतीय जनता के लिए—और अल्पसंख्यक वर्गों के स्वत्वों की रक्षाके लिए वह उतनी ही प्रयत्न-शील है जितनी बहुसंख्यक वर्गों के। देश से एक विदेशी शासन को हटाकर प्रजातन्त्र की स्थापना करना ही जिस संस्था का धर्म हो वह अपनी कार्य-प्रणाली में किसी अन्य मार्ग का अवलंबन कर ही कैसे सकती है?

राजनैतिक दल: आन्तरिक प्रवृत्तियां

हमारे देश में प्रजातन्त्र की स्थापना के मार्ग में जो सब से बड़ी बाधा मानी जाती है वह यह है कि हमारे राजनैतिक दलों के संगठन का आधार धर्म में है। कांग्रेस के सम्बन्ध में तो यह बात नहीं कही जा सकती। वह एक शुद्ध राजनैतिक संस्था है। परन्तु कांग्रेस के अलावा जो अन्य राजनैतिक दल हैं—जैसे लिबरल फ़ेडरेशन, इण्डियन बोल्शेविक पार्टी, आदि—उनका जनता पर बिल्कुल भी प्रभाव नहीं है। कांग्रेस के बाहर केवल एक राजनैतिक दल ऐसा है जिसका संगठन और प्रचार बड़ी तत्परता के साथ किया जा रहा है। वह है कम्यूनिस्ट पार्टी। परन्तु, १६४२ के आन्दोलन में कम्यूनिस्ट पार्टी का जो रवैया रहा उस से वह बहुत बदनाम हो गई है, और उसकी प्रतिष्ठा को बड़ी ठेस पहुंची है। व्यापकता, शक्ति व संगठन की दृष्टि से देखा जाय तो कांग्रेस के बाद जिस संस्था का नाम लिया जा सकता है, वह है मुस्लिम लीग। और उसके बाद यदि कोई राजनैतिक दल ऐसा है जिसका संगठन और प्रचार देश-व्यापी है तो वह हिन्दू महासभा है। मुस्लिम-लीग और हिन्दू-महासभा दोनों कट्टर साम्प्रदायिक संस्थाएं हैं, और दोनों का आधार धर्म में है। मुस्लिम लीग मुसल्मानों तक ही सीमित है, और हिन्दू-महासभा का प्रधान उद्देश्य हिन्दू-हितों और स्वार्थों की रक्षा करना है।

यह सच है कि मुस्लिम-लीग का कार्य-क्षेत्र मुसल्मानों तक ही सीमित है

और हिन्दू-महासभा हमारी राजनैतिक समस्याओं को हिन्दू दृष्टिकोण से ही देखना और समझना चाहती है। परन्तु हमें यह बात भूल नहीं जाना चाहिए कि उनके संगठन का आधार चाहे कुछ हो उनका कार्य शुद्ध राजनैतिक है, धार्मिक नहीं। मुस्लिम-लीग और हिन्दू-महासभा दोनों का संगठन राजनैतिक उद्देश्यों को लेकर किया गया है, और समय-समय पर उन्होंने राजनैतिक आदर्शों पर ही ज़ोर दिया है।

मुस्लिम-लीग की स्थापना के प्रमुख उद्देश्यों में जहां मुसल्मानों में राजभक्ति की भावना को विकसित करना व उनके और सरकार के बीच सद्भावना को स्थापित करना था, वहां भारतीय मुसल्मानों के राजनैतिक व अन्य अधिकारों की रक्षा करना व उनकी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को सरकार के सामने रखना भी था। मुस्लिम-लीग ने सदा ही मुसल्मानों के राजनैतिक अधिकारों पर ही विशेष ज़ोर दिया है। १९१३ में मुस्लिम-लीग के उद्देश्यों में भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन की स्थापना को शामिल किया गया। उसके बाद कई वर्षों तक कांग्रेस और लीग के वार्षिक अधिवेशन एक ही स्थान पर होते रहे। १९२०-२१ के असहयोग के आन्दोलन को लीग का समर्थन प्राप्त था। १९२७ में, मि० जिन्ना के नेतृत्व में, लीग का बहुमत साइमन कमीशन के बहिष्कार में राष्ट्रीय तत्त्वों के साथ था। १९३६ में चुनाव के अवसर पर लीग ने जिस नीति की घोषणा की वह प्रगतिशीलता की द्योतक थी। अक्टूबर १९३७ में मुस्लिम-लीग ने अपने को आज़ादी के पक्ष में घोषित किया; संघ शासन की भर्त्सना की, और आर्थिक कार्य-क्रम की रूप-रेखा बनाई। १९४० के मुस्लिम लीग के पाकिस्तान सम्बन्धी प्रस्ताव के पीछे भी राजनैतिक उद्देश्य ही प्रधान रहे हैं। इसी प्रकार हिन्दू-महासभा भी हिन्दुओं के राजनैतिक स्वत्वों की रक्षा के लिए सामने आई और ज्यों-ज्यों हिन्दुओं का यह भय बढ़ता गया कि कांग्रेस कहीं मुसल्मानों को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न में हिन्दू-हितों को बलि न दे डाले, उसका बल बढ़ता गया है। पाकिस्तान की मांग के साथ अखण्ड-हिंदुस्तान का आन्दोलन भी अधिक प्रबल हो गया है।

हमारे इन साम्प्रदायिक दिखाई देने वाले दलों के पीछे राजनैतिक विचार-धाराओं का आंतरिक संघर्ष भी तीव्र होता जा रहा है। सबसे पहले मुस्लिम-लीग को ही लें, जो हमारे देश की सबसे कट्टर साम्प्रदायिक संस्था मानी जाती है। १९३७ के बाद से, जब से मुस्लिम लीग की शक्ति का बढ़ना आरम्भ हुआ, उसमें एक ओर तो प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का समावेश हुआ; और दूसरी ओर प्रगतिशीलता की धाराएं सशक्त हो चलीं। १९३६ के चुनाव के घोषणा-पत्र

में प्रगतिशीलता की प्रधानता स्पष्ट है। १६३७ में मि० जिन्ना ने लखनऊ में कहा—"आप लोगों का प्रधान कर्त्तव्य जनता के लाभ के लिए एक रचनात्मक और सुधारवादी कार्य क्रम की योजना करना है।" कांग्रेस के विरोध में लीग का प्रतिक्रियावादी पक्ष सामने आया, परन्तु आंतरिक संघर्ष बराबर चल रहा था। मई १६३८ की कानपुर की हड़ताल में इस संघर्ष की अच्छी अभिव्यक्ति मिलती है। लीग के प्रतिक्रिया वादी पक्ष ने पहले तो हड़ताल बन्द करने की चेष्टा की पर जब उसे सफलता नहीं मिली तो लीग का प्रगतिशील वर्ग सामने आया और उसने हड़तालियों का साथ दिया—उनकी सफलता पर बधाई दी और साथ ही एक बड़े बहुमत से यह प्रस्ताव भी पास किया कि लीग का कोई पदाधिकारी ज़मींदारों की किसी संस्था का सदस्य न बने। यों तो मई १६४३ में दिल्ली अधिवेशन में ही लीग के सामने यह प्रस्ताव लाया गया था कि पाकिस्तान का शासन-विधान प्रजातन्त्र और साम्यवाद के इस्लामी सिद्धान्तों पर स्थापित होना चाहिए, परन्तु दिसम्बर १६४३ के करांची अधिवेशन में इस आन्दोलन ने एक स्पष्ट रूप ले लिया। जिन्ना साहब को लीग के जन-सम्पर्क के सम्बन्ध में अधिक ज़ोर देना पड़ा। सिन्ध प्रांतीय लीग के अध्यक्ष जी०एम० सैयद ने कहा कि लीग को जनता के स्वार्थों को ध्यान में रखना चाहिए, और ऐसे प्रस्ताव पास किये गए जिनमें जनता की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने व लीग के मन्त्रिमण्डलों द्वारा एक निश्चित सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक कार्यक्रम को अमल में लाने पर, ज़ोर दिया गया था।

प्रायः सभी प्रान्तों में राजनैतिक विचारधाराओं को लेकर इस प्रकार का आन्तरिक संघर्ष जारी है। सिन्ध, आसाम और सीमाप्रान्त में तो वहां की अनुदार सरकारों को लीग की सभाओं पर भी प्रतिबन्ध लगाना पड़ा, पर जनता के आन्दोलन के सामने उन्हें झुकना पड़ा। पंजाब में लीग ने इस बात की मांग की कि या तो कांग्रेस के क़ैदियों को छोड़ दिया जाय या उन पर खुली अदालत में मुक़दमा चलाया जाय। पंजाब में लीग का नेतृत्व मुमताज़ दौलताना और उनके प्रगतिशील साथियों के हाथ में आ गया है। संयुक्तप्रांत में लीग के नेता नवाब इस्माईल खां व चौधरी ख़लीक़ुज्ज़मा स्वयं प्रगतिशील हैं, पर रिज़वानुल्ला दल के नेतृत्व में और भी प्रगतिशील तत्त्व आगे आ रहे हैं। बंगाल में लीग के प्रगतिशील मन्त्री अब्दुल हाशिम ने लीग को एक क्रियाशील संस्था में परिणत कर दिया है। सिन्ध में एक प्रगतिशील नेता, जी० एम० सैयद, लीग के अध्यक्ष हैं। बम्बई में डा० अब्दुल हमीद क़ाज़ी के नेतृत्व में प्रगतिशील दल ने अपने को खूब संगठित कर लिया है। इन प्रगति-

शील तत्त्वों को प्रधानता मिलने के साथ ही दूसरे राजनैतिक दलों से सहयोग की मांग भी बढ़ती जा रही है। सितम्बर १९४४ के गांधी-जिन्ना वार्तालाप के पीछे इस मांग का बल था—यद्यपि कुछ ऐतिहासिक कारणों से यह बातचीत सफल न हो सकी। केन्द्रीय धारा सभा में कांग्रेस और लीग ने भूलाभाई देसाई और नवाबज़ादा लियाक़त अली खाँ के नेतृत्व में एक संयुक्त मोर्चा बना लिया था। आसाम और पंजाब की धारा सभाओं में भी कांग्रेस और लीग ने मिल-जुल कर काम किया। लीग के नेता इस समय एक विषम परिस्थिति में हैं। उन्हें एक ओर तो लीग की प्रगतिशील विचार-धारा का समर्थन करना पड़ रहा है, परन्तु दूसरी ओर वह रूढ़िवादी तत्त्वों को छोड़ना भी नहीं चाहते, अन्यथा लीग में फूट पड़ जाने का भय है, परन्तु ज्यों-ज्यों यह संघर्ष बढ़ता जायगा उन्हें एक स्पष्ट निर्णय कर लेने पर विवश हो जाना पड़ेगा।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि, मुस्लिम-लीग, हिंदू महासभा और दूसरे सांप्रदायिक दलों के अन्तर्गत विभिन्न राजनैतिक विचार-धाराओं का विकास हो रहा है। हमारे राजनैतिक दलों की स्थापना का उद्देश्य प्रांतीय अथवा केन्द्रीय शासन में कुछ राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर लेने तक ही सीमित नहीं रहा। कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य स्वाधीनताके युद्ध को जारी रखना है। मुस्लिम-लीग की स्थापना इस उद्देश्य से हुई कि भारतीय प्रजातन्त्र में मुसल्मानों के अधिकार सुरक्षित रह सकें, और वह अपने इस काम में जुटी हुई है। हिंदू महासभा मुसल्मानों के अतिक्रमण से हिंदू स्वार्थों की रक्षा करना चाहती है,क्योंकि उसे डर है कि राष्ट्रीय आंदोलन के साथ मुसल्मानों का यह अतिक्रमण बढ़ता जाएगा। इन सब राजनैतिक दलों की रूप-रेखा में बड़ी तेज़ी के साथ परिवर्त्तन होता जा रहा है। विभाजन की सामाजिक और आर्थिक रेखाएं अधिक स्पष्ट होती जा रही हैं। सच तो यह है कि हमारे इन राजनैतिक दलों में कोई दल ऐसा नहीं है जो शुद्ध सांप्रदायिक कहा जा सके। वास्तव में ये सब राजनैतिक दल ही हैं। और यदि देश में एक सच्चा प्रजातन्त्रीय शासन स्थापित किया जा सके तो मुझे पूरा विश्वास है कि ये राजनैतिक दल, नई परिस्थितियों को दृष्टिकोण में रखते हुए, अपने आपको परिवर्त्तित कर सकेंगे, और, पलक मारते, पश्चिम के राजनैतिक दलों का रूप ले लेंगे। कांग्रेस तो बार-बार इस बात की घोषणा करती रही है कि वह शक्ति अपने लिए नहीं परन्तु भारतीय जनता के लिए प्राप्त करना चाहती है। इस कारण यह सोचना कि देश में स्वराज्य की स्थापना हो जाने के बाद कांग्रेस तानाशाही के रूप में उस पर शासन करेगी, एक व्यर्थ की कल्पना को प्रश्रय देना है। इसी प्रकार एक स्थायी शासन विधान में एक उचित सम-

झौते के आधार पर भारतीय मुसल्मानों को न्याय संगत अधिकार और संरक्षण मिल जाने के बाद मुस्लिम-लीग भी अपने वर्त्तमान रूप को क़ायम नहीं रख सकेगी—संभव है उसकी विभिन्न विचार-धाराएं कांग्रेस के अन्तर्गत जो विचार-धाराएं स्पष्ट होती जारही हैं उनसे एक रूप हो सकें। हिंदू महासभा की स्थिति तो और भी नाज़ुक है—देश में एक स्वतन्त्र शासन की स्थापना हो जाने के बाद उसका कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इस प्रकार यह कहना कि हमारे राजनैतिक दल प्रजातन्त्र के विकास में बाधक हैं, वस्तुस्थिति को एक ग़लत दृष्टिकोण से देखना है। सच तो यह है कि हमारे राजनैतिक दलों में जो कमियां हैं उसका मुख्य कारण देश में प्रजातन्त्र का अभाव है। प्रजातंत्र की किरणों के फूट निकलते ही हमारे राजनैतिक दल अपने उचित, वांछित और अभीप्सित मार्ग पर चल पड़ेंगे, और उनके आधार पर एक प्रबल प्रजातंत्र का सङ्गठन हो सकेगा।

: ७ :

वर्त्तमान स्थिति : राजनैतिक गत्यावरोध

भारतीय इतिहास में बहुत कम अवसर ऐसे आए हैं जब भारतवर्ष और अंग्रेज़ों के सम्बन्ध इतने अच्छे रहे हों जितने १९३४ से १९३९ तक। १९३४ तक दूसरा सविनय अवज्ञा आंदोलन छिन्न-भिन्न होचुका था। १८ अक्टूबर १९३४ को कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा का परित्याग करके पार्लमेण्टरी कार्यक्रम को अपना लिया। उसके बाद से कांग्रेस के प्रमुख नेता, भूलाभाई देसाई, सत्यमूर्त्ति, गोविन्दवल्लभ पन्त आदि केन्द्रीय धारा-सभा में धारासभा के अंग्रेज़ सदस्यों व सरकारी अफ़सरों के साथ दिखाई देने लगे। १९३७ में कांग्रेस ने प्रांतीय चुनाव लड़ने का निश्चय किया, और चुनाव में अधिकांश प्रांतों में उसे एक अभूतपूर्व बहुमत भी प्राप्त हुआ। कांग्रेस की इस विजय से इङ्गलैंण्ड का अनुदार दल चाहे विक्षुब्ध हुआ हो, पर जन-साधारण पर अच्छा असर पड़ा। चुनाव जीतकर भी जब कांग्रेस ने पद-ग्रहण करने से इन्कार कर दिया, तब इङ्गलैण्ड में निराशा की एक लहर दौड़ गई। लेकिन प्रांतों में अस्थायी मन्त्रि-मण्डल बना देने के बाद भी सरकार कांग्रेस को मना लेने के प्रयत्न में ईमान्दारी से लगी हुई थी। कांग्रेस भी सहयोग के लिए उत्सुक थी। जब कांग्रेस ने आश्वासन चाहा कि गवर्नर साधारणतः अपने विशेष अधिकारों का उपयोग नहीं करेंगे, यद्यपि उतने स्पष्ट शब्दों में वह आश्वासन नहीं दिया गया, पर वायसराय व भारत-मन्त्री दोनों ने कांग्रेस की शङ्काओं को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि अस्थायी मन्त्रिमण्डल तोड़ दिए गए, और कांग्रेस के 'ग़द्दार' नेताओं ने अधिकांश प्रांतों में शासन के सूत्र अपने हाथों में लिए।

कांग्रेस और सरकार के बीच सहयोग की यह भावना उसके शासन-काल के २७ महीनों में दृढ़ से दृढ़तर होती चली। गवर्नरों ने अपने आश्वासन पर अमल किया। मन्त्रिमण्डलों के निर्माण में उन्होंने तनिक भी हस्तक्षेप नहीं किया। कांग्रेस ने उड़ीसा को छोड़ कर शेष सब प्रांतों में अपने मन्त्रिमण्डलों में मुसलमान सदस्य भी शामिल किए थे। उड़ीसा में जब कई मुस्लिम संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने गवर्नर से भेंट करके इस बात पर ज़ोर दिया कि मन्त्रिमण्डल में मुसलमान सदस्य अवश्य होने चाहिएं, गवर्नर ने स्पष्ट शब्दों में उनसे कह

दिया कि वह इसे आवश्यक नहीं मानते थे, और साथ ही उन्होंने अपना यह विश्वास भी प्रगट किया कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल द्वारा मुस्लिम-हितों को तनिक भी हानि पहुँचने की संभावना नहीं थी। मंत्रिमण्डलों के निर्माण के बाद कांग्रेस को संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धांत के विकास का पूरा अवसर मिला। गवर्नरों और मन्त्रिमण्डलों के आपसी सम्बन्ध बड़े अच्छे रहे। दो बार—संयुक्त प्रांत व बिहार में राजनैतिक क़ैदियों को छोड़ने, और उड़ीसा में चीफ़ सेक्रेटरी के गवर्नर नियुक्त किये जाने के सम्बंध में—जब प्रांतीय-शासन पर सङ्कट के बादल मंडराते दिखाई दिये, कांग्रेस व सरकार दोनों ने ही समझौते की वृत्ति से काम लिया, और वे दोनों सङ्कट टल गए। संयुक्त-प्रांत के गवर्नर ने अपने प्रांतीय धारा-सभा के भाषण में कहा, "जब हर चीज़ बदल गई है, गवर्नर की स्थिति भी वह नहीं रह गई है जो पिछले शासन-विधान में थी।" मद्रास के एक कांग्रेस मंत्री डॉ० राजन ने गवर्नर के रवैये के सम्बंध में कहा कि वह एक "दोस्त, सलाहकार और तत्त्ववेत्ता" का काम करते रहे। अंग्रेज़ गवर्नरों व सरकारी अफ़सरों की कांग्रेस के प्रति जो भावना रही उसे देखते हुए यदि यह धारणा प्रबल होती गई कि हिंदुस्तान और इङ्गलैण्ड के संबंधों में एक नवीन युग का सूत्रपात होरहा है तो इसमें आश्चर्य क्या था?

महायुद्ध की प्रतिक्रिया

पारस्परिक विश्वास और सहयोग की इस पृष्ठभूमि पर, सितम्बर १६३६ में अचानक महायुद्ध के काले बादल घिर आए। यह घटना बिल्कुल ही अप्रत्याशित तो नहीं थी, परन्तु जीवन और मरण की समस्या संसार के प्रत्येक देश के सामने यों आ खड़ी होगी, इसकी स्पष्ट कल्पना किसी ने नहीं की थी। लड़ाई जब अपने पूरे वेग में चल पड़ी, तब भी किसी को यह विश्वास नहीं था कि उसे लेकर, कांग्रेस और सरकार के बीच जिस सहयोग की जड़ें गहरी होती जारहीं थीं, उसमें किसी प्रकार का व्यवधान आ उपस्थित होगा। सच तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इङ्गलैण्ड और हिंदुस्तान के दृष्टिकोणों में किसी प्रकार का वैषम्य था ही नहीं। दोनों फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ और प्रजातन्त्र के समर्थक थे। हिंदुस्तान में तो फ़ासिस्ट विरोधी मनोवृत्ति, विशेष कर जवाहरलाल जी के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण, अपने शिखर पर थी। हम लोग तो इङ्गलैण्ड की विदेशी नीति के भी उस हद तक कड़े आलोचक थे, जहां वह फ़ासिज़्म का समर्थन-सा करती दिखाई देती थी, परन्तु इंग्लैण्ड के प्रति हम कभी असहिष्णु नहीं बने, क्योंकि हम जानते थे कि वह एक ओर तो परिस्थितियों का, व दूसरी ओर एक ग़लत नेतृत्व का, दास बना हुआ

था। मंचूरिया पर जापान का आक्रमण, अबीसीनिया में इटली के साम्राज्य-वाद का नग्न तांडव, स्पेन के गृह-युद्ध में फ़ासिस्ट देशों का खुला सहयोग, हिटलर द्वारा आस्ट्रिया व ज़ेकोस्लोवाकिया का ख़ात्मा, इन घटनाओं ने हमें बहुत अधिक विचलित किया था, इसलिए मार्च १६३६ में जब इंग्लैण्ड ने हिटलर की बढ़ती हुई मांगों के सामने पोलैण्ड को यह आश्वासन दे दिया कि वह जर्मनी द्वारा आक्रमण किए जाने पर उसकी सहायता की आशा कर सकताहै, उसके प्रति हमारा आदर-भाव बढ़ गया, और सितम्बर १६३६ में जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर आक्रमण किये जाते ही जब उसने जर्मनी के प्रति युद्ध की घोषणा की, तब तो हमारा वह आदर श्रद्धा में परिणत होगया। हमारे गण्य-मान्य नेताओं ने खुले दिल से और बिना किसी शर्त्त के फ़ासिस्ट-देशों के विरोध में इंग्लैण्ड और अन्य प्रजातंत्र-देशों के साथ अपनी सहानुभूति प्रगट की। गांधी जी ने वायसराय से मिलने के बाद ही अपने एक वक्तव्य में कहा, "मैं इस समय हिंदुस्तान की आज़ादी की बात नहीं सोच रहा हूँ। वह तो आयेगी ही, पर यदि इंग्लैण्ड या फ़्रांस का पतन होगया तो उसकी क्या क़ीमत रह जायगी?" कांग्रेस की कार्य-समिति ने अपने एक प्रस्ताव में कहा, "कांग्रेस ने बार-बार फ़ासिस्टवाद व नात्सी-वाद की विचार-धाराओं व कार्य-प्रणाली, उनके युद्ध व हिंसा के सिद्धांतों और उनके द्वारा किये जाने वाले मानवी आत्मा के कुचलने के प्रयत्नों के संबंध में अपनी गहरी असहमति प्रकट की है। वह जर्मनी की नात्सी-सरकार द्वारा पोलैण्ड के ख़िलाफ़ जो ताज़ा आक्रमण किया गया है उसकी ज़ोरदार शब्दों में भर्त्सना करती है, और उन देशों के साथ अपनी सहानु-भूति प्रगट करती है जो इस आक्रमण का विरोध कर रहे हैं।" इंग्लैण्ड और भारतवर्ष के आपसी संबंधों के इतिहास में यह वह सोनहला अवसर था, जब सहानुभूति के एक हल्के से इशारे से इंग्लैण्ड हिंदुस्तान के सहयोग को सदा के लिए प्राप्त कर सकता था।

गत्यावरोध का सूत्रपात

परन्तु, इंग्लैण्ड की ओर से सहयोग की अभिव्यक्ति की सूचना देने वाला कोई क़दम नहीं उठाया गया। इसके विपरीत, इंगलैण्ड ने एक के बाद एक कई ऐसे काम किए जिनसे उसने हिंदुस्तान की सहानुभूति को बिल्कुल ही खो दिया। उसके नेताओं व धारासभा से भी पूछे बिना हिंदुस्तान के लड़ाई में शामिल होने की घोषणा करदी गई, देश में आर्डिनेंस राज्य क़ायम होगया और शासन-विधान में भी कुछ युद्ध-कालीन परिवर्त्तन कर दिये गये। कांग्रेस ने सहानुभूति और सहयोग का जो हाथ बढ़ाया था, वह उसे बुरी तरह से झिटक

देना था। कांग्रेस भी १६३६ में ऐसी स्थिति में नहीं रह गई थी कि सरकार द्वारा की गई अवज्ञा को चुपचाप सह लेती। वह इंग्लैण्ड व प्रजातन्त्र-देशों का समर्थन अवश्य करना चाहती थी, पर कुछ शर्तों पर। इस सम्बंध में कांग्रेस का प्रस्ताव बिल्कुल स्पष्ट था। "यदि इंग्लैण्ड प्रजातन्त्र के बचाव व विस्तार के लिए लड़ रहा है, तो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह अपने आधीन देशों में साम्राज्यवाद का अन्त करदे और भारतीय जनता को आत्म-निर्णय का अधिकार दे दे—स्वतन्त्र भारत अत्याचार के विरुद्ध, सामान्य-रक्षा की दृष्टि से, बड़ी प्रसन्नता से दूसरे स्वाधीन राष्ट्रों का साथ देगा।" कांग्रेस की कार्य-समिति ने इंग्लैण्ड की सरकार से इस बात की मांग की कि वह अपनी युद्ध-नीति को स्पष्ट शब्दों में घोषित करदे, और साथ ही यह भी स्पष्ट करे कि वह अपनी उस नीति का भारतवर्ष में किस प्रकार पालन करना चाहती है।

इंग्लैण्ड की सरकार इस प्रश्न को यों साफ़-साफ़ सुलझा लेना नहीं चाहती थी। कुछ दिनों तक उसे यह खयाल रहा कि कांग्रेस शायद अपनी स्थिति पर इतनी दृढ़ न रहे, और सरकार के साथ असहयोग के गम्भीर क़दम को न उठाए। उधर, कांग्रेस लगातार इस आशा में रही कि युद्ध की विषम परिस्थितियां सरकार को उसके साथ समझौता करने पर मजबूर कर देंगी। कांग्रेस अपनी निम्न-मांग से हटने के लिए तैयार नहीं थी—यदि कांग्रेस ऐसा करती तो न केवल अपने स्वाभिमान को ही खो बैठती, देश का भी बड़ा अहित करती। सितम्बर १६३६ में गांधीजी ने इस बातको स्पष्ट कर दिया था कि वह अंग्रेज़ी सरकार को उसके युद्ध प्रयत्नों में बिना किसी शर्त के सहायता देने के लिए तैयार हैं, वह केन्द्रीय शासन में कांग्रेस के लिए केवल इतना अधिकार चाहते थे कि जितने से प्रांतों का उत्तरदायी शासन अपने उत्तरदायित्व को निभा सके। इस थोड़े से अधिकार की प्राप्ति पर भी गांधी जी ने ज़ोर इसलिए दिया कि वह देख रहे थे कि युद्ध के नाम पर प्रांतीय मन्त्रिमण्डलों को एक ग़ैर-ज़िम्मेदार केन्द्रीय शासन के हाथ का खिलौना-मात्र बनने पर मजबूर होना पड़ रहा था। जहां तक कि कांग्रेसके अन्तिम लक्ष्य का संबंध था, सितम्बर १६३६ में गांधीजी इस बात से संतुष्ट होने के लिए भी तैयार थे कि सरकार इस बात की घोषणा भर कर दे कि हिंदुस्तान लड़ाई के बाद एक स्वाधीन और प्रजातन्त्रात्मक देश हो जायेगा। परन्तु, जब सरकार ने गांधीजी के इस विनम्र प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया तो यह स्पष्ट होगया कि वह हिंदुस्तान पर अपने साम्राज्यवाद के शिकंजे को ज़रा भी ढीला करने के लिए तैयार नहीं थी।

मनोवैज्ञानिक पक्ष

इस राजनैतिक गत्यावरोध के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर भी थोड़ा ग़ौर करलें। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के पद-त्याग से अंग्रेज़ों को पहले तो आश्चर्य हुआ और धीरे-धीरे वह आश्चर्य विक्षोभ में परिणत हो चला। अंग्रेज़ तो भला इस बात की कल्पना ही कैसे कर सकते थे कि जिन भारतीयों पर वह पिछले डेढ़-सौ वर्षों से उपकार पर उपकार लादते जा रहे थे वह उनके ऐसे सङ्कट के अवसर पर राजनैतिक सौदे की बात करेंगे ? उनके लिए तो यह विश्वास-घात से कम न था। दूसरी ओर कांग्रेस हर चीज़ को हिंदुस्तान की आज़ादी की कसौटी पर कस और परख रही थी। उसके लिए यह विश्वास करना कठिन हो रहा था कि बिना हिंदुस्तान को आत्म-निर्णय का अधिकार दिए इंग्लैण्ड और उसके साथी संसार में प्रजातन्त्र की स्थापना कर सकेंगे। कांग्रेस तो यह जानना चाहती थी कि क्या इंग्लैण्ड सचमुच फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ लड़ रहा था, और यदि ऐसा था तो वह स्वयं अपने फ़ासिज़्म को ख़त्म कर देने की दिशा में क्या क़दम उठाना चाहता था। कांग्रेस ने इस संबंध में जितना अधिक सोचा, उसका यह विश्वास दृढ़ होता गया कि भारतीय समस्या विश्व की समस्या की कुंजी है और संसार में प्रजातन्त्र की स्थापना, अथवा युद्ध का अंत, उस समय तक असम्भव है जब तक हिंदुस्तान आज़ाद नहीं हो जाता। उसे हिंदुस्तान की आज़ादी केवल हिंदुस्तान की दृष्टि से ही नहीं, विश्व की दृष्टि से भी आवश्यक दिखाई दे रही थी।

ग़लतफ़हमी को फैलाने में कुछ और बातों का हाथ भी रहा। कांग्रेस ने अंग्रेज़ी सरकार की ईमानदारी में बहुत दूर तक विश्वास रखा। पद-त्याग के बाद भी उसे आशा थी कि सरकार समझौते की दिशा में कोई न कोई प्रयत्न अवश्य करेगी, उसे इस बात का अंदाज़ा नहीं था कि अंग्रेज़ी सरकार का विक्षोभ कितना गहरा चला गया था। कांग्रेस ने ईमानदारी के साथ युद्ध-प्रयत्नों में बाधा न डालने की नीति बरती। अंग्रेज़ी सरकार ने उसे कांग्रेस की कमज़ोरी का द्योतक माना। कांग्रेस उन दिनों कठिन परिस्थिति में थी भी। उसके २७ महीनों के पद-ग्रहण ने उसके विरोधी-तत्त्वों को बड़ा सशक्त बना दिया था। देशी नरेश नाराज़ थे, क्योंकि उन्हें ख्याल था कि वह उनकी प्रजा को उनके ख़िलाफ़ भड़का रही है। मुसल्मानों का विरोध दिन प्रति-दिन तीव्र होता जा रहा था। हिंदू भी कांग्रेस का साथ छोड़ रहे थे, और मुस्लिम-लीग के सांप्रदायिक प्रचार की प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दू सांप्रदायिक संस्थाओं में शामिल हो रहे थे। कांग्रेस का वाम-पक्ष, किसानों और मज़दूरों के हितों के

नाम पर, उसके दक्षिण-पक्ष के प्रति विद्रोह की घोषणा कर चुका था। कांग्रेस में एक दल ऐसा भी था जो अंग्रेज़ी सरकार से सहयोग करने के लिए बेचैन था, और टूटी-फूटी सत्ता को भी अपने हाथ से खोना नहीं चाहता था। उधर, जनता कांग्रेस की अन्तर्राष्ट्रीय नीति को समझने में सर्वथा असमर्थ थी। वह तो अंग्रेज़ी नीति के कारण जितना अधिक विक्षुब्ध होती जा रही थी, शत्रु राष्ट्रों के प्रति उसका ममत्व बढ़ता जा रहा था, और अंग्रेज़ों की हार और अपमान से वह एक अस्वस्थ संतोष का अनुभव कर रही थी। ऐसी परिस्थितियों में यदि सरकार ने कांग्रेस के विरोध को अधिक महत्त्व नहीं दिया तो यह स्वाभाविक ही था।

देश में एक ऐसा दल प्रबल होता जा रहा था जो युद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठा कर सरकार पर दबाव डालने के पक्ष में था—कम्यूनिस्ट तो इस दल के अग्रगण्य थे। जनता में ज्यों-ज्यों बेचैनी बढ़ती जा रही थी, यह दल अधिक मज़बूत बनता जा रहा था। पर कांग्रेस का नेतृत्व सरकार पर इस प्रकार का नाजायज़ दबाव नहीं डालना चाहता था। बहुत संभव है कि, युद्ध को लेकर, कांग्रेस में एक बार फिर आन्तरिक विस्फोट होता, और उसके वाम और दक्षिण पक्ष एक दूसरे से अलहदा हो जाते। परन्तु, गांधी जी ने देश को इस संकट से बचा लिया। वह फ़ौरन ही देश के समस्त तत्त्वों को, परस्पर-विरोधी तत्त्वों को भी, एक साथ ले आए। सुभाष बोस अवश्य भाग निकले और शत्रु-पक्ष के रेडियो से गांधी जी के काम को असफल बनाने का भरसक प्रयत्न करते रहे। मि० जिन्ना ने भी अपनी नई शक्तिशाली स्थिति को छोड़ने से इन्कार कर दिया—अंग्रेज़ी सरकार की नीति के कारण उनका बल व शक्ति बहुत बढ़ गए थे। इन्हें छोड़ कर देश की अन्य सभी विचार-धाराओं ने गांधी जी का साथ दिया। गांधी जी एक ओर तो देश की बढ़ती हुई शक्ति को बिखरने देना नहीं चाहते थे, दूसरी ओर वह सरकार के युद्ध-प्रयत्नों में बाधा पहुँचाना भी नहीं चाहते थे।

अगस्त १९४० में सरकार ने देश के सामने जो प्रस्ताव रखे, वह हमारी राष्ट्रीयता के लिए एक खुली चुनौती के रूप में थे। वायसराय ने बड़ी उदारता-पूर्वक इस बात की घोषणा की कि वह अपनी कार्यकारिणी-सभा में कुछ अन्य सदस्यों को ले सकते हैं, व एक भारतीय रक्षा-समिति की स्थापना भी कर सकते हैं। युद्ध के समाप्त होते ही भारतीयों को अपना शासन-विधान स्वयं बनाने का अधिकार दिए जाने का आश्वासन भी था। कांग्रेस ने इस चुनौती का जवाब 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' के आन्दोलन द्वारा दिया, परन्तु गांधी जी और कांग्रेस

जितना अधिक संयम से काम लेते रहे, सरकार ने उनकी स्थिति को उतना ही ग़लत समझा। कांग्रेस के संयम में उसे कमज़ोरी की भावना दिखाई दी, कांग्रेस के प्रति उसका अविश्वास और भी प्रगाढ़ हो चला, और उसने एक ओर तो भारतीय मुसल्मानों को कांग्रेस के ख़िलाफ़ उभाड़ा, और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय जनमत को अपने पक्ष में करने का अथक प्रयत्न किया।

कांग्रेस की युद्ध-सम्बन्धी नीति को लेकर किस प्रकार अंग्रेज़ी सरकार और लीग में एक निकटतम संपर्क स्थापित हो चुका था, इसकी विस्तृत चर्चा एक पिछले अध्याय में आ चुकी है। हमारी सांप्रदायिक कठिनाइयों को लेकर संसार को यह बताने की कोशिश की गई कि हमारी राजनैतिक समस्याएं इतनी जटिल हैं कि युद्ध के बीच उन्हें छूना भी एक बारूद के ढेर में चिनगारी लगाने के समान है। भारत-मन्त्री मि० एमेरी ने १४ अगस्त १९४० को हाउस ऑफ़ कॉमन्स में बोलते हुए कहा, "आल्प्स पर्वत की ऊंची चोटियों में छुरी की धार जैसे संकीर्ण बर्फ़ पर संभल कर चल लेना अधिक आसान है, वर्त्तमान भारतीय राजनीति के पेचीदा, और गढ़ों से भरे हुए, दलदल में से बिना ठोकर खाए या किसी को नाराज़ किए, निकल जाने की तुलना में।"[1] "यदि कांग्रेस सचमुच भारतीय राजनीति के प्रमुख तत्त्वों का प्रतिनिधित्व कर पाती, जैसा कि वह दावा करती है, तब तो उसकी मांग चाहे कितनी बढ़ी हुई क्यों न होती, हमारी समस्या बिलकुल भिन्न, और आज के मुक़ाबिले में कहीं अधिक सरल, होती। यह सत्य है कि वह संख्या की दृष्टि से ब्रिटिश-भारत में सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था है, परन्तु देश का प्रतिनिधित्व करने का उसका दावा भारतवर्ष के जटिल राष्ट्रीय जीवन के बड़े आवश्यक तत्त्वों द्वारा अस्वीकार किया जा रहा है।"[2] इनमें पहला स्थान स्वभावतः "महान् मुस्लिम-समाज को, जिसकी संख्या ९ करोड़ है, और जो उत्तर-पश्चिमी व उत्तर-पूर्वी भारत में बहुमत, और देश-भर में अल्प-मत, के रूप में फैला हुआ है," दिया जा रहा था। "धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण में, ऐतिहासिक स्मृतियों व संस्कृति में, उनमें और उनके हिंदू देश-वासियों में अन्तर यदि अधिक नहीं तो कम से कम उतना गहरा तो है जितना यूरोप के दो राष्ट्रों में।"[2] इसके बाद देशी नरेशों का स्थान आता था—"जिनका राज्य हिंदुस्तान के एक-तिहाई भाग में फैला हुआ है, और जिसके अंतर्गत देश की एक-चौथाई आबादी रहती है।" मि० एमेरी का मत था कि मौजूदा परिस्थितियों में कांग्रेस की मांग एक व्यवहारिक मांग नहीं है।"[3]

१—India and Freedom, पृ० ६६। २—वही, पृ० ६८।
३—वही, पृ० ७१।

१६ नवंबर १६४१ को अपने एक दूसरे भाषण में मि० एमेरी ने कहा, "हम प्रजातन्त्र के लिए लड़ रहे हैं, इसलिए हिंदुस्तान में उसकी स्थापना क्यों न कर दी जाय, यह दलील देखने में तो तर्कपूर्ण और अकाट्य है, परन्तु कोई ऐसी राजनैतिक संस्था न तो मौजूद है, और न किसी ऐसी संस्था के निकट-भविष्य में बन जाने की आशा है, जो हिंदुस्तान का प्रतिनिधित्व कर सके या हिंदुस्तान के नाम पर कोई संयुक्त मांग पेश कर सके। प्रजातन्त्र का ऐसा कौनसा रूप है जिसके अन्तर्गत भारतवर्ष की जनताएं साथ-साथ रहने के लिए तैयार हो सकें ?[1] इस प्रकार के वक्तव्यों से हमारे मन में विक्षोभ का बढ़ना स्वाभाविक था। गांधी जी ने लिखा, "सङ्कट में प्रायः लोगों के दिल नरम पड़ जाते हैं, और उनमें वस्तु-स्थिति को समझने की तत्परता आजाती है, परन्तु ब्रिटेन के सङ्कट का, जान पड़ता है, मि० एमेरी पर रत्ती भर प्रभाव भी नहीं पड़ा है।"

क्रिप्स प्रस्ताव

७ दिसंबर १६४२ को जब जापान ने अचानक पर्ल बन्दरगाह पर हमला कर दिया, और हांग-कांग, सिंगापुर, फ़िलिपाइंस, मलाया, बरमा आदि अमरीकन व अंग्रेज़ी साम्राज्य के गढ़ एक के बाद एक, और तेज़ी से, धराशायी होने लगे—और जापान की सेनाएं भारतवर्ष की अरक्षित उत्तर-पूर्वी सीमा तक आ पहुँचीं—तब फिर, अचानक, अंग्रेज़ी सरकार की ओर से सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स हिंदुस्तान आये, और देश के नेताओं से राजनैतिक गत्यावरोध को दूर करने की दिशा में बातचीत आरम्भ की। भारतीय हृदयों में एक बार फिर आशा की योति चमकी। हमने यह अनुभव करके संतोष की सांस ली कि, देर से सही, अंग्रेज़ी सरकार जागी तो! क्रिप्स ने इस देश में अपने पहले भाषण में ही कहा कि नई योजना में हिंदुस्तान को इतनी आज़ादी होगी कि वह यदि चाहेगा तो युद्ध के फ़ौरन बाद ही अपने को पूर्ण स्वाधीन घोषित कर सकेगा। परन्तु राष्ट्र की उत्सुक वाणी ने पूछा, "आज के लिए आपकी योजना क्या कहती है ? आज जो हमारे राजनैतिक विकास की गति बिल्कुल रुद्ध होरही है, इससे हमें मुक्ति कैसे मिलेगी ?" क्रिप्स के पास इसका जवाब नहीं था। क्रिप्स ने राष्ट्रपति मौ० आज़ाद से अपनी पहली बातचीत में कहा था कि भारतवर्ष में शीघ्र ही एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो सकेगी, और वायसराय की स्थिति वही रह जायगी जो इंग्लैण्ड के सम्राट की अपने देश में है। परन्तु, बाद में जब मौलाना आज़ाद ने भविष्य के सभी प्रश्नों को एक ओर उठाकर रख देने की अपनी तत्परता बताई, और कहा कि "यदि सच्ची राष्ट्रीय सरकार बनती है तो

१—वही, पृ० ४१।

कांग्रेस अब भी उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार है", तो क्रिप्स अचानक सारी बातचीत के असफल होजाने की घोषणा के साथ इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो गए !

इसके लिए देश सचमुच तैयार नहीं था। तो क्या क्रिप्स प्रस्ताव भी एक धोखे की टट्टी था, दुनियां की आंखों में धूल झोंकने का एक प्रयत्न ? क्या चर्चिल ने सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स को हिंदुस्तान इसलिए भेजा था कि वह हमारे आपसी मत-भेदों का ढिंढोरा संसार के सामने पीट सकें ? क्रिप्स-मिशन की असफलता के कारणों के विशेष विश्लेषण की यहां आवश्यकता नहीं है। २६ अक्टूबर १६३६ को स्वयं क्रिप्स ने कहा था, "वर्त्तमान गत्यावरोध अंग्रेज़ी सरकार के समझौता न करने के निश्चय के कारण है, कांग्रेस पर उसका उत्तर-दायित्व नहीं है। कांग्रेस भारतीय जनता के न्यायपूर्ण अधिकारों की मांग सामने ला रही है। वायसराय का यह प्रस्ताव कि स्वयं उनके द्वारा एक सलाहकार-समिति का निर्माण कर लिया जाय, भारतीय जनता को, जो आत्म-निर्णय का अधिकार मांग रही है, अपमानित करना है। यह दलील कि सांप्र-दायिक कठिनाइयों के कारण, हिंदुस्तान में एक स्वतंत्र-शासन की स्थापना नहीं की जा सकती, निरर्थक है।" क्रिप्स द्वारा निर्धारित सिद्धांतों पर ही यदि उनकी योजना को कसा जाय तो उसकी सारहीनता स्पष्ट प्रगट होजाती है। उसमें भारतीय जनता की उन 'न्यायपूर्ण मांगों' को, जिनका कांग्रेस प्रतिनिधित्व कर रही थी, पूरा करने का कोई प्रयत्न नहीं था। युद्ध के दिनों में एक सलाहकार-समिति के अतिरिक्त कुछ भी देने के लिए वह तैयार नहीं थे। भारतीय जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार को बिना किसी शर्त्त और बहाने के मानने का कोई संकेत क्रिप्स-प्रस्तावों में नहीं था। सांप्रदायिक कठिनाइयों को बढ़ा-चढ़ा कर बताने और, मुस्लिम-हितों के नाम पर, देश की एकता और शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देने का उसमें स्पष्ट आयोजन था। ऐसी दशा में यदि देश ने उन प्रस्तावों के संबंध में विशेष उत्साह प्रगट नहीं किया तो यह स्वाभाविक ही था। क्रिप्स प्रस्तावों के सम्बंध में हमारे राजनैतिक दलों ने बाद में कुछ भी निर्णय बनाये हों, उनके सम्बंध में नेताओं से जो बातचीत चल रही थी उसे बीच में ही स्वयं क्रिप्स ने ख़त्म कर दिया था। प्रायः यह कहा जाता है कि हमें क्रिप्स प्रस्ताव स्वीकार कर लेने चाहिए थे, पर, सच तो यह है कि हमारे अस्वीकृत करने के पहले ही स्वयं क्रिप्स ने, उन्हें एक जलते हुए अङ्गारे के समान, दूर फेंक दिया था।

निराशा की मध्यरात्रि

क्रिप्स प्रस्ताव के असफल हो जाने की प्रतिक्रिया बड़ी भीषण हुई, क्योंकि वह अंग्रेज़ी सरकार की ओर से सहयोग का अंतिम प्रस्ताव था जिसके संबंध में बड़ी ऊंची-ऊंची आशाएं बांध ली गई थीं। उसकी असफलता पर देश में निराशा, असंतोष और विक्षोभ की एक आंधी-सी उठ खड़ी हुई। कुछ प्रखर-बुद्धि राजनीतिज्ञों ने उलझन से निकलने की वैधानिक चेष्टाएं कीं। श्री राजगोपालाचार्य ने अपनी पाकिस्तान संबंधी योजना के द्वारा कांग्रेस और मुस्लिम-लीग को निकट लाने का प्रयत्न किया। परन्तु, क्रिप्स प्रस्तावों के खोखलेपन ने गांधीजी के धैर्य को डिगा दिया था, और वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब सिवाय इसके कोई रास्ता नहीं रह गया था कि अंग्रेज़ों से साफ़ शब्दों में हिंदुस्तान छोड़ने के लिए कह दिया जाय। गांधी जी को यह विश्वास हो गया था कि इसमें न केवल हिंदुस्तान का ही फ़ायदा है, परन्तु इंग्लैण्ड की रक्षा का भी इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। गांधी जी देश के वर्त्तमान शासन पर अराजकता को तरजीह देते थे। अब वह हिंदू-मुस्लिम एकता की स्थापना के लिए भी रुकने के लिए तैयार नहीं थे—उनका यह विश्वास भी दृढ़ होगया था कि जब तक अंग्रेज़ हैं, हिंदू और मुसलमानों में एका होना असंभव है। गांधीजी की विचार-धारा को, जो देश के असंतोष का सच्चा प्रतिनिधित्व कर रही थी, कांग्रेस के "अगस्त-प्रस्ताव" में अभिव्यक्ति मिली।

यह सब जानते हैं कि अगस्त १९४२ में गांधीजी या कांग्रेस फ़ौरन ही कोई बड़ा आंदोलन चलाना नहीं चाहते थे। समझौते और बातचीत की नीति को उन्होंने बिल्कुल ही छोड़ नहीं दिया था। परन्तु, सरकार द्वारा "अगस्त-प्रस्ताव" का जो उत्तर दिया गया, वह भारतीय राष्ट्रीयता पर सब से बड़ा और सशक्त प्रहार था। गांधी जी व अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सब सदस्य, व देश के सभी प्रमुख कांग्रेसी, एक साथ, बिना किसी जांच-पड़ताल के, जेलों में डाल दिये गए। इसके परिणाम-स्वरूप जब देश भर में जनता ने अपना असंतोष प्रगट किया, तब मशीनगनों, लाठियों और घोड़ों की टापों के द्वारा उस असंतोष को कुचलने का प्रयत्न किया गया। कई स्थानों पर तो हवाई जहाज़ से बम भी गिराये गए। "अगस्त आंदोलन" और उसमें बरती जानेवाली सरकारी नीति ने राजनैतिक गत्यावरोध को अपनी चरम सीमा तक पहुँचा दिया। उन दिनों अधिकांश व्यक्तियों की यह धारणा हो चली थी कि यह भारत और इंग्लैण्ड के आपसी संबंधों पर ऐसा आघात था, जिसकी क्षति-पूर्त्ति भविष्य में हो पाना असंभव होगया था। उसके बाद घटनाएं भी कुछ ऐसा रूप लेती गईं जिससे इस

धारणा को पुष्टि मिली। १५ अगस्त '४२ को जेल में महादेव देसाई की अचानक मृत्यु के संवाद से तो मानवता में हमारा विश्वास ही डिग उठा था। फ़र्वरी १६४३ में गांधी जी ने २१ दिन का उपवास किया। उसमें उनकी हालत ख़तरनाक हो जाने व संसार भर से उनके छोड़ दिये जाने के आग्रह के सामने भी सरकार ने अपनी नीति में कोई परिवर्त्तन नहीं किया। कस्तूरबा गांधी का अस्वास्थ्य और देहावसान भी जिन परिस्थितियों में हुआ वे सरकार की हृदय-हीनता की द्योतक थीं। बाहर, हिंदू महासभा, नरम दल आदि सभी राजनैतिक संस्थाओं के अथक और अनवरत प्रयत्न भी गत्यावरोध में तनिक भी कम्पन उत्पन्न करने में असमर्थ रहे।

समझौते की अनिवार्यता

फिर भी राजनीति की गहराई तक जाने वाले व्यक्ति के लिए यह परिणाम निकाल लेना ठीक नहीं होता कि भारत और इंग्लैण्ड में अब किसी प्रकार का समझौता होने की आशा रह ही नहीं गई थी, क्योंकि राजनीति तो समझौते का आधार लेकर ही आगे बढ़ती है। राजनैतिक गत्यावरोध भारत और इंग्लैण्ड के आपसी संबंधों के इतिहास में कोई नई चीज़ नहीं है। जब कभी भारतवर्ष की स्वाधीनता की मांग ने एक प्रबल रूप ले लिया, तभी राजनैतिक गत्यावरोध उठ खड़ा हुआ—और जब कभी इस मांग में कुछ शिथिलता आई, अथवा दूसरी ओर से समझौते के लिए कोई क़दम बढ़ाया गया, तभी वह सुलझ गया। सच तो यह है कि भारतीय राजनीति के क्रियात्मक वर्षों के इतिहास को देखा जाय तो उसमें हमें एक वैज्ञानिक क्रम दिखाई दे सकता है। राष्ट्रीय भावनाओं की प्रायः एक बाढ़-सी आजाती है, जिसकी अभिव्यक्ति हम संस्कृति और कला, साहित्य अथवा समाज-सुधार की नवीन प्रवृत्तियों में पाते हैं। इसके बाद सरकार की ओर से भारतीय राष्ट्रीयता के आधार-तत्त्वों में फूट डालने का प्रयत्न किया जाता है। कुछ नई समस्याएं खड़ी कर दी जाती हैं। १६०६ में सांप्रदायिक चुनाव, १६३० में देशी नरेशों की सार्वभौमता का सिद्धान्त, १६४२ में मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांग का अप्रत्यक्ष समर्थन—इसी प्रकार की समस्याएं थीं। भारतीय राष्ट्रीयता उसका उत्तर देश में एकता की स्थापना के लिए एक विशद प्रयत्न के रूप में देती है—और इस प्रयत्न का अंत प्रायः एक बड़े राजनैतिक आंदोलन में होता है। इस राजनैतिक आंदोलन में भारत और इंग्लैण्ड के आपसी सम्बंधों को जो ठेस पहुँचती है उसे पूरा करने की दिशा में एक ओर तो बड़े-बड़े विधान-शास्त्री लग जाते हैं—१६२४ में मोतीलाल नेहरू और चितरञ्जनदास, १६३४ में कांग्रेस का समग्र दक्षिण-पक्ष, १६४५ में राजाजी

और सप्रू-कमेटी—और दूसरी ओर गांधीजी अपने रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा न केवल उस क्षति की पूर्ति में ही कटिबद्ध होजाते हैं, परन्तु राष्ट्रीय जीवन को और भी सशक्त बना लेते हैं, जिससे वह अगले संघर्षमें विजयी होने का प्रयत्न कर सके।

राजनीति में निराशा का कोई स्थायी स्थान नहीं है। यह मान लेना कि अंग्रेज़ सत्ता छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे, एक असंभव कल्पना को प्रश्रय देना है। अंग्रेज़ों के हाथ से सत्ता पहले भी हटी है, आज भी हट सकती है, भविष्य में हटेगी भी। सच तो यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों ने सत्ता को उनके हाथों में सौंपा, और उन्हीं परिस्थितियों का उल्टा चक्र उन्हें सत्ता को छोड़ देने पर बाध्य भी कर सकता है। भारत में अंग्रेज़ी-साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने का निश्चय उस समय संभव हो सका जब अंग्रेज़ी सरकार ने देखा कि कांग्रेस कमज़ोर है, और शक्ति के प्रदर्शन से, व चालाकी से उसे अहिंसा की पटरी से उतार देने से, वह कुचली जा सकती है। उसने यह भी देखा कि मुस्लिम-लीग अपने स्वार्थ के कारण, उसकी सहायता करने के लिए तैयार है। उसे यह भी आशा थी कि अपने अपरिमित प्रचार-साधनों द्वारा वह संसार को धोखे में रख सकेगी। वह यह भी जानती थी कि स्वयं उसके देश की जनता, युद्ध के नाम पर, ख़ामोश रखी जा सकती थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति

अगस्त १९४२ और उसके बाद के महीनों में सरकार ने राष्ट्रीय-आंदोलन को कुचलने के लिए जो भी किया जा सकता था किया। देश भर में दमन-चक्र अपने पूरे वेग से चला। स्कूल में पढ़ने वाली लड़कियों पर लाठियों की मार पड़ी, और कॉलेज के विद्यार्थियों पर मशीनगनें चलाई गईं। ऐसे लोग भी, जिनका राजनीति से दूर का संबंध भी नहीं था, जेल में डाल दिये गए। राष्ट्र एक बार तो बौखला उठा। जनता आत्म-नियंत्रण खो बैठी, और कुछ स्थानों पर उसने हिंसा का मार्ग भी अपनाया। उससे सरकार को आंदोलन के दबाने में सहायता मिली, पर अपने समग्र बल के समूचे प्रयोग से भी सरकार देश की राष्ट्रीय-भावनाओं को कुचल नहीं सकी। यह सच है कि मुस्लिम-जनता आंदोलन से सहानुभूति रखते हुए भी, मि० जिन्ना व अल्लामा मशरिक़ी के आदेश के सामने, उसमें पूरा भाग न ले सकी, परन्तु उसने, मि० जिन्ना की इस घोषणा के बावजूद भी कि अगस्त-प्रस्ताव सरकार के प्रति विद्रोह का ऐलान ही नहीं, गृह-युद्ध के लिए खुली चुनौती भी था, कहीं राष्ट्रीय आन्दोलन का खुला विरोध नहीं किया। सरकार द्वारा युद्ध के आधुनिक हथियारों के प्रयोग के सामने आंदोलन का रूप बदल जाना तो स्वाभाविक ही था। महीनों

तक, देश के कोने-कोने से गुप्त संवाद-पत्र प्रकाशित होते रहे, हज़ारों-लाखों व्यक्तियों ने स्वाधीनता की वेदी को अपने त्याग और बलिदान से सुलगते रखा, और नई-नई घटनाएं घटती रहीं। यह सच है कि दिन ब दिन निराशा भी बढ़ती जा रही थी। पर, मई १९४४ में गांधीजी के छूटने के एक महीने के भीतर देश ने अपने खोये आत्म-विश्वास को फिर से पा लिया। उसके बाद एक वर्ष बीता भी नहीं था कि पूर्ण-स्वतन्त्रता की मांग को एक बार फिर हम न सिर्फ़ मकान की चोटियों से दोहराने ही लगे थे, आसपास के वातावरण में उसकी पूर्त्ति का आभास भी पाने लगे थे।

आज यह बात स्पष्ट होगई है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एक ऐसी शक्ति है, जिसे कुचला नहीं जा सकता। आज तो कट्टर अंग्रेज़ भी इस तथ्य को समझ गए हैं। प्रबल दमन के बाद वातावरण में कुछ सन्नाटा-सा रहता है, परन्तु उसका चक्र थमता भी नहीं कि असंतोष की चिनगारियां फिर फूट निकलती हैं। पुराने देश-भक्त जेलों में ठूंस दिये जाते हैं। नये देशभक्तों की एक अनवरत शृङ्खला उनका स्थान लेने के लिए सामने आ जाती है। विरोधी पक्ष की ओर से प्रत्येक 'चैलेंज' के बाद राष्ट्रीय आंदोलन अधिक सशक्त हो उठता है। जब सरकार ने मध्यम श्रेणी के राजनैतिक आन्दोलन-कर्त्ताओं के विरुद्ध कृषकों के हित के सम्बंध में अपनी चिंता प्रगट की, कांग्रेस ने फ़ौरन किसानों को अपने व्यापक आंदोलन में समेट लिया। जब अंग्रेज़ी सरकार ने मुसल्मानों को राष्ट्रीय-आंदोलन के विरुद्ध खड़ा करना चाहा, कांग्रेस उनमें से सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को अपने साथ ले सकी। यह कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण ही था कि कांग्रेस अगस्त १९४२ की उत्क्रांति में मुसल्मानों का पूरा सहयोग प्राप्त नहीं कर सकी। सरकार द्वारा अस्पृश्य जातियों को मिला लेने के लिए जितने भी प्रयत्न हुए हैं, वे सब राष्ट्रीयता की चट्टान पर चकनाचूर होते रहे हैं। कांग्रेस तो देशी नरेशों के परम्परागत प्रभुत्व को पार करके उनकी प्रजा की अविभाज्य भक्ति को भी प्राप्त कर सकी है। पिछले कुछ वर्षों में शायद ही कोई हिंदुस्तानी ऐसा रह गया हो, चाहे वह ऊंची सरकारी नौकरी में हो चाहे फ़ौज में, जो हिंदुस्तान की पूर्ण आज़ादी में विश्वास न रखता हो।

साम्प्रदायिक समझौते की सम्भावनाएं

परन्तु, यह कहा जा सकता है कि जब तक हमारी सांप्रदायिक समस्या सुलझ नहीं जाती, जब तक हिंदू और मुसल्मान दोनों मिलकर आज़ादी के लिए प्रयत्नशील नहीं होते, तब तक हमारा स्वतन्त्र होना असम्भव है। क्या भारतीय राष्ट्रीयता अपने समस्त बल को लगा कर भी सांप्रदायिक समस्या को सुलझा

सकेगी ? इस संबंध में भी मैं निराश नहीं हूँ, यद्यपि शिमला कान्फ्रेंस (जून-जुलाई, १६४५) में मुस्लिम-लीग का जो रवैया रहा उससे यह स्पष्ट होगया है कि समस्या जितनी कठिन दिखाई देती थी, उससे कहीं अधिक कठिन है। सरकार ने मुसल्मानों को राष्ट्रीय जीवन से अलहदा करने के जितने भी प्रयत्न किये, कांग्रेस उन सबको काटती आई है। १६४२ में जब सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स ने पाकिस्तान की अस्पष्ट मांग को व्यवहारिक राजनीति के स्तर तक उटा दिया, तब फ़ौरन राजाजी ने अपनी योजना के द्वारा कांग्रेस और लीग के बीच की खाई को पाटने की कोशिश की। कांग्रेस उन दिनों अंग्रेज़ी-साम्राज्य से संघर्ष में लगी हुई थी, इस कारण इस योजना पर अधिक ध्यान न दे सकी, परन्तु १६४४ में जेल से आते ही गांधी जी ने उसके आधार पर लीग के नेता से बातचीत आरम्भ कर दी। सितम्बर १६४४ में तीन सप्ताह तक गांधी जी और मि० जिन्ना सांप्रदायिक प्रश्नों पर विचार-विनिमय करते रहे। इस विचार-विनिमय में गांधी जी, भारतीय हितों को दृष्टि से ओझल न करते हुए, मुसल्मानों को संतुष्ट करने की दिशा में जितना आगे जा सकते थे, गये। हिंदू और मुसल्मान दो अलग राष्ट्र हैं, इस सिद्धांत को मानने के लिए तो वह तैयार नहीं थे, पर इसके अतिरिक्त वह मुसल्मानों को सब कुछ देने के लिए तैयार थे। लाहौर-प्रस्ताव के सम्बंध में उन्होंने कहा कि वह बिल्कुल उचित है, "जहां मुसल्मानों का बहुमत है वहां उन्हें अपना एक स्वतन्त्र-राज्य क़ायम करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, और यह बात राजाजी की व मेरी दोनों योजनाओं में मान ली गई है। यह अधिकार मुसल्मानों को, बिना किसी हिचकिचाहट के, दे दिया गया है। परन्तु जहां तक एक ऐसी पूर्ण स्वतन्त्र सार्वभौम सत्ता का प्रश्न है जिसके अनुसार दोनों देशों में कोई सामान्य तत्त्व रहे ही नहीं, उसे मैं असम्भव मानता हूं।" पिछले दिनों राष्ट्रपति मौ० आज़ाद ने अपने वक्तव्यों द्वारा और कांग्रेस-कार्य-समिति ने अपने प्रस्तावों द्वारा प्रांतीय आत्म-निर्णय के सम्बन्ध में अपनी स्थिति को बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है—और मैं मानता हूं कि सितम्बर १६४४ में क़ायदे-आज़म के साथ अपनी बातचीत में गांधीजी ने जो दृष्टिकोण लिया था, उसमें और कांग्रेस की वर्त्तमान स्थिति में कोई अन्तर नहीं है।

मुस्लिम-लीग के पिछले रवैये, और मुस्लिम जनता में लीग की लोकप्रियता, को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मुसल्मानों के सामने आज धर्मान्धता और राष्ट्रीयता के बीच एक को चुन लेने का सवाल है। मुस्लिम-लीग अपने उस उद्देश्य पर ही, जिसकी पूर्त्ति के लिए उसकी स्थापना हुई थी, आज दृढ़ नहीं है। उसके निर्माण का मुख्य उद्देश्य तो यह था कि मुसल्मानों के हितों व

स्वार्थों की रक्षा की जाए, परन्तु आज वह एक ऐसे आदर्श को लेकर चल रही है जो मुस्लिम हितों व स्वार्थों के बिल्कुल ही विरुद्ध जाता है। आज़ वह शक्ति की राजनीति (power-politics) में विश्वास करने लगी है—और मुस्लिम-जनता में अपनी शक्ति को बढ़ाने के अच्छे-बुरे किसी भी साधन को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। इसी कारण, पिछले कई वर्षों में कांग्रेस द्वारा किए गए समझौते के सभी प्रस्तावों को वह ठुकरा चुकी है। वह न तो पाकिस्तान की अपनी मांग से हटने के लिए तैयार है और न अपने इस दावे को छोड़ने के लिए ही उद्यत है कि वह मुसल्मानों की एक मात्र प्रतिनिधि-संस्था है। ऐसी दशा में, मुस्लिम-लीग का राष्ट्रीय संग्राम में कांग्रेस के कंधे से कंधा भिड़ा कर खड़ा होना एक असंभव कल्पना है। यह संभव हो सकता है कि मुस्लिम-लीग का प्रगतिशील अंग उसे अपना वर्त्तमान प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण बदलने पर मजबूर कर दे—पर इसमें मेरा अधिक विश्वास नहीं है। मैं समझता हूँ कि ज्यों-ज्यों मुस्लिम-लीग एक कट्टर सांप्रदायिक दृष्टिकोण लेती जाएगी, राष्ट्रवादी मुसल्मान अपनी शक्ति और संगठन को बढ़ाते जाएंगे। धर्मांधता और राष्ट्रीयता के बीच किसी एक चीज़ को चुन लेने की मुसल्मानों की जो ज़िम्मेदारी है, उसकी पूरी अनुभूति उन्हें करा देने का दायित्व राष्ट्रवादी मुसल्मानों को ही है—और, जान पड़ता है, शिमला-कान्फ्रेंस के बाद से वे लोग अपनी इस ज़िम्मेदारी को बहुत अच्छी तरह से समझने लगे हैं। मेरा तो पूरा विश्वास है कि आने वाले चुनावों का परिणाम चाहे कुछ भी हो—कांग्रेस द्वारा उठाई गई आज़ादी की पुकार का देश के अधिकांश मुसल्मानों द्वारा समर्थन किया जाना अनिवार्य है—ऐतिहासिक परिस्थितियों और जनमत की अपरिमित शक्तियों के प्रवाह को रोका नहीं जा सकता। हिंदुस्तान को आज़ाद होना है; हमें अपने देश के लिए प्रजातंत्र-शासन का एक नया प्रयोग करना है, मुसल्मान आत्म-निर्णय का अधिकार लेकर रहेंगे। ये ऐतिहासिक सत्य हैं जिनकी ओर से हम आँख मूँद नहीं सकते।

अन्तर्राष्ट्रीय जनमत

हमारे देश में एक दल ऐसा रहा—जिसके प्रतिनिधि सुभाष बोस थे—जो अंग्रेज़ों के शत्रु-राष्ट्रों की सहायता से हिन्दुस्तान को आज़ाद कर लेना चाहता था। हममें से अधिकांश ने कभी इसमें विश्वास नहीं किया, परन्तु आज तो इस आशा का स्रोत ही नष्ट हो गया है। एक दूसरा बहुत बड़ा वर्ग ऐसा था जो इंग्लैंड पर मित्र-राष्ट्रों के दबाव की आशा रखता था। मेरा तो कुछ ऐसा विश्वास है कि उस नैराश्य और खीझ से भरी घड़ी में, जब कांग्रेस ने अपना

अगस्त-प्रस्ताव पास किया था, तब भी उसके प्रमुख नेताओं के मन से यह आशा बिल्कुल ही लुप्त नहीं हो गई थी कि अन्य मित्र-राष्ट्र इंग्लैण्ड को भारतीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध कोई बड़ा क़दम नहीं उठाने देंगे। गांधी जी के फ़र्वरी १९४३ के उपवास के दिनों में, व बाद में जब ड्रयू पीयर्सन ने रूज़वेल्ट के नाम फ़िलिप्स का पत्र छापा, और विजयलक्ष्मी पण्डित की अमरीका-यात्रा के अवसर पर भी, लोगों की यह धारणा बनी रही कि इंग्लैण्ड पर शायद अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का कुछ दबाव पड़े। यह अच्छा ही है कि हम अब इस बात को समझने लगे हैं कि अपनी आज़ादी के लिए हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्र पर ही निर्भर नहीं रह सकते। यदि हम आज़ादी चाहते हैं तो हमें एक ओर तो हिन्दू-मुस्लिम समस्या का हल ढूंढ़ निकालना है, और दूसरी ओर भारतवर्ष और इंग्लैण्ड के आपसी संबंधों को निश्चित करना है। हम यह भी जानते हैं कि ये दोनों समस्याएँ एक दूसरे के साथ गुँथी हुई है, परन्तु हम यदि इन्हें सुलझा लें और अपना राष्ट्रीय बल बढ़ा लें तो इंग्लैण्ड की इच्छा-शक्ति हमें ग़ुलाम रखने के पक्ष में चाहे कितनी ही सशक्त क्यों न हो, हम उसे झुका सकेंगे।

हमें अपनी आज़ादी की लड़ाई में विदेशों से चाहे किसी प्रकार की सीधी सहायता न मिली हो, पर उसे अन्य देशों के लोकमत का समर्थन प्राप्त है, यह भी कुछ कम बात नहीं है। संसार के लोकमत का प्रभाव इंग्लैण्ड की भारतीय नीति पर पड़ना अनिवार्य है। इंग्लैण्ड संसार से अलहदा नहीं है—आज तो कोई भी देश अपने को दुनियां से अलहदा नहीं मान सकता। अमरीका या रूस या चीन हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए क्या सोचते हैं, उसके प्रभाव से वह अपने को मुक्त नहीं रख सकता। इंग्लैण्ड जानता है कि पिछले पाँच वर्षों में संसार का लोकमत कितना अधिक भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में बन गया है। कुछ प्रमुख अमरीकन राजनीतिज्ञों—विल्की, वैलेस और सम्नर वेल्स—ने हिन्दुस्तान की आज़ादी का खुले शब्दों में समर्थन किया है। रूस ने स्पष्ट शब्दों में अधिक नहीं कहा, परन्तु उसके विदेश-मंत्री मो० मोलोटोव ने सैनफ्रांसिस्को में हिन्दुस्तान के संबंध में रूस के दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है। मार्शल और मैडम च्यांग-काई-शेक ने तो सदा ही हिन्दुस्तान की आज़ादी का पक्ष लिया है। मध्य-पूर्व के सभी देशों में हिन्दुस्तान को आज़ाद देखने की उत्सुकता है। इंग्लैण्ड में भी जनमत तेज़ी से भारतीय स्वतन्त्रता का समर्थक बनता जा रहा है। प्रतिदिन सशक्त बनने वाले विश्व के इस संगठित लोकमत के सामने इंग्लैण्ड की सरकार को झुकना ही पड़ेगा।

समाधान की दिशा

फिर भी वास्तविक संघर्ष भारतीय राष्ट्रीयता—आज़ाद होने की लगन—और अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद—भौतिक सुविधाओं के मोह—के बीच है। भारतीय राष्ट्रीयता जितनी सशक्त बनेगी, हमारी आज़ादी की लगन जितनी तीव्र होगी, उतना ही हम अंग्रेज़ी सरकार को समझौता करने के लिए अधिक विवश कर सकेंगे। हमारे सामने सबसे बड़ा कार्य उन शक्तियों का सृजन करना है जो इंग्लैण्ड में समझौते की भावना जाग्रत कर सकें। केवल अपनी आन्तरिक—सांप्रदायिक—समस्या का समाधान ढूंढ़ लेने से ही काम नहीं चलेगा—यद्यपि उससे काम के चल निकलने में सुभीता बहुत अधिक हो जाएगा। इसी प्रकार केवल अन्तर्राष्ट्रीय जनमत को अपने पक्ष में कर लेना ही काफ़ी नहीं है—वह तो आज भी पर्याप्त मात्रा में हमारे पक्ष में है ही। हमारी राजनैतिक समस्या सुलझेगी हमारे और इंग्लैण्ड के बीच एक सीधे समझौते, या संघर्ष, के परिणाम स्वरूप। इंग्लैंड को वह समझौता करने के लिए जिन साधनों के द्वारा मजबूर किया जाए वे हिंसात्मक हों अथवा अहिंसात्मक, यह भी एक प्रश्न है। मैं मानता हूं कि केवल भारतीय परिस्थितियों में ही नहीं, संसार के किसी भी देश में आज संगठित सरकार का हिंसा-द्वारा विरोध संभव नहीं रह गया है। परन्तु, यदि हिंसा व्यवहार्य नहीं है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी आशा के दीपक को बुझा दें, और भाग्य के सामने घुटने टेक दें। सौभाग्य से, आज हमारे बीच अमर आशा का ध्रुव-तारा, गांधी, मौजूद है। वह हमारा मार्ग-प्रदर्शक है। उसके बताए हुए अहिंसा के मार्ग पर चल कर ही आज हमारी राष्ट्रीयता ने इतनी शक्ति संग्रहीत की है। सविनय अवज्ञा का प्रयोग अपने सामूहिक रूप में विशेष परिस्थितियों में ही किया जा सकता है—आज वे परिस्थितियां देश में मौजूद नहीं हैं—परन्तु, गांधी जी का बताया हुआ रचनात्मक कार्यक्रम हमारे सामने है। राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने का इससे अच्छा और प्रभावपूर्ण दूसरा मार्ग नहीं है। रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा यदि हम अपनी राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाते चलें तो हमारे देश के प्रति अंग्रेज़ों की न्याय वृत्ति अपने आप ही सजग और दीपित हो उठेगी। तब हमें आज़ादी माँगनी नहीं पड़ेगी, वह दौड़ कर हमारे पास आएगी।

: ८ :

पाकिस्तान : व्यवहारिक कठिनाइयां

सीमाओं का निर्धारण

पाकिस्तान-संबंधी आंदोलन किस प्रकार देश के मुस्लिम-समाज में व्यापक होता गया, किन परिस्थितियों में मुस्लिम-लीग ने उसे अपनाया, और किन कारणों से उसने आज इतना बल संगृहीत कर लिया है, इसकी विस्तृत चर्चा पहले आचुकी है। इस अध्याय में हम यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि यदि यह मान भी लिया जाय कि पाकिस्तान की मांग सर्वथा न्याय-संगत है, और हमारी सांप्रदायिक समस्या के सुलझाने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग है ही नहीं, तो भी कहां तक उसकी पूर्त्ति सम्भव और व्यवहार्य है। इस संबंध में सबसे पहले तो हमें यह देखना है कि मुस्लिम-लीग की वास्तविक मांग है क्या? लाहौर-प्रस्ताव के अनुसार, "भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरी के समीप-स्थित इकाइयों की ऐसी हदबन्दी होनी चाहिए कि, आवश्यक प्रादेशिक हेर-फेर के बाद, जहां मुसल्मान बहुसंख्या में हों, जैसा कि भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी भागों में है, वहां उन्हें मिलाकर स्वाधीन राज्यों की स्थापना की जा सके।" यह मांग निःसंदेह अस्पष्ट है, और मुस्लिम-लीग व उसके नेताओं से स्वभावतः ही यह आशा की जाती थी कि वे इसकी विशद व्याख्या देश के सामने रखेंगे, पर आज तक लाहौर-प्रस्ताव के स्पष्टीकरण की दिशा में कोई क़दम नहीं उठाया गया। प्रत्युत, अप्रैल १९४३ में जब मि० जिन्ना से पूछा गया कि पाकिस्तान की हदबन्दी के सम्बन्ध में उनकी क्या कल्पना है, तो उन्होंने उसका उत्तर यह दिया कि मुस्लिम-लीग ने पाकिस्तान का कोई नक़्शा तैयार नहीं कराया है।

इस सम्बन्ध में पिछले वर्षों में जो वाद-विवाद, विचार-विनिमय, भाषण-संभाषण, अख़बारी बयान व चर्चा, होते रहे हैं उनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पाकिस्तान मुस्लिम बहु-संख्यक प्रांतों में—उत्तर-पश्चिम में सीमाप्रांत, पञ्जाब व सिंध, और उत्तर-पूर्व में बंगाल व आसाम, को मिलाकर बनाया जाएगा। परन्तु, जान पड़ता है, मुस्लिम-लीग ने आरम्भ से ही इस बात को समझ लिया था कि यदि ये प्रान्त अपने वर्त्तमान रूप में ही पाकिस्तान में सम्मिलित कर लिए गए तो उससे पञ्जाब व बङ्गाल के उन भागों में रहने वाले व्यक्तियों के साथ

बड़ा अन्याय होगा, जिनमें ग़ैर-मुसल्मानों की संख्यां मुसल्मानों के मुक़ाबिले में बहुत ज़्यादा है। सम्भवतः इसी कारण 'प्रादेशिक हेर-फेर' की बात कही गई है। प्रादेशिक हेर-फेर के सम्बंध में यह अनुमान किया जाता है कि पञ्जाब से अंबाला-डिवीज़न व बङ्गाल से बर्दवान-डिवीज़न को पाकिस्तान से बाहर जाने की इजाज़त मिल सकेगी। यदि ऐसा हुआ तो पञ्जाब व बङ्गाल में मुसल्मानों की स्थिति अधिक दृढ़ हो सकेगी—क्योंकि उनका बहुमत क्रमशः ५७.१ से ६२.७ प्रतिशत और ५४.७ से ६५ प्रतिशत बढ़ जायगा।

प्रस्ताव में कहीं यह बात स्पष्ट नहीं की गई है कि पाकिस्तान की सीमाओं के निर्धारण का आधार क्या रहेगा, परन्तु साधारणतः माना यह जाता है कि आत्म-निर्णय के अधिकार की दृष्टि से प्रत्येक प्रान्त को एक इकाई माना जायगा और उसकी धारासभा को, प्रान्त के लिए, निर्णय करने का अधिकार होगा। परन्तु इसमें कठिनाई यह आती है कि इतना बड़ा और महत्त्वपूर्ण निर्णय प्रान्तीय धारासभा के बहुमत के हाथ में छोड़ देना कहां तक न्याय सङ्गत होगा। इस कठिनाई से बचने के लिए सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स ने यह सुझाव उपस्थित किया था कि यदि अखिल–भारतीय संघ–शासन में शामिल होने के पक्ष में प्रान्तीय धारा–सभा के ६० प्रतिशत से कम सदस्यों का मत हो तो इस प्रश्न का निर्णय प्रांत के वयस्क पुरुषों के हाथ में छोड़ देना चाहिए, पर मुस्लिम-लीग ने इस सुझाव को अस्वीकृत कर दिया। लीग का कहना था कि जब कि पाकिस्तान का आधार इस सिद्धान्त में है कि मुसल्मान एक अलहदा राष्ट्र हैं, स्वभावतः उसके निर्माण में केवल मुसल्मानों का मत ही लिया जाना चाहिए। मुस्लिम-लीग का यह आग्रह स्पष्टतः ही अनुचित है, क्योंकि यदि किसी प्रान्त के मुसल्मानों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जाता है, तो कोई कारण नहीं है कि उस प्रान्त के हिन्दू क्यों उस अधिकार से वंचित रखे जाएं। इस कठिनाई से बचने के लिए डा० अम्बेडकर ने यह सुझाव पेश किया था कि मुसल्मानों व हिन्दुओं को अलहदा-अलहदा अपनी सम्मति व्यक्त करने का अधिकार दिया जाए। यह प्रस्ताव भी व्यवहारिक दृष्टि से बड़ा दोष पूर्ण है।

सिखों की समस्या

परन्तु, पंजाब के इस प्रकार के विभाजन के संबंध में सबसे बड़ा प्रश्न जो हमारे सामने आता है वह सिखों का प्रश्न है। अम्बाला-प्रदेश को पंजाब से अलहदा कर दिए जाने का अर्थ होगा, सिखों की मातृ-भूमि को दो भागों में बांट देना। सिख कदापि इस बात के लिए तैयार न होंगे। सिखों की संख्या बहुत कम है—पंजाब में भी उनकी आबादी १५ फ़ीसदी से अधिक नहीं है—

परन्तु वह एक योद्धा क़ौम हैं, और उनकी इच्छा की आसानी से अवज्ञा नहीं की जा सकती। पंजाव की राजनीति में सदा ही सिखों का प्रमुख भाग रहा है। यों तो देश की रक्षा में सिखों ने अपनी संख्या के अनुपात से बहुत अधिक भाग लिया है, पर आज का पंजाव, आर्थिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक सभी दृष्टिकोणों से, सिखों का बड़ा ऋणी है। पंजाव में सिखों के ७०० से अधिक गुरुद्वारे हैं, जिनकी अपनी बड़ी संपत्ति है, व जिनके साथ उनके गुरुओं, सन्तों व शहीदों की स्मृतियां जुड़ी हुई हैं। ४०० से अधिक शिक्षा-संस्थाएं, जिनमें कॉलेज, स्कूल, कन्या-पाठशालाएं और औद्योगिक-शिक्षा संबंधी संस्थाएं शामिल हैं, उनके तत्वावधान में चल रही हैं। प्रान्त की सब से उपजाऊ ज़मीन उनके पास हैं, और प्रान्त की आय का ४० प्रतिशत से अधिक सिखों द्वारा दिया जाता है। १६१६ के सुधारों में, गवर्नर की कार्यकारिणी के ३ सदस्यों में से १ सिख होता था, और १६२६ से १६३७ तक, जब कार्यकारिणी में एक मुसलमान सदस्य की वृद्धि हो गई थी, तब भी सिखों का प्रतिनिधित्व २५ प्रतिशत रहा। यूनियनिस्ट मंत्रि मंडल के बनने के बाद भी उसे उस समय तक स्थायित्व नहीं मिल सका था, जब तक कि उसने सिखों के एक दल-विशेष के साथ समझौता नहीं कर लिया, और अकाली-दल के नेता सरदार बल्देवसिंह को मंत्रिमंडल में नहीं ले लिया।

यह सब जानते हैं कि सिख अपने समस्त बल से पाकिस्तान का विरोध करेंगे। सिख इस बात को मान लेने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हैं कि पंजाव मुसलमानों का प्रान्त है। उनका कहना है कि जब पंजाव की शहरी सम्पत्ति का ८० फ़ीसदी से ज्यादा हिस्सा ग़ैर-मुसलमानों के पास है, जब प्रान्त के आय-कर व सम्पत्ति-कर आदि का ८० फ़ीसदी से अधिक भाग ग़ैर-मुसलमानों द्वारा दिया जाता है, जब प्रांत के उद्योग-धंधे, कल-कारख़ाने, इंश्योरेंस व फ़िल्म कम्पनियां, व्यापार और वाणिज्य, प्रधानतः ग़ैर-मुसलमानों के हाथ में हैं, और जब प्रान्त के सांस्कृतिक जीवन के निर्माण और निर्देशन के स्रोत भी ग़ैर-मुसलमान ही हैं, तब पंजाव को मुस्लिम-प्रांत मान लेना वस्तु-स्थिति का उपहास करना है। सिखों ने आरम्भ से ही पाकिस्तान का विरोध किया। उनके क्रिप्स-प्रस्तावों को ठुकरा देने का मुख्य आधार यही था कि उनसे प्रांतों के बहुमत को अखिल-भारतीय संघ से अपने प्रांत को अलहदा कर लेने की इजाज़त मिल जाती थी। साथ ही उन्होंने यह भी घोषणा की, "अखिल-भारतीय-संघ से पंजाव को अलहदा करने के प्रयत्न का मुक़ाबिला हम प्रत्येक संभव-साधन के द्वारा करेंगे।"

सिखों द्वारा पाकिस्तान का जो विरोध किया जा रहा है, उसे हम उपेक्षा की

दृष्टि से नहीं देख सकते। यदि, सिखों के विरोध के बावजूद भी, पाकिस्तान अमल में आता है तो यह निश्चित मानना चाहिए कि पंजाब के अन्तर्गत एक सिख-पाकिस्तान का निर्माण होकर रहेगा। राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में सिखों को जो असुविधाएं रही हैं, उनके संबंध में मुसल्मानों से कम कड़वाहट उनके मन में नहीं है। उनका कहना है कि यों तो १६३५ के शासन-विधान में ही, उन्हें पंजाब की धारासभा में १७५ में से केवल ३३, सीमाप्रांत में ५० में से ३ व केन्द्रीय धारासभा में २५० में से ६ स्थान देकर उनके राजनैतिक जीवन पर एक मर्माघात किया गया है, परन्तु स्वयं उनके अपने प्रांत, पंजाब, में भी उनके साथ अन्याय हुआ है। युक्त-प्रान्त में मुसल्मानों की आबादी केवल १३ प्रतिशत है, पर उन्हें ३० प्रतिशत स्थान प्राप्त हैं, परन्तु सिखों को पंजाब में केवल १६ प्रतिशत स्थान दिए गए हैं। पंजाब के मुस्लिम-मंत्रिमंडल की नीति के संबंध में भी उनकी शिकायतें कांग्रेसी-प्रांतों में मुसल्मानों की शिकायतों की तुलना में कम गंभीर नहीं हैं। उनका कहना है कि—

१—प्रांतीय शासन के कार्य-कारी-मंडल में सिखों का अनुपात कम कर दिया गया, व शासन के उच्च पद ज्यों-ज्यों ख़ाली होते रहे, मुसल्मानों को दिए जाते रहे, सिखों को उनमें कोई स्थान नहीं मिला।

२—सिखों की शिक्षा-संस्थाओं को निरुत्साहित करने की दिशा में यूनियनिस्ट-मंत्रिमंडल ने भरसक प्रयत्न किया, उन्हें जो सरकारी सहायता मिलती थी उसमें कमी की गई, व कई संस्थाओं को सहायता देने से इनकार कर दिया गया।

३—प्रांत के हिन्दू, मुसल्मान व सिख सभी की मातृ-भाषा पंजाबी होते हुए भी सारा सरकारी काम-काज उर्दू-भाषा व फ़ारसी लिपि में किया जाता है और प्रारंभिक शिक्षा के लिए भी उर्दू को ही माध्यम माना गया है।

४—सिखों के धार्मिक जीवन में भी हस्तक्षेप किया गया। सरकारी व अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं में 'झटके' पर प्रतिबंध लगा दिया गया है।

सिखों का तो यहां तक कहना है कि पञ्जाब का समस्त शासन-तन्त्र मुसल्मानों का पक्षपात, व ग़ैर-मुसल्मानों के साथ अन्याय, करता रहा है। इस विश्वास के होते हुए यदि वे किसी भी मुस्लिम बहुमत वाले शासन में अपने को पूर्ण सुरक्षित न मानें तो हम इस सम्बन्ध में उनसे कोई शिकायत कैसे कर सकते हैं?

इसके साथ ही सिखों का एक अलग राष्ट्र होने का दावा भी कम से कम मुसल्मानों के दावे से कम बल नहीं रखता। पञ्जाब उनकी अपनी मातृभूमि

है। मास्टर तारासिंह के शब्दों में, "पञ्जाब मुस्लिम प्रांत नहीं है। मैं तो यह भी नहीं मानता कि पञ्जाब की आबादी में मुसल्मानों का बहुमत है।...पञ्जाब का इतिहास सिखों का इतिहास है। पञ्जाब सिख-धर्म व सिख गुरुओं का जन्म-स्थान है। पंजाब के अधिकांश शहीद सिख शहीद हैं। सिख ही ऐसे लोग हैं जो उसकी संस्कृति और भाषा में गौरव का अनुभव करते हैं....मुस्लिम-कवि मक्का और मदीना के स्वप्न देखता है, हिंदू-कवि गंगा और बनारस के गीत गाता है, परन्तु सिख कवि रावी और चिनाब का प्रेम अपनी कविता में अभिव्यक्त करता है। सिख ही सच्चे पंजाबी हैं।" अखिल-भारतीय सिख-विद्यार्थी-संघ ने अपनी भावनाओं को और भी ज़ोरदार शब्दों में व्यक्त किया है। उनका कहना है कि "हिंदुस्तान में यदि कोई जाति एक अलहदा राष्ट्र होने का दावा कर सकती है तो वह सिख जाति ही है। सिखों की हर बात निराली है। दुनियां में केवल यही एक ऐसी जाति है जिसमें सब व्यक्तियों के नाम का अंतिम शब्द एक ही है—यह उनकी आंतरिक एकता और अन्य लोगों से विभिन्नता का अच्छा उदाहरण है।...उनकी लिपि भी अन्य लिपियों से बिल्कुल भिन्न है। कपड़े व शक्ल सूरत में भी उनमें आपस में बहुत अधिक समानता है। आंतरिक दृष्टि से हम एक बहुत ही सुसङ्गठित जाति हैं। हमारे अपने रस्मो-रिवाज हैं।" विचार कभी-कभी आंधी के वेग से बढ़ते हैं। यदि कुछ ग़ैर-ज़िम्मेदार विद्यार्थियों के दिमाग़ से पैदा होकर पाकिस्तान की कल्पना अपना वर्त्तमान व्यापक रूप ले सकी, तो कौन कह सकता है कि ख़ालिस्तान की कल्पना कुछ लोगों के दिमाग़ में घुट कर ही दम तोड़ देगी?

पंजाब का विभाजन : अन्य कठिनाइयां

सिखों के विरोध की बात यदि हम छोड़ भी दें तो भी पञ्जाब के विभाजन में अन्य व्यवहारिक कठिनाइयां आती हैं। पञ्जाब के विभाजन का विचार नया नहीं है। सर जॉर्ज कॉर्बेट ने गोलमेज़-परिषद् के अवसर पर उसे उठाया था। अक्टूबर १९४२ में कुछ हिंदू व सिख नेताओं ने दिल्ली में उस पर विचार-विनिमय किया था। यह कहा जाता है कि यदि उत्तर से दक्षिण तक, लाहौर-डिवीज़न को बीच से चीरती हुई, रेखा खींची जाए तो उसके पश्चिम में रावल-पिण्डी और मुल्तान के मुस्लिम बहुमत वाले, व पूर्व में अम्बाला और जालंधर के ग़ैर-मुस्लिम बहुमत वाले, प्रदेश होंगे, और लाहौर का प्रदेश ऐसे दो हिस्सों में बंट जायगा जिनमें से एक में मुस्लिम-बहुमत वाले व दूसरे में ग़ैर-मुस्लिम बहुमत वाले ज़िले होंगे। परन्तु, नक़्शे पर पेंसिल से रेखाएं खींच देना एक बात है, और राज्यों की भौगोलिक सीमाएं निर्धारित करना दूसरी। यदि विभाजन के

इसी सिद्धांत को मान लिया जाय तो यह सवाल उठेगा कि स्वयं लाहौर नगर को पञ्जाब के किस भाग में रखा जाय ? यदि हमारी विभाजन-रेखा लाहौर से पूर्व की ओर है, तो इसका यह अर्थ होगा कि लाहौर और अमृतसर दो विभिन्न देशों में रखे जायंगे। इन दोनों स्थानों के आर्थिक और सांस्कृतिक सामान्य-तत्त्वों को भी यदि दृष्टि से ओझल कर दें तो भी प्रश्न यह उठता है कि देश के बचाव के दृष्टिकोण से क्या यह तनिक भी सम्भव है कि लाहौर और अमृतसर के बीच कहीं भी विभाजन की यह रेखा खींची जा सके ? यदि हम पञ्जाब के भौगोलिक मान-चित्र को देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इस प्रदेश में कहीं भी इस प्रकार की हदबन्दी की गई तो वह पञ्जाब की नहरों के जाल को, व उस पर निर्भर आर्थिक जीवन की एकता को, नष्ट-भ्रष्ट कर देगी। और इन सब बातों के साथ-साथ हम यह भी न भूलें कि हमें यह सीमा-निर्धारण एक देश के दो प्रांतों के बीच नहीं, परन्तु दो विभिन्न देशों के बीच करना है, जिनके एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र बनाये जाने की कल्पना की जा रही है, और जो, यह भी सम्भव है, इस स्वतन्त्रता का आधार लेकर एक-दूसरे से युद्ध में प्रवृत्त हो सकते हैं।

उत्तर-पूर्व की समस्या

उत्तर-पूर्व के प्रांतों में भी विभाजन की यह समस्या कुछ कम गम्भीर नहीं है। मुस्लिम-लीग सम्भवतः यह कल्पना कर रही है कि उत्तर-पूर्वी पाकिस्तान में, बर्दवान-डिवीज़न निकाल कर, बङ्गाल व सारा आसाम शामिल होंगे। परन्तु समस्त आसाम को पाकिस्तान में सम्मिलित करने का विचार क्यों किया जा रहा है ? आसाम की आबादी ६६·१ ग़ैर-मुसल्मानों की है। केवल सिलहट के ज़िले में मुसल्मान ६१·१ हैं। परन्तु आसाम को पाकिस्तान में शामिल न करने का प्रस्ताव भी उतना ही अव्यवहारिक है, जितना शामिल करने का। यदि आसाम को हिंदुस्तान में रखा जाय, तो उसकी स्थिति दूर-पार के एक आश्रित देश जैसी होगी,क्योंकि उसके और हिंदुस्तान के बीच पाकिस्तान की ज़मीन होगी। यह देखते हुए कि आसाम के द्वारा हिंदुस्तान पर आसानी से आक्रमण किया जा सकता है, यह स्थिति और भी गम्भीर हो जाती है। परन्तु, पश्चिमी बङ्गाल को शेष-बङ्गाल से अलहदा करने का प्रश्न तो इससे भी अधिक जटिल है। उसे किस सिद्धान्त के आधार पर बंगाल से जुदा किया जा सकेगा ? क्या इस संबंध में उसके निवासियों की सम्मति ली जायगी, और यदि ऐसा किया गया तो, क्या उनके निर्णय को मान्यता मिलेगी ? क्या पश्चिमी बंगाल की जनता के मन में मुस्लिम-संस्कृति

और उसके आधार पर बनने वाले उत्तर-पूर्वी पाकिस्तान के प्रति घृणा और आक्रोश के भाव इतने प्रबल हो उठेंगे कि वह उस बंगाल से, जिसकी भक्ति के आवेश में आज वह 'आमार जननी, आमार बंग भूमि' के गीत गा रहे हैं, सदा के लिए अपना संबंध-विच्छेद करने के लिए तैयार हो जायंगे? क्या हम इस बात की कल्पना भी कर सकते हैं कि जिन बंगालियों ने कर्ज़न द्वारा बंग-भंग किये जाने पर आकाश को अपनी लपटों से चूमने वाला एक इन्क़िलाबी आन्दोलन खड़ा कर दिया था, वे आज उसकी पुनरावृत्ति को चुपचाप स्वीकार कर लेंगे?

यदि यह मान लिया जाय कि पाकिस्तान के पक्ष में जो तर्क है वह अपनी तेज किरणों से बंगाल-प्रेम की इस भावना को काटने में समर्थ हो सकेगा, तो भी कुछ व्यवहारिक कठिनाइयां रह ही जाती हैं। एक बड़ी कठिनाई कलकत्ते के सम्बन्ध में है। कलकत्ते को किस देश में शामिल किया जायगा? कलकत्ता बंगाल का व्यापार-केन्द्र तो है ही, उसकी संस्कृति का भी हृदय है। व्यापार और संस्कृति दोनों की दृष्टि से उस पर हिन्दुओं का प्रभुत्व है। उसके आस-पास जो ज़िले हैं उनमें हिन्दुओं की आबादी ही ज़्यादा है। ऐसी स्थिति में क्या इस बात की कल्पना भी की जा सकती है कि कलकत्ता पश्चिमी बंगाल से हटाया जाकर पाकिस्तान में शामिल किया जा सकेगा? परन्तु, यदि कलकत्ता पूर्वी-पाकिस्तान में शामिल नहीं किया गया—और कोई कारण दिखाई नहीं देता कि वह क्यों शामिल किया जाय—तो पूर्वी पाकिस्तान का क्या महत्त्व रह जायगा? उसकी स्थिति निष्प्राण शरीर जैसी रह जायगी, और उसे प्रेरणा और नेतृत्त्व के लिए, एक चौथे दर्जे के राष्ट्र के समान, उत्तर-पश्चिमी पाकिस्तान पर सर्वथा निर्भर रहना पड़ेगा। क्या यह स्थिति बड़ी वांछनीय और स्पृहणीय होगी?

आबादियों की अदल-बदल

पंजाब व बंगाल के विभाजन की इन कठिनाइयों के सामने यही मार्ग रह जाता है कि पाकिस्तान के प्रांतों में जो हिन्दू आबादी है, उसे हिन्दुस्तान, व हिंदुस्तान में जो मुस्लिम-आबादी रह जाय उसे पाकिस्तान, भेज दिया जाय। आबादियों की अदल-बदल का यह विचार प्रथम-महायुद्ध के बाद यूरोप में बहुत लोक-प्रिय हो गया था, परन्तु यूनानी और तुर्की आबादी की अदल-बदल में जो अमानुषिक, लोमहर्षक, और भयंकर दृश्य देखने में आये, उन्होंने इस विचार की अव्यवहारिकता को बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया। भारतीय परिस्थितियों में तो ऐसा होना बिल्कुल ही असम्भव है। क्या हम इस बात की कल्पना भी कर सकते हैं कि एक मुसलमान किसान जो सैकड़ों वर्षों से, हिन्दू किसानों के बीच रह कर,

उनसे भाईचारे और मुहब्बत का बर्ताव रखता हुआ, अपनी ज़मीन को जोतता रहा है, और धूप और बारिश से अपने झोंपड़े की रक्षा करता रहा है, किसी दूर-देश में जा बसने के लिए केवल इसलिए तैयार हो जायगा कि कोई एक मुस्लिम नेता या कोई एक मुस्लिम-जमात आज चीख़-चीख़ कर इस बात को कह रही है कि उसका अपना एक अलग राष्ट्र है, और इसलिए उसका अपना एक अलग देश भी होना चाहिए ? क्या हम सोच भी सकते हैं कि सिर्फ़ इसी आधार पर लखनऊ, दिल्ली या हैदराबाद में रहने वाले मुसल्मान पेशावर, करांची या ढाका में जा बसने को तैयार हो जायंगे, विशेषकर ऐसी स्थिति में जब कि उन्हें जलवायु, भाषा, संस्कृति सभी में एक बड़े अन्तर का सामना करना पड़ेगा ? मैंने इस सम्बन्ध में देश के विभिन्न-प्रांतों में फैले हुए सैकड़ों मुसल्मानों से बात की है, और मैंने देखा है कि अपना जन्म-स्थान छोड़ने के लिए वे तनिक भी तैयार नहीं हैं—पाकिस्तान का समस्त आकर्षण भी उन्हें ऐसा करने के लिए तैयार नहीं कर सकता ।

पाकिस्तान का आर्थिक-पहलू

सीमा-निर्धारण की कठिनाई से भी बड़ी एक और कठिनाई है जो पाकिस्तान की कल्पना के क्रियात्मक रूप लेने में एक बहुत बड़ी बाधा उपस्थित करेगी। वह इस समस्या का आर्थिक-पक्ष है । अब तक इस सम्बन्ध में लोगों के विचार बहुत स्पष्ट नहीं थे—तरह-तरह की कल्पनाओं से काम लिया जा रहा था—पर हाल में ही होमी-मोदी और सर जॉन मथाई ने इस प्रश्न का विस्तृत अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट सप्रू-कमेटी के सामने रखी थी, उससे पाकिस्तान के आर्थिक-पक्ष पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । इन लोगों के अध्ययन ने इस सम्बन्ध में बहुत-सी ग़लतफ़हमियों को दूर करने में भी सहायता पहुंचाई है । मोदी-मथाई विज्ञप्ति में इस प्रश्न को तीन दृष्टिकोणों से देखा गया है । पहिले तो उन्होंने यह देखने की कोशिश की है कि पाकिस्तान की सरकार अपनी वार्षिक आय-व्यय का उचित प्रबन्ध कर सकने की स्थिति में होगी भी या नहीं । दूसरे, उन्होंने यह जानना चाहा है कि पाकिस्तान के बन जाने से उसमें रहने वाले व्यक्तियों के रहन-सहन के स्टैण्डर्ड पर कोई विशेष प्रभाव तो नहीं पड़ेगा । और तीसरे, उन्होंने इस बात का विशेष अध्ययन किया है कि देश की रक्षा के दृष्टिकोण से पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति कैसी होगी ।

मोदी-मथाई विज्ञप्ति में इन प्रश्नों का अध्ययन पाकिस्तान-संबंधी दोनों योजनाओं—मुस्लिम लीग की मांग व राजाजी-योजना—को दृष्टि में रखते हुए किया गया है । इन विद्वान् लेखकों का कहना है कि दोनों में से कोई भी योजना

अमल में लाई जाय, पहिली दो बातों के दृष्टिकोण से, उसकी स्थिति आज के मुक़ाबिले में बुरी नहीं होगी। उन प्रांतों को, जो अपने ख़र्चे के एक बड़े अंश के लिए आज केन्द्रीय-सरकार की सहायता पर निर्भर रहते हैं, यदि यह सहायता मिलनी बन्द भी हो गई, तो भी उनके आय के स्रोत इतने बढ़ जायंगे कि वे प्रांतीय-शासन का भार स्वयं ही वहन करने की स्थिति में आ जायंगे। अन्य प्रांत भी शासन का अपना वर्त्तमान स्टैण्डर्ड क़ायम रख सकेंगे। लोगों के रहन-सहन पर भी बुरा प्रभाव पड़ने की संभावना नहीं है। किसी भी देश के निवासियों का रहन-सहन, उसकी अनाज की उपज, औद्योगिक विकास के साधनों, और व्यापार आदि पर निर्भर रहता है। इस दृष्टि से पाकिस्तान की स्थिति हिन्दुस्तान की तुलना में कुछ बुरी नहीं रहेगी। इन प्रांतों में काफ़ी ऐसी ज़मीन है, जो उपजाऊ बनायी जा सकती है, और जिस ज़मीन पर आज खेती हो रही है वह भी—कम-से-कम पश्चिमी-पाकिस्तान में—हिन्दुस्तान की ज़मीन से अधिक उपजाऊ है। उद्योग-धन्धों के विकास की दृष्टि से यद्यपि पाकिस्तान में कोयले, मंगानीज व अन्य खनिज-पदार्थों की कमी होगी, पर ये चीज़ें, आवश्यकतानुसार, अन्य देशों से मंगाई जा सकती हैं, इनकी कमी पाकिस्तान के औद्योगीकरण में बाधक नहीं हो सकेगी। एक बात जो हमें ध्यान में रखना है, वह यह है कि पानी के बहाव से बिजली पैदा करने की जितनी सुविधा पाकिस्तान में होगी उतनी हिन्दुस्तान में नहीं होगी—पंजाब ही इतनी अधिक 'हाइड्रो-इलैक्ट्रिक' शक्ति तैयार कर सकता है, जिससे समस्त देश की आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो सके।

रक्षा-सम्बन्धी व्यय

पर, वास्तविक समस्या तो रक्षा-सम्बन्धी व्यय को जुटा पाने की है। आने वाले वर्षों में रक्षा-विभाग पर हमें बहुत अधिक ख़र्च करना पड़ेगा। हमें अपनी पैदल-फ़ौज को, आधुनिक पद्धति पर, पुनः संगठित तो करना ही है, पर जहां तक हमारी समुद्री व हवाई ताक़त का संबंध है, उनका तो हमें नये सिरे से ही निर्माण करना है। लड़ाई के पहिले हमारा रक्षा-संबंधी ख़र्च ५० करोड़ रुपए वार्षिक के लगभग था। जानकार लोगों का कहना है कि लड़ाई के बाद हमारा वार्षिक व्यय कम-से-कम १०० करोड़ का होगा। इसके अलावा, यदि हिन्दुस्तान को दो टुकड़ों में बांट दिया गया तो विदेशी आक्रमणों का डर आज के मुक़ाबिले में बहुत अधिक बढ़ जायगा और यह भी अभी तो निश्चित नहीं है कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के आपसी संबंध मैत्री के ही होंगे। यदि इन परिस्थितियों को भी ध्यान में रखें तब तो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों को अपना रक्षा-व्यय कई गुना अधिक बढ़ाना पड़ेगा। पर यदि तर्क के लिए यह

मान भी लिया जाय कि हिन्दुस्तान का बंटवारा आपसी समझौते से होता है, और बाद में भी इन दोनों पड़ौसी और स्वतन्त्र देशों में मैत्री और भाई-चारे का बर्त्ताव रहता है, तो भी दोनों देशों को मिल कर रक्षा-विभाग के लिए कम-से-कम १०० करोड़ रुपए वार्षिक की व्यवस्था करनी पड़ेगी। मुस्लिम-लीग के लाहौर-प्रस्ताव के अनुसार पाकिस्तान का निर्माण यदि प्रांत के आधार पर होता है तो उसे इस ख़र्चे में से ३६ करोड़ का भार अपने ऊपर लेना होगा, और यदि वह, राजाजी-योजना के अनुसार, मुस्लिम बहुमत वाले ज़िलों के आधार पर बना तो उसके हिस्से २३ करोड़ रुपए का ख़र्चा आयेगा। क्या पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति ऐसी होगी कि वह रक्षा पर इतना अधिक ख़र्च कर सकेगा ?

इस संबंध में बिल्कुल सही संख्याओं का अनुमान लगा लेना तो असंभव ही है, पर मोदी-मथाई विज्ञप्ति में इस प्रश्न पर बड़ी उदारता से विचार किया गया है, और उसका निष्कर्ष यह है कि पाकिस्तान, प्रांत अथवा ज़िले पर बनाये जाने की स्थिति में, क्रमशः १४ अथवा ९ करोड़ रुपया इस काम के लिए बचा सकेगा, और यदि पाकिस्तान की सरकार ने इस दिशा में बहुत ही अधिक प्रयत्न किया, और एक ओर शासन का ख़र्चा कम करके व सर्वसाधारण के लाभ की समस्त योजनाओं को बन्द करके और दूसरी ओर संपत्ति और व्यापार आदि पर टैक्स बढ़ाकर कुछ और रुपया निकालना चाहा तो वह एक तो जनता की तकलीफ़ों को बढ़ा देगा, और उनमें विक्षोभ व नाराज़गी की भावनाओं को जन्म देगा और दूसरे, इतना कम होगा कि उससे स्थिति के सुधरने की विशेष आशा नहीं होगी। यहां हम यह न भूलें कि मोदी-मथाई विज्ञप्ति में इन संख्याओं पर अधिक-से-अधिक उदारता से विचार किया गया है। प्रो० कूपलैण्ड के अनुसार पाकिस्तान साधारणतः ३ करोड़ से अधिक रुपया अपने रक्षा-विभाग के लिए नहीं बचा सकेगा, और अन्य उपायों द्वारा भी वह ५ करोड़ से अधिक रुपया इस काम के लिए नहीं जुटा पाएगा। ऐसी स्थिति में सवाल उठता है कि पाकिस्तान करेगा क्या ? यदि वह अपने सैनिक व्यय में कमी करता है तो वह खुले-आम विदेशी आक्रमण-कारियों को निमन्त्रण देता है। यदि इस सम्बन्ध में वह हिन्दुस्तान की सहायता पर निर्भर रहता है तो यह निश्चित है कि जिस सार्वभौम-सत्ता की कल्पना आज पाकिस्तान के समर्थकों के मन में है वह स्वप्न-मात्र रह जायगी; वैसी स्थिति में बहुत-सी दूसरी बातों के लिए भी पाकिस्तान का हिन्दुस्तान पर निर्भर रहना अनिवार्य हो जाएगा और यदि, पाकिस्तान इंग्लैण्ड अथवा अन्य किसी बाहरी देश पर इसके लिए निर्भर रहा तो उसका भाग्य, अथवा दुर्भाग्य, रह जायगा सदियों तक उस विदेशी राष्ट्र की ग़ुलामी का

तौक़ अपने गले में डाल कर उसके इशारे पर नाचना। सच तो यह है कि आज स्थिति यह है कि यदि आज़ादी की कल्पना की जा सकती है तो राष्ट्रीय एकता के आधार पर ही; इस एकता के छिन्न-भिन्न होने का अर्थ होगा आज़ादी के सपनों को धूल में बिखेर देना।

आर्थिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से

यदि हम वस्तु-स्थिति की गहराई में प्रवेश करें तो यह स्पष्ट देख सकेंगे कि आज तो राष्ट्रीय बचाव का अर्थ होगया है, देश का औद्योगीकरण। वही देश आज अपने बचाव की आशा कर सकता है जिसके पास आर्थिक उन्नति के अपरिमित साधन हों, और जो उन साधनों का समुचित विकास करने की स्थिति में हो। इस दृष्टि से यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को देखें तो इस युद्ध में मित्र-राष्ट्रों की विजय का श्रेय जिन दो बड़े राष्ट्रों को दिया जा सकता है, वे हैं अमरीका और रूस, और दोनों ही ऊपर दी गई शर्त्त को पूरा करते हैं, दोनों के पास अपरिमित साधन हैं, और दोनों ने उनका अधिक-से-अधिक विकास किया है। जिन देशों की अर्थनीति नितांत स्वावलंबिनी नहीं थी—जर्मनी, इटली, जापान आदि—वे सब हारे। स्वयं इंग्लैण्ड की स्थिति भी डांवाडोल है। प्रो० लॉस्की ने अभी उस दिन कहा था कि अब वह स्वेडन के समान, एक द्वितीय श्रेणी की शक्ति रह गया है। यदि वह अमरीका या रूस दोनों में से किसी एक पर निर्भर—आश्रित नहीं रहना चाहता तो उसके लिए केवल यही एक मार्ग रह गया है कि वह पश्चिमी-यूरोप के देशों को राजनैतिक व आर्थिक दोनों दृष्टियों से संघ-बद्ध बनाने का प्रयत्न करे। उन छोटे देशों के लिए तो आज की दुनियां में कोई स्थान रह ही नहीं गया है, जो अपने सीमित साधनों से अपना बचाव करना चाहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के जानकारों का विश्वास है कि संसार में अमरीका और रूस को छोड़कर केवल दो अन्य देश हैं जो बिना किसी बाह्य-शक्ति पर निर्भर रहते हुए, आर्थिक दृष्टि से संपूर्ण-स्वावलंबी हो सकते हैं, और जिनमें संसार की महान् शक्ति बनने की क्षमता है—वे हैं चीन और हिंदुस्तान।

हिंदुस्तान दुनियां की आने वाली राजनीति में एक शानदार स्थान प्राप्त कर सकता है—बशर्त्ते कि वह आज की अपनी भौगोलिक एकता को क़ायम रख सके। हिंदुस्तान यदि इस आदर्श को प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी आर्थिक उन्नति के समस्त साधनों का विकास करे। परन्तु देश के टुकड़ों में बंट जाने के बाद यह आर्थिक विकास असंभव हो जायगा। आर्थिक विकास की दृष्टि से भी आज उन विस्तृत भू-खण्डों का, जो

भौगोलिक दृष्टि से एक-दूसरे के समीप हों, मिल-जुल कर काम करना आवश्यक होगया है। किसी भी दृष्टि से हम इस प्रश्न का विचार करें, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, अपनी भौगोलिक एकता को क़ायम रखते हुए, आज हिंदुस्तान के सामने विकास का एक अभूतपूर्व अवसर है। किसी भी उद्देश्य से सही, अंग्रेज़ी शासन ने पिछले डेढ़-सौ वर्षों में समस्त देश को एक शासन-सूत्र में पिरो दिया है। देश भर में एक ही मुद्रा का प्रचार है; रिज़र्व-बैंक का आधार लेकर बैङ्कों को एक-दूसरे से गूंथ देने वाला एक जाल-सा फैला है; देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैली हुई हज़ारों मील लम्बी सड़कें हैं, ट्रेनों के आने-जाने की व्यवस्था है, और सभी महत्त्व के स्थानों पर हवाई जहाज़ों के अड्डे हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे पास एक ओर कृषि के लिए काफ़ी ज़मीन है और दूसरी ओर सभी आवश्यक खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में हैं। संक्षेप में, हमारे पास वे सभी साधन मौजूद हैं जो एक बड़े राष्ट्र के लिए आवश्यक हैं। केवल एक चीज़ है, जो हमारे आज के विषएण जीवन और भविष्य की महानता के मार्ग में व्यवधान बनकर खड़ी है—वह है हमारी ग़ुलामी। ग़ुलामी की इन ज़ंज़ीरों के टूटते ही—और अब इनके दिन इने-गिने ही रह गए हैं—हम अंतर्राष्ट्रीय जगत में अपना उचित स्थान पा सकेंगे।

पर यह तभी सम्भव है जब हिंदुस्तान की राजनैतिक एकता क़ायम रखी जा सके। हिंदुस्तान के दो कृत्रिम और अप्राकृतिक भागों में बंटते ही आर्थिक पुनर्निर्माण की समस्त योजनाएं, और राजनैतिक महानता के समस्त स्वप्न, अपने आप ही ख़त्म हो जायंगे। जलवायु, ज़मीन और खनिज पदार्थों के बंटवारे की जो विभिन्नता एक ऐसे बड़े देश में, जहां आयात-निर्यात की गति मुक्त और निर्बाध है, शक्ति का आधार बन जाती है, वही छोटे-छोटे टुकड़ों के आर्थिक विकास में एक बड़ी बाधा बन कर आ खड़ी होगी। इस संबंध में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि देश के इस बंटवारे में आर्थिक दृष्टि से अधिक हानि पाकिस्तान के प्रांतों की होगी। उसके दोनों भागों—उत्तर-पश्चिमी पाकिस्तान व उत्तर-पूर्वी पाकिस्तान—के बीच में ७०० मील लम्बी ज़मीन एक विदेशी सरकार के आधिपत्य में होगी—ऐसी स्थिति में उसके लिए आर्थिक विकास की एक संयुक्त-समन्वित योजना बना पाना भी संभव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त कोयले, लोहे, मंगानीज़ व अन्य खनिज पदार्थों की उसकी कमी औद्योगिक विकास में बाधक तो होगी ही—चाहे वह महंगे दामों पर इन चीज़ों को दूसरे देशों से ख़रीद कर अपने उद्योग-धन्धों के विकास का प्रयत्न करे। यदि पाकिस्तान के पास आर्थिक साधन अधिक नहीं हैं, और जो हैं, उनका भी वह सम्-

चित विकास नहीं कर पाता, तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसका भविष्य बहुत आशाप्रद नहीं होगा। संसार का कोई भी सशक्त राष्ट्र उसे अपने पैरों तले रौंद सकेगा, और उसकी दशा एक शतरंज के मोहरे जैसी होगी, जिसे कुशल खिलाड़ी, अपनी शक्ति बढ़ाने की दृष्टि से, जहाँ चाहे वहाँ रख देता है।

अन्य विरोधी तत्त्व : अंग्रेज़ी सरकार

इन भौगोलिक और आर्थिक कठिनाइयों के साथ हम उन शक्तिशाली राजनैतिक तत्त्वों को भी नहीं भूल सकते जिनका विरोध पाकिस्तान की समस्त कल्पना को क्रियात्मक रूप लेने से वैसे ही रोक सकता है—जैसे एक मज़बूत बाँध एक छोटी-सी नदी के प्रवाह को। इन राजनैतिक तत्त्वों में हम सबसे पहिले अंग्रेज़ी सरकार को ही लें। यह सच है कि वर्त्तमान महायुद्ध के प्रारंभिक वर्षों में, जब मित्र-राष्ट्रों की परिस्थिति डांवाडोल थी, भारत की अंग्रेज़ी सरकार ने मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की माँग का अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन किया, पर उसके लिए तो कुछ विशेष परिस्थितियां ज़िम्मेदार थीं। उन परिस्थितियों के बदलते ही अंग्रेजी सरकार का दृष्टिकोण भी बदला—और तब से प्रमुख अंग्रेज़ अधिकारी देश की एकता की आवश्यकता पर ज़ोर देने लगे हैं। सच तो यह है कि अंग्रेज़ इस प्रश्न पर अपने स्वार्थों और हितों की दृष्टि से ही अपनी नीति निर्धारित करेंगे। वे न तो कांग्रेस के कहने भर से हिन्दुस्तान छोड़ कर चले जायंगे और न मुस्लिम-लीग के इस सुझाव पर ही कि पहिले हिन्दुस्तान को दो हिस्सों में बाँट दें और तब चले जायं, अमल करेंगे। उनका बस चलेगा तो वे हिन्दुस्तान में आपसी मतभेदों को क़ायम रखेंगे, और यहाँ जमे रहेंगे।

अंग्रेज़ों को यदि हिन्दुस्तान से जाना ही हुआ तो वे उसे दो ऐसे भागों में बाँट देने के बदले, जिनके सशक्त बन जाने की सम्भावना होगी, कई छोटे-छोटे भागों में बाँट देना अधिक अच्छा समझेंगे। इस संबंध में प्रो० कूपलैण्ड आदि कई अंग्रेज़ों की योजनाएं हमारे सामने हैं हीं, परन्तु, यदि यह मान लिया जाय कि अभी कुछ अर्से तक, हिन्दुस्तान के आज़ाद हो जाने पर भी, इंग्लैण्ड एशिया में अपने आर्थिक स्वार्थों को क़ायम रखने की चेष्टा करेगा, तो यह अधिक संभाव्य दिखाई देता है कि वह हिन्दुस्तान की शासन-सम्बन्धी एकता के क़ायम रखने पर ज़ोर देगा। यहाँ हमें यह न भूल जाना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से आज राजनैतिक गुरुत्व-शक्ति का केन्द्र अटलांटिक से हट कर प्रशान्त-महासागर में आ गया है। इस दृष्टि से समस्त एशिया की राज-नीति और अर्थनीति के क्षेत्रों में अपने हितों की रक्षा की दृष्टि से इंग्लैण्ड के लिए यह अनिवार्य होगा कि वह एक संयुक्त-भारत के विकास में सहायक हो।

भारतीय राष्ट्रीयता की सहानुभूति प्राप्त करके ही वह एशिया में अपनी स्थिति क़ायम रख सकता है। फिर भी इंग्लैण्ड के लिए तो यही कहना ठीक है कि वह इस संबंध में अपना दृष्टिकोण, परिस्थितियों के अनुसार, अपने स्वार्थों और हितों को प्रमुखता देते हुए ही बनायेगा। जहाँ तक आज की स्थिति है, यह निश्चय जान पड़ता है कि अंग्रेज़ी सरकार पाकिस्तान-संबंधी किसी ऐसी योजना का समर्थन नहीं करेगी जिसमें उसकी एक स्वतंत्र, सार्वभौम सत्ताका निर्माण होता हो।

कट्टर हिन्दू दृष्टिकोण

'अखण्ड हिन्दुस्तान' के नारे के साथ कट्टर हिन्दुओं द्वारा पाकिस्तान का जो विरोध किया जाता है, उसका आधार तर्क से अधिक भावना में है। तर्क की दृष्टि से यदि उसे तौला जाय तो वह पाकिस्तान के समर्थन में एक बड़ी दलील का रूप ले लेगा। उसका आधार इस भावना में है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं का है, और मुसल्मान इस देश में एक विदेशी तत्त्व के रूप में हैं। वे यदि हिन्दुओं के संरक्षण में, उनकी दया के पात्र बन कर, रहना चाहें तो रह सकते हैं, अन्यथा जहाँ जाना चाहें, जा सकते हैं। कभी-कभी तो उनकी तुलना यहूदियों से की जाती है, और उनके लाभ के लिए, यहूदियों के प्रति नात्सी-सरकार का जो व्यवहार रहा, उसकी ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जाता है। कांग्रेस के भीतर भी एक दल ऐसा है जो एक संस्कृत-प्रधान भाषा को मुसल्मानों पर लादने के पक्ष में है, और जो यह मानता है कि 'वन्देमातरम्' व राष्ट्रीय झंडे के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए उन्हें बाध्य किया जाना चाहिए। पर, हिन्दू महासभा तो इस सम्बन्ध में नीति और मर्यादा और राजनीति की सभी सीमाओं को लांघ चुकी है। वीर सावरकर के 'वीरतापूर्ण' शब्दों में, "जब हम बदला लेने की स्थिति में होंगे, और बदला लेंगे, तो एक दिन में मुसल्मानों के होश ठिकाने आ जायंगे—तब उन्हें पता लगेगा कि हिन्दुओं पर ज़ुल्म करने की कोशिश का नतीजा क्या होता है और उससे मुसल्मानों को कितना बड़ा नुक़सान पहुँचने की संभावना है—तब वे भले आदमियों का-सा बर्त्ताव करना सीखेंगे।"[1]

यह मनोवृत्ति है जिसने पाकिस्तान की कल्पना को जन्म दिया। यदि हिन्दुओं का विश्वास है कि मुसल्मान इस देश में एक विदेशी तत्त्व हैं, और उन्हें उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखना चाहिए, तो मुसल्मानों के मन में यह भावना उठना स्वाभाविक है कि उन्हें अपनी एक स्वतन्त्र शासन-सत्ता की स्थापना कर लेना चाहिए। वैसी शासन-सत्ता वे इस देश के बाहर कहाँ खड़ी

१. दिसम्बर १६३८ में सभापति के पद से दिये गए भाषण का एक अंश।

कर सकते हैं ? वे भी हिन्दुस्तान की मिट्टी से बने हैं, और हिन्दुस्तान की ज़मीन के ज़र्रे-ज़र्रे पर उनका उतना ही हक़ है जितना हिन्दुओं का। यदि हिन्दू और मुसलमान मिल-जुल कर एक दूसरे के साथ नहीं रह सकते तो हिन्दुस्तान का दो हिस्सों में बंटवारा कर दिया जाना उतना ही स्वाभाविक और न्याय-संगत है जितना उन दो भाइयों का अपनी मौरूसी जायदाद को बाँट लेने के लिए आग्रह-शील होना, जो प्रेम से एक दूसरे के साथ नहीं रह सकते हैं। सच तो यह है कि हिन्दुओं का हिन्दुत्व के नाम पर देश के एकाधिपत्य का स्वप्न देखना ही दो राष्ट्रों की कल्पना को बल देता है, और मुसल्मानों के लिए एक स्वतन्त्र-देश के निर्माण की माँग को अधिक तर्क-पूर्ण बना देता है। पर, तर्क से ही तो काम नहीं चलता। मैं यह जानता हूँ कि कट्टर हिन्दू इस तर्क को मानने के लिए तैयार नहीं हैं, और भारतीय राष्ट्र की एकता के सम्बन्ध में वे इतने संवेदन-शील और भाव-प्रवण हैं कि अपने समस्त बल को लगा कर भी वे पाकिस्तान का विरोध करेंगे। इस विरोध के पीछे, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, तर्क का बल चाहे अधिक न हो, पर इतने बड़े समुदाय का भावना-बल इतना अधिक होगा कि उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

गृह-युद्ध की सम्भावना ?

तब, होगा क्या ? यदि हिंदू और मुसल्मान दोनों ही अपने आग्रहसे हटने के लिए तैयार नहीं हैं, तो क्यों न एक गृह-युद्ध के द्वारा इस प्रश्न को सुलझा लिया जाय ? यह हो सकता है कि उसके बाद हम या तो स्विज़रलैण्ड और अमरीका के संयुक्त-राज्य के समान अपना एक संघ बना लें या दक्षिण अमरीका के समान अपने को कई देशों में बांटने का निश्चय कर लें। परन्तु यह मानते हुए भी कि देश में हिंदुओं की संख्या अधिक है, कौन कह सकता है कि इस गृह-युद्ध का परिणाम क्या होगा ? बहुत संभव है कि यह परिणाम देश के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप ले ले। यह भी संभव है कि जिन प्रांतों में आज मुसल्मानों का बहुमत है, वहां वह अपने बाहु-बल से अपना स्वतन्त्र-राज्य क़ायम कर सकें—और तब उस संघर्ष के परिणाम-स्वरूप उन प्रदेशों की स्वतन्त्र-सार्वभौम सत्ता मानने के लिए हमें विवश होना पड़े जिन्हें ज़बरदस्ती भी अपने साथ रखने के लिए हम आज इतने उतावले हैं! परन्तु, और यह एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, क्या जब कि अंग्रेज़ी सरकार मौजूद है, वह हमें ऐसे गृह-युद्ध की सुविधा देने के लिए उद्यत हो जायगी ? यह हो सकता है कि, हमारी सांप्रदायिक मनोवृत्ति के पोषण की दृष्टि से, वह देश में यहां-वहां छोटे-मोटे दङ्गे हो जाने दे, परन्तु वह हमारे लिए एक देश-व्यापी गृह-युद्ध का आयोजन तो कदापि

नहीं करेगी। इस प्रकार के गृह-युद्ध संगठित राजतन्त्रों की शिक्षित सेनाओं द्वारा लड़े जाते हैं—वैसा होना ब्रिटिश-राज्य के रहते असम्भव है। सच तो यह है कि इस प्रकार की तैयारी की भनक भी यदि उसके कान में पड़ गई तो वह उसे, जनता की रक्षा के नाम पर, अपनी सैन्य-शक्ति और देश पर अपने शिकंजे को और अधिक मज़बूत बना लेने के काम में उपयोग करेगी।

राष्ट्रवादी मुस्लिम-संस्थाओं का मत

इस सम्बंध में हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सभी मुसल्मान पाकिस्तान की मांग का समर्थन नहीं कर रहे हैं—कुछ तो उसका तीव्र विरोध भी कर रहे हैं। यह कहना तो कठिन है कि देश की मुस्लिम आबादी का कितना भाग मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांगके पीछे है। मुस्लिम-लीग की सदस्यता की ठीक संख्याका अनुमान करना भी कठिन ही है। १९३६ में तो प्रांतीय धारा-सभाओं में लीग की ओर से कुल १०८ सदस्य चुनेगए थे, जबकि अन्य मुस्लिम-संस्थाओं की ओरसे ३६६ सदस्य थे। यह सच है कि पिछले ८वर्षों में मुस्लिम-लीगका बल बहुत बढ़ गया है, पर आज भी वह मुसल्मानों की अकेली प्रतिनिधि-संस्था तो कदापि नहीं है। अशिक्षित और राजनैतिक चेतना-धारा से कोसों दूर जो करोड़ों मुसल्मान इस देश में हैं; उन्हें छोड़ भी दिया जाय, और केवल उन्हीं मुसल्मानों को लिया जाय जो राजनैतिक दृष्टि से जाग्रत और विचार-शील हैं तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन सभी ने मुस्लिम लीग को अपनी एकनिष्ठ राजभक्ति दे रखी है, अथवा वे पाकिस्तान को हमारी सांप्रदायिक और राजनैतिक समस्याओं का एक-मात्र राजमार्ग मानते हैं।

मुस्लिम-लीग के बाहर भी अनेकों मुस्लिम राजनैतिक संस्थाएं हैं। ख़ाकसार हैं, जमीयत-उल-उल्मा है; अहरार हैं; शिया राजनैतिक कांफ्रेंस है, मोमिन हैं; कांग्रेस-वादी मुसल्मान हैं और वे सहस्र-सहस्र मुसल्मान हैं, जो अपने को राष्ट्रवादी कहते हैं। इनमें से कोई भी पाकिस्तान के पक्ष में नहीं है—और अधिकांश तो उसे एक ग़ैर-इस्लामी नारा मानते हैं। १९४० में इस प्रकार की ६ मुस्लिम-संस्थाओं ने मिल कर एक अखिल-भारतीय आज़ाद-मुस्लिम बोर्ड की स्थापना की। मार्च १९४२ में, इस बोर्ड ने अपनी एक बैठक में लीग के भारतीय मुसल्मानों के प्रतिनिधित्व के दावे को एक 'अविश्वसनीय धोखा' बताया, और हिंदुस्तान की एकता में अपना विश्वास प्रगट किया। अखिल भारतीय मोमिन-कांफ्रेंस ने अपने एक प्रस्ताव के द्वारा घोषणा की कि "वह हिंदुस्तान की अविभाज्यता, एकता व सङ्गठन को भारतीय जनता के सामान्य लाभ की दृष्टि से, और विशेष-कर भारतीय मुसल्मानों के हित की दृष्टि से, अनिवार्य समझती है।"

परन्तु, हम यह न भूलें कि लीग का लाख-विरोध करते हुए, व पाकिस्तान की कल्पना को निराधार और मुस्लिम हितों को घातक मानते हुए भी, ये मुस्लिम राजनैतिक दल भारतीय मुसलमानों के सच्चे हितों की बलि देने के लिए कभी भी तैयार नहीं होंगे। मुस्लिम-लीग व इन संस्थाओं में केवल यही अंतर है कि जब मुस्लिम-लीग का दृष्टिकोण पहले सांप्रदायिक है, और शायद बहुत दूर जाकर भी अधिक राष्ट्रीय नहीं रह गया है, राष्ट्रवादी-मुस्लिम-संस्थाएं राष्ट्रीय हितों को प्राधान्य देती हैं, पर मुस्लिम-हितों की रक्षा के सम्बन्ध में भी तत्पर हैं। खुदाई-खिदमतगारों ने भी,जैसा कि सीमाप्रांत की कांग्रेस के उस समय के सभापति ने अपने एक वक्तव्य में कहा था, राजाजी के मुसलमानों को आत्म-निर्णय का अधिकार देने के प्रस्ताव का "संपूर्ण-समर्थन" किया था। जमीयत-उल-उलमा ने, १६४२ की एक बैठक में, हिंदुस्तान के लिए आज़ादी मांगते हुए भी ऐसे वैधानिक संरक्षणों की मांग पेश की जिनसे "मुसलमानों के धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक आत्मनिर्णय के अधिकारों की रक्षा" हो सके। आज़ाद मुस्लिम कान्फ्रेंस, भारतीय स्वाधीनता के अन्तर्गत, अल्प-संख्यक वर्गों के लिए आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को आवश्यक मानती है।

समारोप

यह सच है कि पाकिस्तान की कल्पना को लेकर मुसलमानों में एक सस्ती भाव-प्रवणता ने एक बड़ा लोकमत अपने पक्ष में संग्रहीत कर लिया है। मुसल्मान आज आसानी से यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि मुस्लिम-संस्कृति वास्तु-कला, चित्रकला, साहित्य और तत्त्वज्ञान, जीवन के सभी क्षेत्रों में, अपने विकास की चरम-सीमा पर हिन्दुस्तान में, हिन्दू-संस्कृति के निकट-संपर्क में रहकर ही पहुँची, न वे इसी बात पर विश्वास करेंगे कि पाकिस्तान के क्रियात्मक रूप लेते ही मुस्लिम-संस्कृति, अपने जीवन-स्रोतों से उन्मूलित होकर, अपने स्वाभाविक विकास को खो बैठेगी, पर साथ ही हम यह न भूलें कि पाकिस्तान की कल्पना यदि दिन के सपने से अधिक स्थापित्व नहीं रखती तो दूसरी ओर हम अपने देश के लिए ऐसे शासन-विधान की कल्पना भी नहीं कर सकते जिसमें अल्प-संख्यक जातियों, विशेषकर मुसल्मानों, के लिए, विशेष अधिकारों और संरक्षणों की व्यवस्था न की गई हो। जहां तक राजनैतिक आत्म-निर्णय का सम्बन्ध है, मुसल्मानों के सभी वर्ग उसके लिए आग्रहशील हैं, और प्रगतिशील हिन्दू भी उसका समर्थन कर रहे हैं।

यह मांग संपूर्णतः न्यायसंगत है भी। जब तक यह स्थापित नहीं हो जाता कि भारतीय मुसल्मानों का एक अलग सुसंगठित समाज नहीं है, जिसकी देश

के अन्य समाजों से अपनी एक अलग स्थिति है, तबतक उन्हें राजनैतिक रूप से भी अलग एक इकाई मान कर चलना ही पड़ेगा। ९ करोड़ की आबादी वाले एक समाज से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सदा के लिए एक ऐसे बहुसंख्यक वर्ग के प्राधान्य को स्वीकार कर लेगा, जिसका धर्म व संस्कृति उससे अलहदा हो। मुसल्मानों को एक अलग राष्ट्र माना जाय या नहीं—पर, उनके इस आग्रह में कोई ऐसी बात नहीं है जिस पर इतनी कड़वाहट का फैलना ज़रूरी हो। इतिहास के लंबे युगों में राष्ट्रीयताओं की सीमाओं में सदा ही परिवर्त्तन होता रहा है। परन्तु, यदि मुसल्मानों को एक अलग राष्ट्र न भी माना जाय तो भी, एक अलग समाज होने के नाते, उनके आत्म-निर्णय के अधिकार को तो मानना होगा ही, और उसे देश के भावी शासन-विधान में क्रियात्मक रूप देना होगा। मैं यह नहीं कहता कि बहुसंख्यक वर्ग सदा ही अल्प-संख्यक वर्ग को कुचलने की चेष्टा करेगा, और न मैं यही मानता हूँ कि मुसल्मानों को आत्म-निर्णय का अधिकार देते ही सांप्रदायिक वैमनस्य का अन्त हो जायगा, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसा करने से समाधान का मार्ग अधिक प्रशस्त और सुगम बन सकेगा।

: ६ :

पाकिस्तान : सैद्धांतिक विश्लेषण

मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांग का मुख्य आधार यह विश्वास है कि मुसल्मान एक अलहदा राष्ट्र हैं। इस विचार का यों तो एक लम्बा इतिहास है, पर इसके सम्बंध में अधिक चर्चा लीग के लाहौर-प्रस्ताव के बाद ही सुनाई देने लगी है। सच तो यह है कि लीग की पाकिस्तान की मांग पहले हमारे सामने आई, और उसके समर्थन में, मुसल्मानों का एक अलहदा राष्ट्र होने का दावा, उसके बाद से ही दोहराया जाने लगा है। बार-बार के दोहराए जाने से उसमें कुछ बल भी आ गया है। इस दावे को सबसे अधिक स्पष्ट शब्दों में, सितम्बर १९४४ की अपनी बातचीत में, मि० जिन्ना ने गांधी जी के सामने रखा। उन्होंने कहा, "हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि राष्ट्रीयता का निर्धारण करने वाली किसी भी कसौटी पर जांच करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मुसल्मान और हिंदू दो भिन्न-राष्ट्र हैं। हमारा १० करोड़ की संख्या का एक अलहदा राष्ट्र है, और हमारी अपनी अलग संस्कृति और सभ्यता, भाषा और साहित्य, कला और वास्तु-कौशल, नाम और उपनाम, जीवन के मूल्यों के संबंध में धारणाएं व विश्वास, क़ानून और नैतिक बंधन, रिवाज और रहन-सहन, इतिहास और परम्पराएं, दृष्टिकोण और आकांक्षाएं, हैं।...संक्षेप में, जीवन का, और जीवन के संबंध में, हमारा अपना एक दृष्टिकोण है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की दृष्टि से भी हम एक अलहदा राष्ट्र हैं।"

दो राष्ट्रों का सिद्धांत

मि० जिन्ना के मुसल्मानों के एक अलहदा राष्ट्र होने के दावे को, लीग के बाहर के, सभी मुस्लिम राजनैतिक दलों व नेताओं ने अमान्य ठहराया है। आज़ाद बोर्ड, अखिल भारतीय मोमिन कांफ्रेंस आदि ने उसके विरोध में प्रस्ताव पास किये हैं। मौलाना आज़ाद ने तो यह घोषणा की थी कि पाकिस्तान की कल्पना ही इस्लाम-धर्म के विरुद्ध जाती है। परन्तु, गांधी जी ने इस सिद्धांत की जैसी तीव्र आलोचना की है, वैसी शायद किसी ने भी नहीं की। उनका कहना है कि यदि हिंदुओं और मुसल्मानों में कोई अन्तर है तो वह उनके धार्मिक विश्वास का अन्तर है। उन्होंने जिन्ना साहिब की दलीलों का उत्तर देते हुए लिखा, "मैं तो इतिहास में कोई ऐसा उदाहरण नहीं देखता जब कि किसी देश के

रहने वाले व्यक्तियों और उनकी सन्तान ने, केवल धर्म-परिवर्तन के आधार पर, अपने को अपने परम्परागत राष्ट्र से अलग एक राष्ट्र माना हो। आप यह नहीं कहते कि आपने हिंदुस्तान को जीता, इसलिए आप एक अलहदा राष्ट्र हैं। आप तो अपने को एक अलहदा राष्ट्र इसलिए मानते हैं कि आपने अपना धर्म बदल लिया है। क्या आज हिंदुस्तान एक राष्ट्र बन जायगा यदि हम सब लोग इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर लें? क्या बंगाली, उड़िया, आंध्रवासी, तामिल, मराठे, गुजराती आदि अपनी विशेषताओं को खो देंगे यदि वे मुसल्मान बन जायं?" गांधी जी के इस प्रश्न का आज भी उत्तर नहीं मिल सका है।

यदि धर्म की विभिन्नता के आधार पर मुसल्मानों को एक अलग राष्ट्र मान लिया जाय, तो उसी आधार पर फिर सिखों को भी एक अलग राष्ट्र क्यों न माना जाय? परन्तु, इसके लिए जिन्ना साहिब तैयार नहीं हैं—यद्यपि दक्षिण भारतीयों द्वारा द्रवड़िस्तान के रूप में अपना एक अलग राज्य स्थापित कर लेने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। १६४२ की अपनी पंजाब-यात्रा में उन्होंने सिखों के संबंध में आत्म-निर्णय के अधिकार के उठाए जाने का बड़ा विरोध किया। उन्होंने कहा कि मुसल्मान तो यह अधिकार इसलिए चाहते हैं कि "वह एक निश्चित भू-भाग में, जो उनकी मातृभूमि है और जहां उनका बहुमत है, एक राष्ट्रीय समष्टि के रूप में रह रहे हैं......परन्तु क्या कभी इतिहास में यह भी सुना गया है कि एक ऐसा अर्द्ध-राष्ट्रीय (sub-national) वर्ग, जो देश के भिन्न-भिन्न भागों में बंटा हुआ है, एक स्वतन्त्र-राज्य के निर्माण की मांग करे?...मुस्लिम-समाज इस प्रकार का अर्द्ध-राष्ट्रीय वर्ग नहीं है। आत्म-निर्णय के अधिकार का उसका दावा उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।" यह दलील समझ में नहीं आती। यदि मुसल्मान हिंदुओं से अपनी विभिन्नताओं के आधार पर एक अलहदा राष्ट्र होने का दावा करते हैं तो कोई कारण नहीं कि सिख, जो हिंदू और मुसल्मान दोनों से भिन्न हैं, अपने को एक अलहदा राष्ट्र न मानें।

राष्ट्रीयता के आधार-तत्त्व

परन्तु, यह राष्ट्रीयता है क्या वस्तु? कब कोई जाति अपने को एक अलहदा राष्ट्र मानने का अधिकार प्राप्त कर लेती है? राष्ट्रीयता के जो आधार-तत्त्व माने जाते हैं यदि हम उनकी कसौटी पर मुस्लिम-लीग के दावे को लें तो उसकी अयथार्थता बड़ी जल्दी स्पष्ट होने लगती है। जाति (race) की दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दू और मुसल्मानों के बीच हम किसी प्रकार की विभाजन-रेखा नहीं खींच सकते—इस सम्बन्ध में हम एक पंजाबी हिन्दू और पंजाबी

मुसल्मान में अधिक सादृश्य पाएंगे, एक पंजाबी हिन्दू और बंगाली मुसल्मान में बिल्कुल भी नहीं। जाति की दृष्टि से, बंगाली और आसामी में शायद हम तिब्बती अथवा मंगोल-रक्त का समावेश पा सकें, और मद्रासी और मराठों में द्रविड़ रक्त का, पर किसी भी प्रदेश के हिन्दू और मुसल्मानों में इस दृष्टि से कोई भेद नहीं किया जा सकता। भाषा के दृष्टिकोण से भी यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान के मुसल्मानों की कोई अलहदा भाषा नहीं है—पंजाब में वे पंजाबी बोलते हैं, सिंध में सिंधी, पश्चिमी संयुक्त-प्रान्त में फ़ारसी के शब्दों से भरी हुई हिन्दुस्तानी, उसीके पूर्वी-प्रदेशों में उसी भाषा का संस्कृत-प्रधान रूप, बंगाल में ठेठ संस्कृतमयी बंगला। उर्दू उनकी अपनी भाषा नहीं है—उसके निर्माण में हिन्दुओं का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है, और आज भी हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी संख्या, विशेष कर पूर्वी पंजाब व पश्चिमी युक्त-प्रान्त में, उसे अपनी मातृभाषा मानती है। जहाँ तक सामान्य-हितों का प्रश्न है, एक मुस्लिम ज़मींदार और मुस्लिम-किसान में हितों और स्वार्थों का वैषम्य एक मुसल्मान किसान और हिन्दू-किसान के मुक़ाबिले में कहीं अधिक है। भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से हम यदि इस प्रश्न पर विचार करें, तो हम यह स्पष्ट देख सकेंगे कि हिन्दुस्तान में कहीं भी ऐसी नदियां या पर्वत-श्रेणियां नहीं है, जो हिन्दू-इलाक़ों और मुसल्मान इलाक़ोंको एक दूसरेसे अलहदा करती हों। देशके हर कोनेमें हिंदू और मुसल्मान एक ही ज़मीन पर,एक ही सूरजके नीचे,साथ-साथ रहते हैं। केवल धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो हिन्दुओं और मुसल्मानों में सामान्य नहीं है।

मैं जानता हूँ कि जाति, भाषा, सामान्य-हित अथवा भौगोलिक स्थिति से ही राष्ट्रीयता का निर्धारण नहीं हो जाता। उसके मूल में इनसे भी गहरी भावनाएं हैं। जैसा कि रेनान ने लिखा है, "राष्ट्रीयता तो देश की आत्मा को कहते हैं। वह एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है। दो वस्तुएं, जो गहराई में जाकर एक हो जाती हैं, इस आत्मा अथवा आध्यात्मिक सिद्धान्त का सृजन करती हैं। इनमें से एक का सम्बन्ध भूतकाल से है, दूसरी का वर्तमान से। एक का जन्म प्राचीन सामान्य-संस्कृति और स्मृतियों में सामान्य गौरव की अनुभूति से होता है, दूसरी का विकास होता है दैनिक जीवन के वास्तविक समझौते में, साथ रहने की इच्छा में, और मिल-जुल कर एक वैभवशाली भविष्य के निर्माण की सामान्य-आकांक्षाओं में।"[1] इस दृष्टि से भी यदि हम हिन्दू और मुसल्मानों के आपसी सम्बन्धों को देखें तो हमें यह ज्ञात हो सकेगा कि इन दोनों जातियों ने मिलकर एक राष्ट्र, भारतीय राष्ट्र, का निर्माण किया है। वे लगभग एक

१. रेनान : What is a Nation ?

हज़ार वर्ष तक मिल-जुल कर एक साथ रहे हैं, और, सामान्य कला और साहित्य, और सामान्य दर्शन-शास्त्र का निर्माण किया है। वे कंधे से कंधा भिड़ा कर युद्धों में सामान्य-शत्रुओं के साथ जूझे हैं, और रण-क्षेत्रों में उनका रक्त साथ-साथ बहा है। सच तो यह है कि आज का भारतीय-समाज, आज की भारतीय संस्कृति और सभ्यता, आज के भारतीय भाषा और साहित्य, कला और वास्तु-कौशल, इतिहास और परम्पराएं, कानून और नीति, सभी कुछ हिन्दू और मुसल्मानों की सामान्य-सृष्टि हैं।

मैं यह मानता हूँ कि इन दोनों जातियों की 'साथ रहने की स्पर्धा' आज उतनी तीव्र नहीं रह गई है। राजनैतिक मत-भेदों के साथ सांस्कृतिक विभिन्नताएं भी अपने विषैले फनों को ऊपर उठा रही हैं। सर सैयद अहमद ने मुसल्मानों के लिए एक अलग पोशाक की कल्पना की। पिछली अर्द्ध-शताब्दी में अलीगढ़, लाहौर, हैदराबाद आदि नगरों में एक नई भाषा का विकास हो रहा है, जो फ़ारसी और अरबी शब्दों से भरी हुई है। बंगाल में भी मुसल्मान 'जल' के स्थान पर 'पानी' शब्द का प्रयोग अधिक पसंद करने लगे हैं (यद्यपि वे भूल जाते हैं कि पानी का सम्बन्ध भी संस्कृत के 'पाणीय' शब्द से है)। पाकिस्तान की मांग ज़ोरों पर है। मुसल्मान प्रारम्भिक ख़लीफ़ाओं के जीवन में अधिक दिलचस्पी लेते हैं, आदिलशाह या अकबर के जीवन में कम। परन्तु, यह प्रवृत्ति, जैसा कि पहिले देखा जा चुका है, एक विशेष विचार-धारा का, जो प्राचीन के पुनरुत्थान के साथ सम्बद्ध थी, परिणाम थी, और कुछ बाह्य-परिस्थितियों, और एक विदेशी शासन की मौजूदगी, ने उन्हें प्रोत्साहन दिया। परन्तु, प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की सख़्त, मैली मिट्टी को फोड़ कर, सशक्त प्रगतिशील तत्त्व अपने स्वस्थ अंकुरों को लेकर बाहर निकल आये हैं, और इनका विकास अनिवार्य दिखाई दे रहा है। भविष्य इन शक्तियों के हाथ में है। एक नये भारतीय राष्ट्र का निर्माण हो रहा है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं भविष्य के इन सोनहले स्वप्नों में मुसल्मानों की आज की मांग को ख़त्म कर देना चाहता हूँ। मैं तो रेनान के इस कथन में विश्वास करता हूँ कि "राष्ट्र की स्थिति तो उसकी दैनिक स्वीकृति का प्रश्न है, उसी प्रकार जैसे व्यक्ति अविरत रूप से प्रतिक्षण अपने जीवित रहने का प्रमाण देता रहता है।" यदि मुसल्मान आज की विशेष परिस्थितियों में अपने को एक अलहदा राष्ट्र मानने पर कटिबद्ध हैं, तो मैं इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का दुराग्रह रखने के पक्ष में नहीं हूँ। मैं मानता हूँ कि उनके इस आग्रह को हमें मान्यता देनी चाहिए।

'राष्ट्रीय आत्मनिर्णय' का सिद्धांत

परन्तु, यहां एक और, इससे भी कठिन, प्रश्न हमारे सामने आकर उपस्थित होता है। यदि हम मान भी लें कि मुसलमान एक अलहदा राष्ट्र हैं, तो क्या इसका अर्थ यह होजाता है कि उन्हें एक अलहदा राज्य क़ायम करने का अधिकार भी मिल जाना चाहिए ? प्रत्येक राष्ट्र को अपने लिए एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना करने का अधिकार है, इस सिद्धांत का जन्म फ्रांस की राज्य-क्रांति के दिनों में हुआ। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध विचारक जे० एस० मिल ने ज़ोरदार शब्दों में उसका समर्थन किया। उनका विश्वास था कि "यदि किसी समाज में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल है तो उस समाज का यह अधिकार भी हो जाता है कि वह अपने सब सदस्यों को एक सामान्य-शासन के अन्तर्गत संगठित कर सके, और वह शासन स्वतंत्र और सार्वभौम हो।"[1] १९१९ की संधि-चर्चा के दिनों में यह सिद्धांत अपनी लोकप्रियता के उच्चतम शिखर तक जा पहुंचा। प्रेज़ीडेंट विल्सन ने उसका विशेष रूप से समर्थन किया। उन्होंने लिखा, "आत्म-निर्णय केवल एक आकर्षक मुहाविरा नहीं है। वह तो क्रियात्मक राजनीति का एक अनिवार्य सिद्धांत है, जिसकी राजनीतिज्ञ उपेक्षा नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा करना चाहेंगे तो उन्हें बड़े ख़तरे का सामना करना पड़ेगा।" १९१९ के राजनीतिज्ञों ने उसकी उपेक्षा नहीं की। परन्तु उन्हें उससे भी बड़े ख़तरे का सामना करना पड़ा, जिसका प्रेज़ीडेंट विल्सन को भय था। इस सिद्धांत को अमली रूप देने का अर्थ यह हुआ कि यूरोप को कई छोटे-छोटे देशों में बांट दिया गया। जहां कोई भी ऐसा अल्पसंख्यक वर्ग था, जो राष्ट्रत्व का दावा कर रहा था, वहीं उसके लिए एक स्वतंत्र-राज्य की स्थापना करनी पड़ी—और इस प्रकार लिथुआनिया, लाटविया, एस्टोनिया, ज़ैकोस्लाविया, पौलैण्ड, आस्ट्रिया, हंगरी, यूगोस्लाविया, रूमानिया, बल्गेरिया, ग्रीस आदि-आदि अनगिनत स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो गई। परन्तु, इससे न तो अल्पसंख्यक वर्गों के स्वत्वों की समस्या सुलझ सकी, और न कोई अन्य समस्या ही। दो महायुद्धों के बीच का यूरोप का इतिहास उस सिद्धांत के, धीमे पर निश्चित रूप से, नष्ट-भ्रष्ट होते रहने का इतिहास है जिसका अथक और अनवरत प्रचार अमरीका के प्रेज़ीडेंट ने किया था।

आज यह बात स्पष्ट होगई है कि १९१९ की संधि की असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसके नियन्ताओं ने 'राष्ट्र' और 'राज्य' के अन्तर को ठीक से नहीं समझा था। उनका समस्त चिन्तन उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक

१—जे० एस० मिल—Representative Government.

स्थिति की पृष्ठभूमि पर था—जब राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र एक मैत्री-सूत्र में बंधे हुए थे। उस समय तक कोई यह नहीं कह जानता था कि इन दोनों सिद्धांतों का आंतरिक वैषम्य किसी दिन इतना बढ़ जायगा कि एक ओर तो राष्ट्रीयता प्रजातन्त्र की जड़ों को ही उखाड़ फेंकने में तत्पर हो जायगी—जैसा मध्य-यूरोप के देशों, जर्मनी इटली आदि, में हुआ—और दूसरी ओर प्रजातन्त्र की भावना राष्ट्रीयता के खोल को फाड़ कर फेंक देगी–जैसा रूस में हुआ। आज हम इस बात को स्पष्ट रूप से समझ गए हैं कि राष्ट्रीयता और सच्चा प्रजातन्त्र परस्पर-विरोधी वस्तुएं हैं। यदि हम राष्ट्रीयता को प्राधान्य देते हैं तो उसमें भय है कि देश का पूंजीवादी वर्ग उस भावना का उपयोग श्रमिक वर्ग को चूसने में करेगा—और उसके परिणाम-स्वरूप या तो फ़ासिज़्मकी स्थापना होगी या इंग्लैण्ड और अमरीका के ढंग के अर्द्ध-फ़ासिज़्म, पूंजीवादी-प्रजातन्त्र, की। दूसरी ओर, यदि हम इस बात का प्रयत्न करें कि प्रत्येक व्यक्ति को न सिर्फ़ वोट देने के सम्बन्ध में बराबरी का अधिकार प्राप्त हो, परन्तु भोजन और वस्त्र की सुविधा भी सब लोगों को बराबर मिल सके, तो हमें उसके लिए आज की राजनैतिक सीमा-रेखाएं बदलना पड़ेंगी, और राष्ट्रीयता के प्रश्न को एक गौण रूप देना होगा। हमें राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र इन दो में से एक को चुन लेना है, और यदि शीघ्र ही हमने यह चुनाव नहीं कर लिया तो वह खुले-हाथों विपत्ति को निमंत्रण देना होगा। पश्चिम के देशों ने इस चुनाव में देर की, इसी कारण उन्हें वर्त्तमान महायुद्ध का सामना करना पड़ा।

इस प्रश्न पर गंभीरता से सोचने की ज़रूरत है। 'राष्ट्रीय' और 'आत्म-निर्णय' इन दो शब्दों में ही क्या विरोधाभास नहीं है? यदि किसी समाज को केवल इस आधार पर कि वह एक 'राष्ट्र' है अपने लिए एक स्वतन्त्र राज्य के निर्माण का अधिकार मिल जाता है, तो इसमें 'आत्म-निर्णय' के लिए स्थान कहां रहा? यदि उन सब लोगों का जो पोलिश-भाषा बोलते हैं, पोलैण्ड का नागरिक बन जाना अनिवार्य है, या वे सब लोग जो लिथुआनिया-भाषा का प्रयोग करते हैं, लिथुआनिया-राज्य के शहरी ही बन सकते हैं, अथवा वे सब व्यक्ति जो हिंदुस्तान में रहते हैं और इस्लाम में विश्वास रखते हैं, अपने लिए एक स्वतन्त्र राज्य का निर्माण करने के अधिकारी हो जाते हैं, तो इसमें 'आत्म-निर्णय' का प्रश्न तो कहीं रहा ही नहीं। राष्ट्रीयता का निर्धारण करने के लिए धर्म तो एक बहुत ही मध्य-कालीन आधार है परन्तु यदि हम भाषा को भी ले लें, जो कि १६१६ के निर्णयों का आधार थी, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब व्यक्ति जो एक भाषा बोलते हैं, सदैव एक राज्य में

रहना ही पसन्द करेंगे। पहले महायुद्ध के बाद यूरोप में कई स्थानों पर जनता की राय ली गई थी। उनमें से, एलेंस्टाइन में, जहां ४६ प्रतिशत व्यक्ति पोलिश-भाषा का प्रयोग करते हैं, केवल दो प्रतिशत व्यक्तियों ने पोलैण्ड राज्य के अंतर्गत रहना स्वीकार किया। मेरीनवर्डर, उत्तरी साइलेशिया और क्लेगनफ़ुर्त में भी भाषा-सामान्य और राजनैतिक आकांक्षाओं के बीच एक बड़ा अंतर दिखाई दिया।

'आत्म-निर्णय' का अर्थ यह नहीं है कि पूर्व-निर्धारित राष्ट्रों को अपने राजनैतिक भविष्य के निर्णय का अधिकार दे दिया जाय, परन्तु वह अधिकार तो देश अथवा समाज के व्यक्तियों, वयस्क पुरुषों व स्त्रियों, को दिया जाना चाहिये। उदाहरण के लिए, भारतीय मुसलमानों के स्वत्वों और अधिकारों के संबंध में यदि हमें किसी निर्णय पर पहुँचना है, तो कोई कारण दिखाई नहीं देता कि हम एक राष्ट्र के रूप में, समष्टि की दृष्टि से, तो उन पर चर्चा कर लें, पर व्यक्तिगत रूप से भारतीय मुसल्मानों को इसमें क्या हानि-लाभ है उसके संबंध में बिल्कुल भी न सोचें। यह तो कोई दूरदर्शिता की बात नहीं होगी कि हम भारतीय मुसल्मानों को, केवल धार्मिक और सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण, उनके उस सैनिक और आर्थिक परस्परावलंबन की व्यापक आधार-भूमि से, जो देश की भौगोलिक एकता पर स्थापित है, उखाड़ कर उन्हें एक स्वतन्त्र राज्य के सुपुर्द कर दें। हमारे सामने प्रश्न यही नहीं है कि हम कुछ स्वयं-निर्णीत नेताओं की बार-बार दोहराई जाने वाली मांग पर ही ध्यान दें, हमें यह यह भी तो देखना है कि मुस्लिम-जनता क्या चाहती है, और उसका हित किसमें है। लीग के सैंकड़ों प्रस्तावों से इस बात का निर्णय नहीं होगा। उसके लिए तो मुस्लिम जन-मत की आवश्यकता है।

परन्तु, यदि आधुनिक प्रचार-साधनों के एक व्यापक संगठन के द्वारा भावनाओं की एक आंधी का सृजन किया जा सका, जिसके प्रभाव में भारतीय मुसल्मानों ने देश के बँटवारे के पक्ष में अपना मत दे दिया, तो क्या पाकिस्तान की स्थापना करना उचित होगा, यह जानते हुए भी कि उनकी मांग स्वयं उनके लिए अहितकर और आत्म-घातक है। प्रोफ़ेसर कार के शब्दों में, "किसी भी राजनैतिक इकाई के आकार-विस्तार व शासन तन्त्र के निर्धारण में आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व है, परन्तु उसे ऐसा एकाकी अथवा सर्वोपरि सिद्धांत मान लेना कि उसके सामने अन्य सभी वैचारिक और आवश्यक प्रश्नों को, अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को भी, गौण मान लिया जाय, उचित नहीं होगा। आत्म-निर्णय का अधिकार भी उसी प्रकार

से एक सार्वभौम अधिकार नहीं माना जा सकता जैसे प्रजातन्त्र में यह नहीं माना जा सकता कि हर एक व्यक्ति को वह जैसा करना चाहे वैसा करने की इजाज़त मिल सकेगी। आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर इंग्लैण्ड या जर्मनी के बीच में रहने वाला व्यक्तियों का कोई दल यह नहीं कह सकता कि उसे एक स्वतन्त्र, सार्वभौम राज्य की स्थापना का अधिकार मिल जाना चाहिए। इसी प्रकार, वेल्स, कैटेलोनिया अथवा उज़बकिस्तान के लोगों के लिए, केवल इस आधार पर कि इन प्रदेशों की जनता का बहुमत यह चाहता है, एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का दावा माना नहीं जा सकता; आत्म-निर्णय के अधिकार को क्रियात्मक रूप देने के उनके इस दावे पर इंग्लैण्ड, स्पेन और सोवियट रूस के हितों को दृष्टि में रखते हुए ही विचार किया जा सकता है।"[1] भारतीय परिस्थितियों में यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें तो हमें पहिले तो यह देखना होगा कि मुस्लिम-बहुमत वाले प्रान्तों का एक स्वतन्त्र-राज्य बना देना उन प्रांतों की मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिम जनता के लिए कहाँ तक हितकर होगा, और तब यह देखना होगा कि वह समस्त देश के हितों की दृष्टि से कहाँ तक आवश्यक है।

'आत्म-निर्णय' : रक्षा-संबंधी समस्याएं

आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर पहिला आघात प्रथम महा-युद्ध के दिनों में हुआ, दो युद्धों के बीच के वर्षों में उस पर एक बड़ी चोट लगी, और वर्त्तमान महायुद्ध में तो वह चकनाचूर हो चुका है। इसका प्रमुख कारण यह था कि इन वर्षों में युद्ध की पद्धति में आमूल-परिवर्त्तन होते रहे हैं। १६१४ के पहिले एक छोटे राष्ट्र के लिए एक बड़े युद्ध में भी अपनी तटस्थता की रक्षा करना कठिन नहीं था। परन्तु, जब बेल्ज़ियम और यूनान, अपनी इच्छा के विरुद्ध भी, प्रथम-महायुद्ध की लपटों में घसीट लिये गए, और अन्य कई राष्ट्रों को भी अपनी तटस्थता की सीमा-रेखाओं को लांघने पर विवश हो जाना पड़ा, तो यह सिद्धान्त सचमुच एक भयावह स्थिति में पड़ गया। १६१६ की सन्धि का परिणाम यह हुआ—क्योंकि उसका आधार उन्नीसवीं शताब्दी की चिन्तन-धारा में था—कि यूरोप में कई छोटे-मोटे राज्यों की स्थापना हो गई। इसने समस्या को कुछ अधिक जटिल बना दिया। परन्तु, तब भी आशा यह थी कि संयुक्त-रक्षा (Collective Security) के उपायों द्वारा, जिन्हें राष्ट्र-संघ (League of Nations) में क्रियात्मक रूप देने का प्रस्ताव था, यह समस्या सुलझाई जा सकेगी। परन्तु, कुछ आन्तरिक वैषम्यों के कारण राष्ट्र-

१—ई.एच. कार—Conditions of Peace, पृ० ४७-४८।

संघ इस दिशा में कुछ भी कर सकने में असमर्थ रहा। इसी बीच कुछ बड़े देश अपने विस्तृत साधनों का उपयोग अपने सैनिक बल को बढ़ाने में कर रहे थे। छोटी शक्तियां और भी छोटी और अशक्त बनती जा रही थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि १९४० में जब जर्मनी की संगठित सेनाओं ने अस्त्र संभाल लिये तो किसी भी छोटे देश के लिए अपनी तटस्थता की रक्षा करना असम्भव हो गया। नॉर्वे, हॉलैण्ड, बेल्जियम, एक के बाद एक, धराशायी होने लगे। राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का खोखलापन कभी इतना स्पष्ट नहीं हुआ था जितना १९४० के ग्रीष्म में। आज तो किसी भी छोटे राज्य के लिए किसी बड़े राज्य का मुक़ाबिला करना असम्भव हो गया है, जब तक वह अपनी सैनिक स्वतन्त्रता किसी अन्य बड़े राज्य के सुपुर्द न कर दे। आज परस्परावलम्बन के द्वारा ही कोई देश अपने बचाव की आशा कर सकता है।

वस्तु-स्थिति की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान को यदि दो भागों में बाँट दिया जाय तो वह रूस, चीन, जापान या किसी भी अन्य प्रथम-श्रेणी के देश के आक्रमण का मुक़ाबिला कदापि नहीं कर सकेगा। रक्षा-व्यय की दृष्टि से बँटवारे के आर्थिक पक्ष पर हम विचार कर चुके हैं। अपनी रक्षा के लिए पाकिस्तान को हिन्दुस्तान, या अन्य किसी देश, पर निर्भर रहना पड़ेगा, और इस दशा में उसे अपनी सार्वभौमता के साथ समझौता करना पड़ेगा। बहुत संभव है कि किसी बाहरी आक्रमण की पहिली अफ़वाह के साथ ही पाकिस्तान की सरकार हिन्दुस्तान का आश्रय टटोले। यह भी सम्भव है कि, अपनी स्वतंन्त्रता के संबंध में बहुत अधिक भावुक और संवेदन-शील होने के कारण वह ऐसा न भी करे—वैसी दशा में उसे उसी स्थिति का सामना करना पड़ेगा जो जून १९४० में फ्रांस ने इंग्लैण्ड के साथ मिल जाने के प्रस्ताव को अस्वीकार करके अपने लिए उत्पन्न कर ली थी। वर्त्तमान महायुद्ध की समाप्ति के साथ सभी युद्धों की समाप्ति नहीं हो गई है। सच तो यह है कि दूसरा महायुद्ध निबटा भी नहीं था, तभी से तीसरे महायुद्ध की चर्चा सुनाई दे रही है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संतुलन और समन्वय की अवस्था अभी दूर है। यह प्रयोग करने का समय नहीं है। राजनैतिक गुरुत्व का केन्द्र अटलांटिक से प्रशांत में चले आने से अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में हमारे देश की स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। आने वाले महायुद्धों में हमें अधिक क्रियात्मक भाग लेना होगा। यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना स्थान बनाना चाहते हैं तो हमें अपने देश को अविभाज्य, और अपने सैन्य-बल को संगठित, रखने की आवश्यकता है।

'आत्म-निर्णय' : आर्थिक पक्ष

रक्षा-संबंधी समस्याओं पर विचार करना यदि आवश्यक है, तो आर्थिक प्रश्नों का विश्लेषण अनिवार्य ही माना जाना चाहिए। आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के इतना जटिल होने का मुख्य कारण यह है कि "एक ओर तो जन-साधारण छोटी-छोटी सांस्कृतिक इकाइयों की स्थापना करने के लिए व्यग्र हैं, और दूसरी ओर आर्थिक दृष्टि से बड़े-बड़े भूखंडों का समन्वित किया जाना अनिवार्य होता जा रहा है।" राजनैतिक अ-केन्द्रीकरण के साथ-साथ आर्थिक केन्द्रीकरण की भावना बढ़ती जा रही है। १६१६ की संधि ने यूरोप के छोटे-छोटे राष्ट्रों को राजनैतिक आत्म-निर्णय का अधिकार तो दे दिया था, परन्तु काम करने अथवा भूखों न मरने का अधिकार नहीं दिया—जब कि १६१६ के यूरोपियन राजनीतिज्ञों के सामने सबसे बड़ा प्रश्न राजनैतिक अथवा सीमा-निर्धारण संबंधी नहीं था, परन्तु आर्थिक था। जैसा कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्र-वेत्ता जे० एम० कीन्स ने लिखा, "संधि के समय भोजन, कोयले और यातायात के साधनों के आवश्यक प्रश्नों को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया, और इसका परिणाम यह हुआ कि जिन छोटे-छोटे राष्ट्रों को अपने स्वतन्त्र राज्य क़ायम कर लेने की सुविधा मिल गई थी उनकी आर्थिक समस्याएं बहुत अधिक भीषण हो गईं।"[1]

इस संबंध में हम प्रो० कार की चेतावनी की उपेक्षा नहीं कर सकते। उन्होंने लिखा है—"जैसे वोट देने का अधिकार कोई अर्थ नहीं रखता यदि उसके साथ-साथ काम करने और पारिश्रमिक प्राप्त करने का अधिकार न हो, इसी प्रकार राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का अधिकार भी बहुत बड़े अंशों में अपना आकर्षण खो देता है, यदि वह आर्थिक क्षेत्र में कड़े प्रतिबन्धों की सृष्टि करने का कारण हो। 'राष्ट्रीय' अधिकार व्यक्ति के अधिकारों के समान खोखले और अर्थ हीन माने जायंगे, यदि वह आर्थिक विकास, या कम से कम आर्थिक निर्वाह, के लिए मार्ग तैयार नहीं करते, और सड़क पर काम करने वाले मज़दूर और खेत में काम करने वाले किसान की समस्या को हल नहीं करते।"[2] न तो तर्क से और न कल्पना की बड़ी-से-बड़ी उड़ान से यह विश्वास किया जा सकता है कि पाकिस्तान के बन जाने से देश के, अथवा उसके किसी भाग-विशेष के, आर्थिक विकास में कोई सहायता मिलेगी। इस संबंध में यदि थोड़ा

१—जे. एम. कीन्स—The Economic Consequences of the Peace, पृ. १३४।

२—ई. एच. कार—Conditions of Peace, पृ. ६०।

भी विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि आर्थिक दृष्टि से पाकिस्तान एक आत्म-घातक प्रयोग होगा। हमारे देश की भौगोलिक एकता एक ऐसा बड़ा तथ्य है, जिसकी उपेक्षा, सैनिक और आर्थिक दोनों में से किसी भी दृष्टि से, नहीं की जा सकती। भूगोल ने हमारे देश को संसार के दूसरे देशों से, ऊंची पर्वत श्रेणियों और गहरे समुद्रों द्वारा, अलहदा करके, और उसके आन्तरिक प्रदेशों में किसी भी प्रकार का बड़ा व्यवधान उपस्थित न करके, सैनिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से उसे एक सम्पूर्ण और स्वावम्बी इकाई का रूप दे दिया है। इस भौगोलिक एकता को आधार बना कर, विशेष कर शासन की सुविधा की दृष्टि से, हमारे शासकों ने एक अधिक व्यापक एकता का विकास कर लिया है। सड़क और रेल, तार और डाक आदि से सारा देश एक सूत्र में पिरो दिया गया है। इस प्रकार आर्थिक पुनर्निर्माण की बड़ी-से-बड़ी योजना के लिए भी एक व्यापक आधार की सृष्टि कर ली गई है। बड़ी-बड़ी योजनाएं, बम्बई-योजना और गांधीवादी योजनाएं, हमारे सामने आ भी रहीं हैं। परन्तु, आर्थिक पुनर्निर्माण की किसी भी योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश की राजनैतिक एकता को क़ायम रखा जा सके। उसके बिना किसी भी योजना का स्थायित्व बालू पर खड़े किये गए प्रासाद से अधिक न होगा।

भारतवर्ष की भौगोलिक एकता

भौगोलिक दृष्टि से हिन्दुस्तान की तुलना प्रायः यूरोप से की जाती है। विस्तार में हमारा देश उतना बड़ा है जितना रूस को निकाल कर समस्त यूरोप। यह कहा जाता है कि यदि यूरोप कई विभिन्न राज्यों में बाँटा जा सकता है तो हिन्दुस्तान को दो भागों में बाँटने के संबंध में हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु, हमारे देश की यूरोप से तुलना करना एक मिथ्यावाद को जन्म देना है। प्रकृति ने यूरोप को कई भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बांटा है—उसके लम्बे समुद्र-तट में सशक्त लहरें मीलों तक घुसती चली गई हैं, एक देश और दूसरे देश के बीच में दुर्भेद्य पर्वत-श्रेणियां हैं, नदियों के प्रवाह ने भी यूरोप के इस भौगोलिक विभाजन में सहायता पहुँचाई है। यूरोप में जो आन्तरिक प्रादेशिक सीमा-रेखाएं हैं वे प्रायः जाति, भाषा और सांस्कृतिक परम्पराओं की विभिन्नता को और भी स्पष्ट बना देती हैं। भारतवर्ष भौगोलिक दृष्टि से अविभाज्य है, और सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दू और मुसल्मानों के बीच यदि कोई विभाजन-रेखा है, तो वह धर्म है, और कहीं भी ऐसा नहीं हुआ है कि भौगोलिक प्रतिबन्धों ने विभिन्न धर्मावलम्बियों को विभिन्न प्रदेशों में बाँट दिया हो।

यदि पाकिस्तान बन भी गया तो लगभग ढाई करोड़ मुसल्मान उसकी सीमाओं के बाहर रह जायंगे, और उससे भी बड़ी संख्या में हिन्दू, सिख और अन्य धर्मावलम्बी पाकिस्तान में शामिल कर लिये जायंगे।

भारतवर्ष और यूरोप के बीच इस भौगोलिक अन्तर का प्रभाव उनके समस्त इतिहास पर पड़ा है। भारतवर्ष में सदा ही केन्द्रीकरण की भावना प्रबल रही है, जब कि यूरोप की प्रमुख प्रवृत्ति अकेन्द्रीकरण की ओर है। हमारे देश में, हल्के से प्रयत्न से, बड़े-बड़े साम्राज्यों की नींव पड़ सकी है—मौर्य, गुप्त, पठान, मुग़ल, मराठा, अंग्रेज़, एक के बाद एक साम्राज्य की स्थापना होती रही है। यूरोप में, मध्य-कालीन पवित्र रोमन साम्राज्य के बाद से—जिसके सम्बन्ध में वोल्टेअर ने लिखा था कि वह न पवित्र था, न रोमन, और न साम्राज्य ही कहलाया जा सकता था—दो या तीन बड़े राष्ट्रों में मैत्री के संबंध क़ायम रखना भी कठिन हो गया है। यूरोप में तब से संघर्ष-तत्पर अनेकों पाकिस्तानों का ही प्राधान्य है, सच तो यह है कि यूरोप का अनुकरण करने के बदले हम उससे नसीहत और चेतावनी ले सकते हैं। पिछले सौ वर्षों से तो यूरोप शान्ति नाम की वस्तु से सर्वथा अपरिचित रहा है। युद्धों के बीच का अवकाश-काल सदा ही आने वाले युद्धों के शाप से ग्रसित और आक्रान्त रहा है। इससे उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति को भी बड़ी ठेस पहुँची है, क्योंकि जिस शक्ति का उपयोग इन क्षेत्रों में किया जाना चाहिए था उसका अपव्यय सामरिक तैयारियों में हुआ है। यूरोप में युद्ध का दानव जिस प्रकार अपना नग्न-ताण्डव करता रहा है, और उसकी प्रेत-छाया में बुभुक्षा और महामारी करोड़ों व्यक्तियों को अपना ग्रास बनाते रहे हैं, उसकी पुनरावृत्ति यदि हम अपने देश में भी करना चाहते हैं तो हमें अवश्य पाकिस्तान की स्थापना कर लेना चाहिए।

विभाजन का मनोविज्ञान

यहाँ हम यह भी न भूलें कि यदि हमने अपने देश को दो भागों में बाँट दिया तो हम घटनाओं के एक ऐसे चक्र को गति प्रदान कर देंगे जो न जाने कब तक अबाध-क्रम से चलता रहेगा। डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दों में, "प्रत्येक राजनैतिक प्रवृत्ति की अपनी एक गति होती है, जिसे एक बार क्रियात्मक रूप दे देने के बाद रोकना दुःसाध्य हो जाता है। विग्रह और विभाजन के सिद्धान्त को यदि एक बार गति मिली तो वह ग्रीक-ट्रैजिडी के समान एक हृदयहीन वेग से अधिक से-अधिक सशक्त बनता जायगा, और लीग और कांग्रेस का कोई भी समझौता उसकी इस गति को रोकने में सर्वथा असमर्थ

रहेगा।"[1] १६४० में, अपने पाकिस्तान के प्रस्ताव को पास करनेके बाद १६४१ में, मद्रास अधिवेशन में, लीग के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह दक्षिण-भारतीयों की द्रवड़िस्तान की माँग का भी समर्थन करे। सिखों की ख़ालिस्तान की मांग का विरोध तो उसे, आत्म-रक्षा की दृष्टि से, करना था ही, इसलिए उसने सिखों को एक अर्द्ध-राष्ट्रीय समूह बताया। परन्तु, यदि मुसल्मान अपने को एक अलहदा राष्ट्र मानते हैं, तो उनका सिखों के इसी प्रकार के विश्वास का विरोध बड़ा निर्बल रह जाता है। पाकिस्तान के क्रियात्मक रूप लेते ही ख़ालिस्तान का आन्दोलन प्रबल हो जायगा, और यदि ख़ालिस्तान बन जाता है, तो अकालिस्तान क्यों न बने—और कौन कह सकता है कि अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति कहाँ जाकर रुकेगी? इसकी प्रतिक्रिया एक ओर तो समाज के विभिन्न वर्गों पर, और दूसरी ओर हमारे देशी राज्यों पर होना भी स्वाभाविक है। जैसा प्रो० कूपलैण्ड ने लिखा था, "एक बार राष्ट्रीय अथवा अर्द्ध-राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के क्रियात्मक रूप ले लेने पर, क्या मराठे और राजपूत एक अखंड-हिन्दुस्तान में शामिल होने के लिए अपनी स्वीकृति दे देंगे, और क्या देशी नरेश, हैदराबाद के निज़ाम के नेतृत्व में, स्वतन्त्रता के बँटवारे में अपने अधिकार को खो देने के लिए उद्यत हो जायंगे?"[2]

मुस्लिम चिन्तन-धारा की प्रवृत्ति

भारतीय मुसल्मानों द्वारा पाकिस्तान की जो माँग उठाई जा रही है, वह अन्य मुस्लिम-देशों की चिन्तन-धारा के बिल्कुल ही विरुद्ध जाती है। आज समस्त मुस्लिम देश अपने इस विश्वास को कि धर्म को राजनैतिक संगठन का आधार माना जाय, छोड़ रहे हैं। समस्त मुस्लिम देशों को एक-सूत्र में संगठित कर लेने का 'पैन-इस्लामिज़्म' का आन्दोलन आज भारतीय मुस्लिम-समाज के अलावा अन्य सभी मुसल्मानों द्वारा दफ़ना दिया गया है। आज तो सभी मुस्लिम-देशों में, अल्जीरिया और मोरक्को से अफ़ग़ानिस्तान और इराक़ तक, राष्ट्रीयता की आराधना की जा रही है। आज धर्मान्धता के लिए किसी भी मुस्लिम देश में कोई स्थान नहीं रह गया है। पहिले महायुद्ध के बाद, ख़िलाफ़त के अंत और कमाल पाशा द्वारा टर्की के शुद्ध राजनैतिक आधार पर पुनर्निर्माण से इस प्रक्रिया का आरम्भ हुआ, और आज मिश्र, ईरान, इराक़, सीरिया आदि सभी मुस्लिम-देशों में राजनीति को धर्म से अलहदा कर लेने

१—बेनीप्रसाद: Communal Settlement, पृ. ४०।

२—कूपलैंड: Constitutional Problem of India, तृतीय भाग, पृ. १०४।

की यह प्रवृत्ति अपनी चरमसीमा तक पहुँच गई है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि हिन्दुस्तान के मुसल्मान एक ऐसे समय में भी, जब दुनियाँ के सभी मुसल्मान राष्ट्रीयता और पश्चिमीकरण की ओर अग्रसर हो रहे हैं, एक मध्यकालीन विश्वास से अपना संबंध बनाये रखने के लिए इतने आग्रह-शील हों।

इस प्रश्न पर यदि थोड़ा और भी विचार करें तो हम यह स्पष्ट देख सकेंगे कि यद्यपि पाकिस्तान की धारणा के पीछे धर्म को राजनीति का आधार मान लेने का आग्रह है, परन्तु मुस्लिम-लीग का प्रमुख लक्ष्य धर्म नहीं है, राजनीति है। अपनी कल्पना को हम कितना ही गतिशील बनाना चाहें, हम इस विश्वास तक कभी पहुँच ही नहीं सकेंगे कि मि० जिन्ना के सभापतित्व में मुस्लिम-लीग का संगठन और विकास एक धार्मिक संस्था के रूप में हुआ है। पाकिस्तान की मांग का प्रमुख लक्ष्य भी न तो इस्लाम-धर्म के महत्त्व को बढ़ाना है, और न भारतीय मुसल्मानों के धार्मिक हितों का संरक्षण है, परन्तु भारतीय मुसल्मानों की स्थिति को, शुद्ध राजनैतिक दृष्टिकोण से, सबल बनाना है। क़ायदे-आज़म जिन्ना के हाथों हज़रत अल्लामा इक़बाल की कल्पना में एक आमूल-परिवर्त्तन हुआ है। इक़बाल का प्रधान लक्ष्य इस्लाम-धर्म के विकास पर था; जिन्ना भारतीय राजनीति में मुसल्मानों के विशेष अधिकारों पर ज़ोर दे रहे हैं। पाकिस्तान की मांग हर्गिज़ इसलिए नहीं उठाई जा रही है कि उसके समर्थक इस्लाम के उच्च-सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देना चाहते हैं—यदि वह ऐसा करना चाहते तो कम-से-कम मैं उनके इस कार्य का ज़ोरों से समर्थन करता—परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य यही है कि थोड़े से मुसल्मानों को आर्थिक शोषण और अविभाज्य राजनैतिक सत्ता के उपयोग के अभूतपूर्व अवसर प्राप्त हो सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा का झुकाव

अन्त में, हम अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा की वर्त्तमान प्रवृत्ति पर भी दृष्टिपात कर लें। प्रो० कार के शब्दों में, "सभी लोग अब इस बात को दिन-प्रति-दिन अधिक मानते जा रहे हैं कि आत्म-निर्णय का सिद्धान्त ऐसा सीधा-सादा सिद्धान्त नहीं है—जैसा १९१९ में माना जाता था—कि जनमत के आधार पर उसका निर्णय किया जा सके।" हर जगह—हम अमरीकन महाद्वीप लें, या दक्षिण-पूर्वी यूरोप, या मध्य-पूर्व—राजनैतिक चिन्तन की प्रवृत्ति बड़े संघ-बद्ध संगठनों की ओर है। बाल्कान-राज्यों में भी इस प्रकार का एक संघ बना लेने की दिशा में प्रयत्न चल रहे हैं। सच तो यह है कि आज दुनियां के हर एक

देश में प्रजातंत्र के सामने सवाल यह है कि वह बचाव के सशक्त साधनों के साथ अपना सामंजस्य किस प्रकार स्थापित कर सकता है। राष्ट्रीयता की भावना बड़ी आकर्षक है, परन्तु केवल राष्ट्र-प्रेम अथवा प्रजावाद में आस्था से ही कोई देश अपना बचाव नहीं कर सकता। आज तो युद्ध के साधन इतने वैज्ञानिक हो गए हैं, और बड़े राज्यों की शक्ति इतनी दुर्धर्ष हो गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के बिना बचाव की कल्पना ही नहीं की जा सकती। राज्य की सार्वभौम सत्ता की जो परम्परागत कल्पना है, वह आज अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और संगठन में एक बड़ी बाधा प्रमाणित हो रही है। हमारे सामने इस विश्वास को कि प्रत्येक राष्ट्र अपना एक स्वतंत्र राज्य बना ले, और प्रत्येक राज्य सार्वभौम सत्ता का उपयोग करे, सर्वथा छोड़ देने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह गया है। राष्ट्रों के लिए आज तो सांस्कृतिक स्वत्वों और सामाजिक संस्थाओं के संरक्षण के नैतिक और वैधानिक आश्वासनों से संतुष्ट होना अनिवार्य हो गया है; इससे अधिक की मांग स्वयं उनके लिए अहितकर हो सकती है।

अब 'सांस्कृतिक इकाइयों' और 'राजनैतिक इकाइयों, के बीच का अन्तर स्पष्ट रूप से माना जाने लगा है। एक समाज केवल जाति, अथवा भाषा, अथवा धर्म की दृष्टि से एक होते हुए भी अपने लिए एक स्वतन्त्र-राज्य की मांग नहीं उठा सकता। प्रजातन्त्र आज संक्रामक-स्थिति में है। उसे एक नया राज्य-तंत्र, एक नया संगठन, एक नई समाज-व्यवस्था का निर्माण करना है। उसे एक ओर तो, राष्ट्रों अथवा राज्यों की सार्वभौम-सत्ता की कल्पना का परित्याग करना है, और एक ऐसे संघ-शासन की ओर बढ़ना है जिसमें कई प्रजातन्त्र-देश एक दूसरे से मिल-जुल कर अपनी विदेशी और आन्तरिक समस्याओं को सुलझा सकें, और दूसरी ओर अकेन्द्रीकरण की दिशा में एक क्रान्तिकारी क़दम उठाना है। हमारी राजनैतिक समस्याओं का समाधान आज इस दिशा में नहीं रह गया है कि हम अपने देश को, विभिन्न राष्ट्रीयताओं के आधार पर, कई भागों में बाँट दें। हमें अपने राष्ट्रीय प्रश्नों पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करना है, विश्व की आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों की ओर सजग रहते हुए। हमें एक ओर तो संसार के कुछ प्रमुख देशों से एक निकटतर संपर्क स्थापित करना है, और दूसरी ओर अपनी केन्द्रीय-सरकार के पास कम-से-कम शक्ति रखना है-—यह अवश्य है कि इस सीमित क्षेत्र में वह शक्ति संपूर्ण और अविभाज्य हो। अन्तर्राष्ट्रीय विचार धारा का समस्त झुकाव आज इसी दिशा में है।

प्रो० कार का विश्वास है कि "केन्द्रीकरण और अ-केन्द्रीकरण के इस

सामंजस्य में ही, इस धारणा में कि शासन-संबंधी कुछ कार्यों के लिए आज से कहीं बड़े, और कुछ अन्य कार्यों के लिए आज से बहुत छोटे, समूहों की आवश्यकता है, हम आत्म-निर्णय की कठिन समस्या का समाधान पा सकेंगे।"[१] मैकार्टने ने लिखा, "हमारी आज की कठिनाइयों का मुख्य कारण है राष्ट्रीयता के आधार पर स्थापित राज्य की हमारी वर्त्तमान कल्पना, और यह विश्वास कि किसी राज्य के समस्त निवासियों की राजनैतिक आकांक्षाओं और उनके बहु-संख्यक वर्ग के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक आदर्शों में तादात्म्य है। यदि एक बार मौलिक विभिन्नता रखने वाली इन दो वस्तुओं के आंतरिक विरोध को समझ लिया जाय तो कोई कारण नहीं कि विभिन्न राष्ट्रीयताओं में विश्वास रखने वाले व्यक्ति एक ही राज्य में पूर्ण सहयोग के साथ क्यों न रह सकें।"[२] आज तो विश्व की प्रगति विभिन्न राष्ट्रीयताओं वाले एक राज्य की ओर हो रही है। लॉर्ड एक्टन ने १८६२ में जो लिखा था, उसे आज अधिक से अधिक समर्थन मिल रहा है, "एक राज्य में कई राष्ट्रों का रहना सभ्य जीवन की उतनी ही आवश्यक शर्त है जितना समाज में विभिन्न व्यक्तियों का रहना। जो पिछड़ी हुई जातियां हैं वे मानसिक दृष्टि से अपने से आगे बढ़ी हुई जातियों के राजनैतिक संसर्ग से आगे बढ़ने का अवसर पाती हैं। जो राष्ट्र थके हुए और पतनोन्मुख हैं, वे नवीन और सशक्त राष्ट्रों के सहयोग से एक नव-जीवन की प्राप्ति कर लेते हैं।...राज्य के अंतर्गत ही वह समन्वय संभव है जो मानव जाति के एक भाग की शक्ति, ज्ञान और क्षमता दूसरे भाग तक पहुँचाता है।" हिंदुस्तान का तो सारा इतिहास ही और विशेष कर पिछले १५० वर्षों का इतिहास, लॉर्ड एक्टन के इस कथन की सचाई का साक्षी है। आज का वर्त्तमान भारतीय-मुस्लिम-समाज, हिंदू-समाज में बढ़ने वाली नवचेतना का आधार पाकर, उससे प्रेरणा लेकर, कभी-कभी उसकी प्रतिक्रिया के रूप में भी, अपने समस्त जीवन के नव-निर्माण में व्यस्त है। सैयद अहमद को हम राम मोहन राय के चरण-चिह्नों पर चलते पाते हैं, जिन्ना मुस्लिम राष्ट्रीयता के निर्माण में गांधीजी का स्थान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं, और इसी प्रकार हिंदू-समाज पर भी उसके इस नव-जीवन की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। पाकिस्तान पारस्परिक प्रेरणा के इन मूल-स्रोतों को ही सदा के लिए सुखा डालेगा।

१—ई० एच० कार : Conditions of Peace पृ० ६३।

२—मैकार्टने : Nation-States and National minorities, पृ० ४५०।

: १० :

विभाजन की कुछ अन्य योजनाएं

पाकिस्तान की अव्यावहारिकता और सैद्धांतिक अनुपयुक्तता को अब अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ भी मानने लगे हैं, और इस कारण, उनकी ओर से, कुछ पर्याय-योजनाएं हमारे सामने आ रहीं हैं। इन्हीं में ऑक्सफ़ोर्ड-यूनीवर्सिटी के विद्वान् प्रोफ़ेसर कूपलैण्ड की प्रसिद्ध योजना भी है। प्रो० कूपलैण्ड ने अपनी योजना के लिए एक बड़ा आकर्षक नाम रखा है—Regionalism। उनकी योजना का मुख्य आधार है देश को सांप्रदायिक दृष्टिकोण से दो भागों में न बांटते हुए आर्थिक दृष्टिकोण से चार भागों में बांट दिये जाने का प्रस्ताव। मुस्लिम-लीग की प्रमुख मांग तो यह है कि देश को दो हिस्सों में बांटा जाये; प्रो० कूपलैण्ड उससे एक क़दम आगे जाने के लिए तैयार हैं, और वह चाहते हैं कि उसे चार 'क्षेत्रों' (regions) में बांट दिया जाय, और ये चारों क्षेत्र एक निःशक्त केन्द्रीय-शासन द्वारा एक दूसरे से संबद्ध रखे जायँ। प्रो० कूपलैण्ड का यह विचार नया नहीं है। वह स्वयं तो, विभाजन की अन्य सभी योजनाओं के समान, उसका प्रारम्भ डॉ० इक़बाल के ऐतिहासिक इलाहाबाद-भाषण से करते हैं, पर यद्यपि उनकी यह धारणा निराधार और भ्रान्तिमूलक है, परन्तु यह निश्चय कहा जा सकता है कि यीट्स-योजना व सिकन्दरहयातख़ाँ योजना से प्रो० कूपलैण्ड की योजना का एक निकट, कौटुम्बिक, संबंध अवश्य है।

विभाजन की इन योजनाओं के क्रमबद्ध अध्ययन और आलोचनात्मक अन्वेषण से कुछ मनोरञ्जक बातों पर प्रकाश पड़ता है। पहिली बात तो यह है कि इन सभी योजनाओं की सृष्टि या तो अनुदार-दल के अंग्रेज़ों के मस्तिष्क से हुई, या ऐसे हिन्दुस्तानियों के दिमाग़ से, जिनका जीवन नौकरशाही के संरक्षण में बीता है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि इन सब योजनाओं का संबंध मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांग के साथ बताया जाता है, पर यदि उन पर गहराई से विचार किया जाय तो हम यह स्पष्ट देख सकेंगे कि इन योजनाओं और पाकिस्तान की कल्पना में कहीं कोई समानता है ही नहीं, और इसी संबंध में यदि हम कुछ संदेहपूर्ण और आलोचनात्मक दृष्टि से देखें तो हम यह भी समझ सकेंगे कि इन योजनाओं का मुस्लिम-हितों के संरक्षण का दावा झूठा और शरारत-पूर्ण है, और वे वास्तव में बनाई ही इसलिए गई है कि एक ओर तो

मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांग को ख़त्म कर दिया जाय, और दूसरी ओर आज़ादी की राष्ट्रीय मांग निर्बल बनाई जा सके।

इन निष्कर्षों के समर्थन में पाठक का ध्यान उस राजनैतिक वातावरण की ओर आकर्षित किया जा सकता है जो इन योजनाओं के लिए पृष्ठभूमि का काम कर रहा था। इन सब योजनाओं का विकास १६३६ और १६४४ के बीच में हुआ। हमारी राजनैतिक चेतना की उत्क्रान्ति की दृष्टि से यह समय बड़ा महत्त्वपूर्ण था। महायुद्ध ने, और उसके प्रारम्भिक वर्षों की राजनैतिक परिस्थिति ने, एक ओर तो हमारी आज़ादी की मांग को प्रबल बना दिया था, और दूसरी ओर सरकारी नीति, व व्यक्तिगत नेतृत्व और समूहगत शोषण की भूख, पाकिस्तान की कल्पना को एक प्रखर रूप देने में सफल हो सकी थी। कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' का नारा बुलन्द कर रखा था। क़ायदे-आज़म कहते थे, 'पाकिस्तान दो, और भारत छोड़ो।' अंग्रेज़ी सरकार की स्पष्ट नीति यह थी कि वह न तो पाकिस्तान देना चाहती थी, और न हिन्दुस्तान छोड़ना। केन्द्रीय-शासन में वह तनिक भी अधिकार देने के लिए उद्यत न थी—और यही सरकार और कांग्रेस के बीच गत्यावरोध का प्रमुख कारण था। १६३६ में स्थिति यही थी कि कांग्रेस चाहती थी कि केन्द्रीय-शासन पर उसका कम-से-कम इतना अधिकार हो जाय कि जिससे प्रान्तीय शासन को एक ग़ैर-ज़िम्मेदार केन्द्र के अवांछित दबाव से बचाया जा सके, परन्तु अंग्रेज़ी सरकार इस दिशा में एक इंच भी आगे बढ़ना नहीं चाहती थी। पर, साथ ही वह यह भी जानती थी कि भारतीय राष्ट्रीयता का बल इतना अधिक बढ़ गया था, और अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का दबाव इतना अधिक बढ़ता जा रहा था, कि वह अपनी इस स्थिति पर बहुत दिनों तक मज़बूत नहीं रह सकती थी। वह जानती थी कि एक दिन आयगा, और उसे डर था कि वह दिन शायद जल्दी आजाय, जब उसे केन्द्रीय शासन में भी भारतीय राष्ट्रीयता को अधिकार देने पर विवश होना पड़ेगा। इसी कारण, अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के कूटबुद्धि समर्थकों ने यह प्रयत्न किया कि इस केन्द्रीय-शासन को ही इतना कमज़ोर, और निकम्मा, बना दिया जाय कि उसके लिए अंग्रेज़ी सरकार की सहायता पर निर्भर रहना अनिवार्य हो जाय। उन्होंने अपनी इस बौद्धिक उपज के लिए एक तात्विक पृष्ठभूमि तैयार करना आरम्भ की। एक निर्बल केन्द्रीय शासन की स्थापना के लिए ही इन लोगों ने, देश के विभाजन की एक के बाद एक योजना उपस्थित करना प्रारम्भ की, और उन सबका उद्देश्य मुसलमानों की मांग को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता बताया गया।

इन योजनाओं का ऐतिहासिक विकास

देश को कई 'क्षेत्रों' में बांट देने के विचार के सूत्रपात का श्रेय भी, पाकिस्तान की योजना के समान, डॉ० इक़बाल को ही दिया जाता है। इस्लाम के इस महान् कवि और विचारक ने 'भाषा, जाति, इतिहास, और धर्म की एकता व आर्थिक स्वार्थों की सामान्यता के आधार पर स्वतन्त्र राज्यों के निर्माण, की चर्चा अवश्य की थी, और, उदाहरण के रूप में, उत्तर-पश्चिम में एक भारतीय मुस्लिम राज्य की स्थापना का विचार उपस्थित किया था, परन्तु देश को कई भागों में बांट देने से अधिक दिलचस्पी उन्हें 'पैन-इस्लामिज़्म' और 'मुस्लिम संगठन' में थी। **भारतीय एकता को छिन्न-भिन्न करने अथवा केन्द्रीय शासन को निर्बल बनाने का विचार उनके मन में कभी आया ही नहीं।** सच तो यह है, इस विषय में डॉ० इक़बाल ने कभी गम्भीरता से सोचा ही नहीं था। प्रो० कूपलैण्ड की योजना का मुख्य आधार सर सिकन्दर-हयातख़ाँ की देश को सात भागों में बांट देने की कल्पना थी। इसी प्रकार की कुछ अन्य योजनाएं भी समय-समय पर सामने आती रही हैं। ये सब सिकन्दर-योजना से इस संबंध में तो सहमत हैं कि मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशों को दो 'क्षेत्रों' में बांटा जाय, पर हिन्दू 'क्षेत्रों' की संख्या व उनके विभाजन के सिद्धान्त के संबंध में उनमें मतभेद है। वर्त्तमान प्रांतों को मिटा देने की कल्पना किसी योजना में नहीं है—वे तो शासन की प्रमुख इकाइयों (units) के रूप में मौजूद रहेंगे ही—परन्तु वे 'क्षेत्रों' से संघबद्ध कर दिये जायंगे, और इसी प्रकार सब क्षेत्रों को एक अखिल-भारतीय-संघ-शासन में आबद्ध कर दिया जायगा। सर सिकन्दर संभवतः पहिले व्यक्ति थे, जिन्होंने क्षेत्रीय-शासन के इस माध्यमिक स्तर की कल्पना को जन्म दिया था। उनका सुझाव था कि शासन के ऐसे बहुत से सूत्र जिनका संचालन आज केन्द्रीय सत्ता के द्वारा होता है, क्षेत्रीय-सत्ता के हाथों सौंप दिये जाने चाहिएं। इन क्षेत्रों की अपनी कार्य-कारिणी और अपनी धारासभा होनी चाहिए। सर सिकन्दर यह भी चाहते थे कि प्रांतीय शासन और देशी राज्यों को 'क्षेत्र' के अन्तर्गत एक दूसरे से संबद्ध कर देना चाहिए।

प्रो० कूपलैण्ड ने सिकन्दरहयातख़ाँ के प्रस्तावों को अपनी योजना का मुख्य आधार बनाया है, परन्तु उसका विकास भारतीय सिविल सर्विस के एक सदस्य, मि० यीट्स, की योजना के पद-चिह्नों पर किया है। मि० यीट्स ने, जो १९४१ में हिन्दुस्तान के सेंसर-कमिश्नर थे, यह सुझाव पेश किया था कि, आर्थिक विभिन्नताओं की दृष्टि से, हिन्दुस्तान को चार हिस्सों में बांट देना

चाहिए। इस विभाजन का आधार उन्होंने बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा सींची जाने वाली ज़मीन को माना है। मि० यीट्स का विचार था कि, इस सिद्धान्त के आधार पर, उत्तरी हिन्दुस्तान को तीन भागों में बाँटा जा सकेगा—(१) सिंधु-नदी का प्रदेश, काश्मीर से करांची तक (पाकिस्तान की भूमि), (२) गंगा-यमुना का प्रदेश, पंजाब और बंगाल के बीच में (हिन्दुस्तान का इलाक़ा), और (३) गंगा-ब्रह्मपुत्र का प्रदेश, बिहार और पूर्वी सीमा के बीच में (उत्तर-पूर्वी हिन्दुस्तान का पर्याय)—और दक्षिण-भारत का समस्त प्रदेश एक इकाई माना जायगा। इस योजना के प्रस्तावक मि० यीट्स ने अपनी योजना के समर्थन में, आबपाशी के महत्त्व और 'हाइड्रो-इलेक्ट्रिक' शक्ति की अपरिमित संभावनाओं पर विशेष-रूप से ज़ोर दिया है। कूपलैण्ड ने भी अमरीका के 'टेनेसी वैली ऑथोरिटी' का उदाहरण दिया है, और इस बात पर भी ज़ोर दिया है कि हिन्दुस्तान में भी उसका अनुकरण किया जाय। सर सिकन्दर-हयातख़ाँ के समान मि० यीट्स भी मानते थे कि देशी राज्यों को इन क्षेत्रों में अवश्य सम्मिलित करना चाहिए, परन्तु इस विषय का निर्णय वह उन्हीं के हाथों में छोड़ देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि देशी राज्यों के सम्मिलित न होने की दशा में भी उनकी योजना को क्रियात्मक रूप मिलना चाहिए। वैसी दशा में, देशी राज्यों को निकाल कर, शेष प्रदेशों को, उसी सिद्धांत के आधार पर, चार भागों में बांट दिया जाय, और इनमें से प्रत्येक भाग स्वतन्त्र और स्वावलंबी हो।

क्रिप्स-योजना

क्रिप्स-योजना को देश को कई खण्डों में बांट देने वाली इन योजनाओं में सम्मिलित कर लेना कुछ लोगों को शायद आश्चर्य-जनक लगे, परन्तु तथ्य यह है कि क्रिप्स-योजना में भी, मुस्लिम मांगों को पूरा करने के नाम पर, देश को अनेकानेक खण्डों में बांट देने का आयोजन ही है। क्रिप्स-प्रस्ताव में प्रत्येक प्रांत को यह स्वाधीनता दी गई है कि वह स्वयं इस बात का निर्णय करे कि वह अखिल भारतीय संघ शासन में शामिल होगा या नहीं। इस प्रकार देश भर में नये शासन-विधान की स्थापना प्रांतों की अपनी इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर रहेगी। यदि कोई प्रांत अखिल-भारतीय संघ में शामिल होना नहीं चाहेगा तो उसे यह स्वाधीनता होगी कि वह अपना मौजूदा शासन-विधान क़ायम रख सके। उसे यह सुविधा भी होगी कि वह भविष्य में जब चाहेगा, अखिल भारतीय संघ-शासन में शामिल हो सकेगा। एक और बात जो हमें इस सम्बंध में ध्यान में रखना है, यह है कि उन सब प्रांतों को, जो अखिल-

भारतीय संघ-शासन में शामिल नहीं होंगे, यह अधिकार भी दे दिया गया है कि वे यदि चाहें तो अपना एक अलहदा संघ क़ायम कर सकते हैं, और उसके लिए जैसा चाहें वैसा शासन-विधान बना सकते हैं। पाकिस्तान की मांग को स्वीकार कर लेने का यह एक अनोखा ढङ्ग था। यदि वे सब प्रांत या देशी राज्य, जो अखिल-भारतीय संघ-शासन में शामिल होने के लिए तैयार न हों, अपना एक अलहदा संघ क़ायम करना भी न चाहें, तब? वैसी स्थिति में क्या देश भर में छोटे-छोटे खण्ड-शासनों की स्थापना नहीं होजायगी? यह भी संभव है कि इनमें से कुछ प्रांत और कुछ देशी राज्य तो अपना एक संघ बना लें, और कुछ अपनी स्वतन्त्र स्थिति क़ायम रखना चाहें। उसका अर्थ होगा, प्रांतीय आत्म-निर्णय के आधार पर, देश को अनेकानेक भागों में विभाजित कर देना। व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से यदि इस समस्या पर सोचें तो हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि देशी राज्यों को निकाल कर, कांग्रेसी प्रांत भारतीय-संघ में सम्मिलित होंगे व शेष अपना एक अलहदा संघ बना लेंगे। "परन्तु," इस समस्या का विश्लेषण करते हुए श्री० मुन्शी ने लिखा है, "यदि उदाहरण के लिए, हम यह मान लें कि पंजाब, बड़ौदा और हैदराबाद के देशी राज्य अपना एक अलहदा संघ बनाना चाहते हैं तो उस संघ के विभिन्न भागों में भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक अथवा किसी भी प्रकार की एकता की कल्पना कर पाना असम्भव है।......यदि बम्बई प्रांत तो भारतीय-संघ में शामिल हो जाय, और बड़ौदा का राज्य अलहदा जाना चाहे, तो दोनों में से किसी भी संघ के लिए यह सम्भव नहीं रह जायगा कि वह बिना किसी दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप किये अपना काम चला सके।" इस प्रकार के अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

कूपलैण्ड-योजना

इन सब योजनाओं को एक सूत्र में बांधने और वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय प्रो० कूपलैण्ड को है। उन्होंने एक सम्पूर्ण, व्यवस्थित और वैज्ञानिक दिखाई देने वाली योजना हमारे सामने रखी। प्रो० कूपलैण्ड ने यह प्रस्ताव किया कि नदियों द्वारा सिंचाई किये जाने वाले प्रदेशों को एक-दूसरे से अलहदा संगठित किये जाने की मि०वीट्स की जो योजना थी उसे फ़ौरन अमली रूप दिया जाना चाहिए। उन्होंने विभिन्न भू-खण्डों के लिए शासन-विधान की एक बाह्य रेखा हमारे सामने रखी, और साथ ही केन्द्रस्थ-शासन के लिए भी, जिसे उन्होंने एक 'दुर्बल, माध्यमिक केन्द्र' (weak agency centre) का नाम दिया, शासन की योजना का प्रस्ताव किया। उनका सुझाव था कि हमें अपनी राष्ट्र-

निष्ठा को संकुचित और प्रांत-भक्ति को अधिक व्यापक बनाना चाहिए—जिससे केन्द्र और प्रांत के बीच शासन-दृष्टि से जिस नये भू-भाग अथवा 'क्षेत्र' की सृष्टि का उनका प्रस्ताव है उसके प्रति अपनी भक्ति को विकसित कर सकें। उनका विश्वास है कि हमारी सांप्रदायिक समस्या को सुलझाने का यही एकमात्र उपाय है। अपनी इस योजना के समर्थन में वह सबसे बड़ी दलील यह देते हैंकि इसके द्वारा देशकी एकता की रक्षा की जा सकेगी। देशकी एकताकी रक्षाके सम्बंध में प्रो० कूपलैण्ड ने अपने आपको बहुत ही उत्सुक बताया है। मि० यीट्स के समान, प्रो० कूपलैण्ड भी यह चाहते हैं कि देशी राज्य भी विभिन्न 'क्षेत्रों' में सम्मिलित हों, परन्तु, उनके विपरीत निर्णय की स्थिति में, उनके बिना भी अपनी योजना को कार्यान्वित देखना चाहते हैं। प्रो० कूपलैण्ड ने केन्द्रीय, क्षेत्रीय व प्रांतीय कार्यकारिणी-समितियों व धारा-सभाओं के शासन-विधान की एक संपूर्ण बाह्य रेखा हमारे सामने रखी है, और उनके आपसी सम्बन्धों का निर्धारण किन सिद्धांतों के आधार पर हो, इस विषय पर भी प्रकाश डाला है। शासन के विभिन्न स्तरों के बीच सत्ता के बंटवारे के सम्बन्ध में भी उनकी योजना बड़ी स्पष्ट और विशद है। एक अच्छा विधान-शास्त्री अपनी योजना को जितना स्पष्ट रूप दे सकता है, कूपलैण्ड-योजना में हम उसे पाते हैं।

एक और बात जो हमें इस संबंध में अपने ध्यान में रखना है वह यह है कि चर्चिल-एमेरी दल पर प्रो० कूपलैण्ड का बहुत अधिक प्रभाव था, और इस कारण उनकी योजना के पीछे सरकारी समर्थन की कल्पना की जा सकती है, और इंग्लैण्ड में हाल के बड़े राजनैतिक परिवर्त्तनों के बाद भी, प्रो० कूपलैण्ड और उनके मित्रों का प्रभाव कम नहीं हुआ है। सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स जब अपनी योजना लेकर हिंदुस्तान में आये तब प्रो० कूपलैण्ड, सेक्रेटरी की हैसियत से, उनके साथ थे। आज भी स्टैफ़र्ड क्रिप्स पर उनका प्रभाव है—और अंग्रेज़ी सरकार की ओर से प्रस्तावित की जाने वाली किसी भी योजना में सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स का प्रमुख हाथ रहेगा, यह एक निर्विवाद तथ्य है। आज भी, बीच-बीच में, अंग्रेज़ी समाचार पत्रों में, क्रिप्स-प्रस्तावों और कूपलैण्ड-योजना की चर्चा प्रायः आती रहती है। भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न पर लेबर पार्टी का दृष्टिकोण बहुत आशाप्रद नहीं है। यह निश्चित है कि वह एक ओर तो हमारी स्वाधीनता की मांग को टाल देना चाहती है, और दूसरी ओर मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांग को पूरा करने के पक्ष में भी नहीं है। इस दोहरे उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए कूपलैण्ड-योजना से अच्छी कोई योजना हमारे सामने नहीं है। ऐसी स्थिति में हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि यदि किसी दिन अंग्रेज़ी सरकार हमारे लिए एक

ऐसे शासन-विधान की तजवीज़ कर दे जिसका आधार कूपलैण्ड-योजना में हो। विधान-निर्मात्री-सभा की चर्चा तो की जा रही है, परन्तु अभी यह कहां निश्चित है कि उसका निर्माण किन सिद्धांतों पर, व किन तत्त्वों से, होगा, व उसमें मौलिक मतभेद होने की स्थितिमें कौन हमारे भावी शासन-विधान की सृष्टि करेगा ? इसी कारण कूपलैण्ड-योजना पर बड़ी गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

क्षेत्रीय विभाजन के आधार-भूत सिद्धांत

क्षेत्रीय विभाजन के सिद्धांत के प्रतिपादकों ने उसके पक्ष में बड़ी-बड़ी बातें कही हैं। उनका कहना है कि इसके द्वारा हमारे देश की दो बहुत बड़ी समस्याएं सुलझ सकेंगी—एक ओर तो हम अपनी राजनैतिक एकता को क़ायम रख सकेंगे, और दूसरी ओर मुसल्मानों की आशंकाओं को दूर कर सकेंगे। इस आधार पर उन्होंने हिंदू और मुसल्मान दोनों से अपने आग्रह को थोड़ा शिथिल बनाने की अपील की है। मुसल्मानों से उनकी दरख्वास्त है कि वह देश को दो हिस्सों में बांट देने की अपनी मांग पर इतना ज़ोर न दें, और हिंदुओं से उनका कहना है कि वे प्रजातन्त्र के सिद्धांत के नाम पर बहु-संख्यक वर्ग के प्राधान्य की अपनी धारणा में थोड़ा परिवर्त्तन करें। क्षेत्रीय-विभाजन का सिद्धांत अपने पक्ष में जो सबसे बड़ी दलील उपस्थित करता है, वह यह है कि उसके द्वारा देश की एकता को क़ायम रखा जा सकेगा। यह कहा जाता है कि वह राष्ट्रीयता और आत्म-निर्णय के सिद्धांत के बीच एक समझौता है—कूपलैण्ड किसी भी समाज के राष्ट्रीयता के दावे को तो फ़ौरन ही मान लेने के लिए तैयार हैं, परन्तु आत्म-निर्णय के अधिकार को इतना आसानी से मानने के लिए तैयार नहीं। क्षेत्रीय-विभाजन के सिद्धांत के समर्थकों का कहना है कि मुस्लिम-लीग की दो प्रमुख मांगें हैं—(१) वे अपने लिए एक अलग प्रदेश ऐसा चाहते हैं जहां कि उनके राष्ट्र के व्यक्तियों की प्रधानता हो और (२) वे चाहते हैं कि उनके राष्ट्रीय प्रदेशों में एक स्वतन्त्र और सार्वभौम शासन की स्थापना हो। कूपलैण्ड और उनके साथी इन दोनों मांगों के सम्बन्ध में दो भिन्न मत रखते हैं। वे मुस्लिम-लीग की इस मांग को पूरा करने के लिए तैयार हैं कि मुसल्मानों के लिए एक अलग प्रदेश निर्धारित कर दिया जाय—उन्हें इस बात में भी आपत्ति नहीं होगी यदि इस प्रकार के कई प्रदेश हों—परन्तु जहां तक एक सम्पूर्ण सार्वभौम राज्य की स्थापना का प्रश्न है, वे उसे एक दक़ियानूसी विचार मानते हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार की कल्पना यूरोप में १९-वीं शताब्दी में तो सम्भव थी, परन्तु १८६२ में जबसे लार्ड एक्टन ने कई राष्ट्रों के मिले-जुले राज्य की कल्पना को जन्म दिया तब से उस पर से लोगों का विश्वास हटता जा रहा है। उनका

यह भी कहना है कि क्योंकि मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांग का आरम्भ अभी कुछ दिन पहिले ही हुआ है इसलिए उसे विशेष महत्त्व देनेकी आवश्यकता नहीं है।

इन आधारभूत सिद्धांतों में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे गहरे मतभेद की गुंजाइश हो, परन्तु उन पर जिस योजना का निर्माण किया गया है वह पाकिस्तान से भी अधिक ख़तरनाक है। कूपलैण्ड और उनके साथियों का कहना है कि देश के विभिन्न शासन-तंत्रों को एक सूत्र में पिरो देने के लिए एक केन्द्रीय शासन का होना आवश्यक है। उनका यह कहना है कि इस केन्द्रीय-शासन का संगठन हम उन सिद्धांतों के आधार पर नहीं कर सकते जो अब तक हमारे सामने रहे हैं, और न १९३५ के एक्ट के केन्द्रीय शासन से ही उसकी समानता होगी। १९३५ से पहले की केन्द्रीय शासन की हमारी कल्पना का आधार केन्द्रीकरण का सिद्धांत था; १९३५ के एक्ट में उसका संगठन संघ शासन के सिद्धांतों के आधार पर हुआ। क्षेत्रीय योजना में केन्द्रीय शासन का रूप इन दोनों से भिन्न होगा। उसकी स्थिति एक बीच की स्थिति होगी। संघ-शासन में केन्द्र को जो अधिकार मिले होते हैं, इस योजना में वे बिल्कुल भिन्न होंगे। सच तो यह है कि संघ-शासन का इस योजना से एक मौलिक अन्तर होगा। इसमें न केवल शासन की इकाई का रूप ही भिन्न होगा परन्तु उसके केन्द्रीय-शासन की स्थापना के आधार-भूत सिद्धांत भी उससे बिल्कुल भिन्न होंगे। इसी कारण से क्षेत्रीय-विभाजन की योजना के समर्थक हमसे अपेक्षा करते हैं कि हम संघ-शासन के संगठन के परम्परागत विचारों को अपने मन से निकाल दें और बिल्कुल नये ढंग से सोचने के लिए तैयार रहें।

योजना का राजनैतिक महत्व

इस योजना की आर्थिक दृष्टिकोण से तो बड़ी सराहना की गई है, परन्तु उसका राजनैतिक महत्त्व भी बहुत अधिक बताया जाता है। पहली बात तो उसके पक्ष में यह कही जाती है कि उसके द्वारा मुसलमानों के लिए एक अलग प्रदेश की मुस्लिम-लीग की मांग को पूरा किया जा सकेगा—सिंधु और गंगा-ब्रह्मपुत्र द्वारा सिंचाई किये जाने वाले प्रदेश, पाकिस्तान और उत्तर-पूर्वी हिंदुस्तान का रूप ले लेंगे, और दूसरी बात यह है कि यदि इस योजना को अमल में लाया गया तो हिंदू बहु-संख्यक और मुस्लिम बहु-संख्यक प्रदेशों में समानता की स्थापना की जा सकेगी। यह तो स्पष्ट ही है कि इस योजना में मुस्लिम-लीग की दो प्रमुख मांगों में से एक मांग ही पूरी की जा सकेगी। मुसलमानों के लिए स्वतन्त्र प्रदेशों की स्थापना हो सकेगी, परन्तु हिंदुस्तान से

संबंध-विच्छेद करने का उन्हें अधिकार प्राप्त नहीं होगा। इस योजना के समर्थक देश की एकता को बनाये रखने के लिये अपने को बहुत उत्सुक बताते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह योजना कई प्रकार की विभिन्न मांगों को एक साथ ही सन्तुष्ट करने का दावा करती है। एक ओर तो वह अंग्रेज़ों के हाथों से हिन्दुस्तानियों के हाथों में राज्य की सत्ता को सौंपे जाने की राष्ट्रीय मांग का समर्थन करती है—यह अलग बात है कि वह सत्ता कितनी खोखली और सारहीन होगी—दूसरे, वह देश की एकता को बनाये रखने की हिन्दू मांग को पूरा करने का दावा करती है, और, तीसरे, मुसल्मानोंके लिए अलहदा प्रदेश बना देने का आयोजन भी उसमें है। ये सब बहुत बड़े दावे हैं, और उनका एक सूक्ष्म विश्लेषण करके हमें यह देखना है कि उसके पीछे सचाई का अंश कितना है।

क्षेत्रीय शासन-विधान

इसके लिए हमें उस प्रस्तावित शासन विधान पर दृष्टि डालना है जो क्षेत्रीय विभाजन के आधार पर बनाया गया है। सबसे पहले हम केन्द्रीय शासन को ही लें। क्षेत्रीय योजना में केन्द्रीय शासन एक बहुत ही निर्बल और निःशक्त शासन होगा—इस प्रकार के केन्द्रीय शासन के समर्थन में यह कहा जाता है कि भारतीय परिस्थितियों में इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार के केन्द्रीय शासन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रो० कूपलैएड ने केन्द्र के अधिकारों के संबंध में जो लिखा है उससे हमें मतभेद नहीं है। जिस सिद्धान्त पर उन्होंने इन अधिकारों का निर्धारण किया है, वह भी बिलकुल ठीक ही है। उनका कहना है कि भारतीय केन्द्रीय शासन के पास जो कम-से-कम अधिकार हों वे ऐसे हों जिनसे बाहर से देखने से हिन्दुस्तान की एकता किसी प्रकार से भंग होती हुई दिखाई नहीं देती हो। दूसरे शब्दों में, यह अधिकार ऐसे हों जिनसे बाहर की दुनियां से हिन्दुस्तान का संबंध स्पष्ट होता हो। जैसे—(१) विदेशी नीति और रक्षा, (२) बाहर के देशों से व्यापार और आयात-निर्यात के संबंध की नीति, और (३) मुद्रा (currency) यह बिलकुल ही उचित प्रतीत होता है। कूपलैएड ने देश के भीतर के आने जाने के मार्गों और साधनों, मोटरों, रेलों और हवाई जहाज़ों, आदि के प्रश्न पर भी इस दृष्टि से विचार किया है कि उनका नियन्त्रण केन्द्रीय शासन के द्वारा हो अथवा किसी आन्तर्क्षेत्रीय सत्ता के द्वारा, और इस संबंध में उनका मत यह है कि यह नियन्त्रण आन्तर्क्षेत्रीय सत्ता के द्वारा ही किया जाना चाहिए। यह विचार भी संघ शासन के उस सिद्धान्त की दृष्टि से ठीक ही है जिसके अनुसार अधिक-से-

अधिक अकेन्द्रीकरण और कम-से-कम केन्द्रीकरण' पर ज़ोर दिया जाता है।

कूपलैण्ड ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि यह आन्तर्क्षेत्रीय संघ संघ-शासन से बिलकुल भिन्न होगा और साथ ही विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों के, विशेष परिस्थितियों के कारण, एक ढीले-ढाले संगठन (confederacy) से भी भिन्न होगा। उसकी स्थिति बीच की होगी। संघ शासन से उसमें यह अन्तर होगा कि जब कि संघ शासन (१) साधारणतः तुलनात्मक दृष्टि से अपने से कम शक्तिशाली राजनैतिक इकाइयों से संबंध रखता है, (२) और उसका निर्माण राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वतन्त्रता के आधार पर होता है, क्षेत्रीय विभाजन का सिद्धांत हिन्दुस्तान को कुछ ऐसे बड़े-बड़े राज्यों में बांट देना चाहता है, जो यदि चाहें तो पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो सकते हैं, और एक ऐसे केन्द्रीय शासन की स्थापना करना चाहता है जो शुद्ध रूप से आन्तर्क्षेत्रीय संस्था होगी, और जो अपने अधिकारों के लिए क्षेत्रीय शासन की दया पर निर्भर रहेगी। ये क्षेत्रीय शासन यदि चाहें तो शासन के अधिकारों का स्वतंत्र और सार्वभौम रूप से उपयोग भी कर सकेंगे, परन्तु वे देश की एकता के नाम पर अपनी कृपा-दृष्टि पर सम्पूर्ण रूप से स्थिर रहने वाले एक केन्द्रीय शासन की स्थापना कर लेंगे। प्रो० कूपलैण्ड के शब्दों में "आन्तर्क्षेत्रीय केन्द्र केवल उन्हीं न्यूनतम अधिकारों का उपयोग करेगा जिनका उपयोग देश की एकता को बनाये रखने की दृष्टि से बिल्कुल ही आवश्यक होगा और उन अधिकारोंका प्रयोगभी वह किसी अखिल भारतीय जन-मत के द्वारा दी गई सत्ता के आधार पर नहीं परन्तु क्षेत्रीय शासन के एक आज्ञा-पालक की हैसियत से ही करेगा।" इस अन्तिम वाक्य में ही इस योजना का सारा ज़हर छलक उठता है। कूपलैण्ड का केन्द्रीय शासन क्षेत्रीय शासनों का आज्ञा-पालक भर होगा, उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं होगी और उसकी कार्यकारिणी-समिति और धारा-सभाओं के सदस्यों का एक-मात्र कर्त्तव्य क्षेत्रीय शासन के आदेशों की पूर्ति करना होगा।

प्रो० कूपलैण्ड ने हमें यह कह कर आश्वस्त करना चाहा है कि सर सिकन्दर-हयात खां की योजना का केन्द्र तो इससे भी अधिक निर्बल था! इस कथन में सचाई अवश्य है। सिकन्दरहयातखां की केन्द्रीय शासन की कल्पना की जड़ में तो प्रतिक्रिया की भावना काम कर रही थी, एक ऐसे सार्वभौम सत्ता वाले केन्द्र के विरोध में, जो प्रांतीय शासन के कार्य में हस्तक्षेप करने की प्रतीक्षा में ही रहता हो। केन्द्रीय शासन के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि वह "एक सहानुभूतिपूर्ण शासन-तन्त्र होगा ...... एक ऐसी संस्था जिसका निर्माण 'इकाइयों' द्वारा, केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के नियंत्रण और निरीक्षण के लिए, किया जायगा

और जिसका काम केवल यह होगा कि जो भार उसे प्रान्तोंके द्वारा सौंपा जाय, वह उसे कुशलता, सदाशयता और न्याय की भावना के साथ पूरा कर दे।" सर सिकन्दर तो उसे एक"संयोजक-समिति"(Co-ordination Committee) के नाम से पुकारने को भी तैयार थे। कूपलैण्ड ने सर सिकन्दर के केन्द्र के संबंध में जो आलोचना की है उससे यह अनुमान हो सकता है कि स्वयं उनके द्वारा प्रस्तावित केन्द्रीय शासन संभवतः कुछ अधिक सबल होगा। अपनी क्षेत्रीय योजना को उन्होंने विभिन्न राज्यों के एक संगठन (Confederay) से अधिक सुगठित माना है। उनका कहना है कि इस प्रकार के राज्य-संघ की अपनी कोई सत्ता नहीं होती, न कोई अधिकार ही होता है, और उसके जो निर्णय होते हैं वे ऐसे होते हैं जिनके संबंध में विभिन्न राज्यों की सहमति होती है और जिन्हें क्रियात्मक रूप उन राज्यों द्वारा उनके अपने खर्चे पर दिया जाता है। कूपलैण्ड का कहना है कि उनका प्रस्तावित आन्तर्क्षेत्रीय केन्द्र इसके बिल्कुल विपरीत एक स्वतन्त्र शासन-तन्त्र होगा, जो स्वयं अपने सिपाहियों को स्वयं अपने आदेश दे सकेगा, और अपना खर्चा भी स्वयं ही करेगा। परन्तु इस शाब्दिक आडम्बर के पीछे यदि हम वस्तुस्थिति को समझने का प्रयत्न करें तो हम स्पष्ट देख सकेंगे कि इन दोनों में विशेष अन्तर नहीं है।

इन योजनाओं के बनाने वालों की मनोवृत्ति उस समय बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाती है जब हम आन्तर्क्षेत्रीय केन्द्र की धारा-सभाओं और कार्यकारिणी के प्रस्तावित विधानों पर दृष्टि डालते हैं। सरसिकन्दरहयात खां ने तो १९३५ के एक्ट में प्रस्तावित धारा-सभा के बराबर बड़ी धारा-सभा की ही कल्पना की थी, वे केवल यह अन्तर चाहते थे कि उसमें दो के स्थान पर एक चैम्बर हो, ३३ प्रतिशत स्थान देशी नरेशों के प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित हों, और २५० स्थानों में से ३३ प्रतिशत मुसलमानों के लिए। कूपलैण्ड व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की संख्या बहुत कम कर देना चाहते हैं, और चाहते हैं हिंदू बहु-संख्यक और मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांतों में एक 'संतुलन' की स्थापना करना। उनकी योजना के अनुसार मुसलमान, जिनकी आबादी देश में २४ प्रतिशत है, यदि चाहें तो केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में ५० प्रतिशत स्थान प्राप्त कर सकेंगे। इसी प्रकार से वह कार्यकारिणी सभा के सदस्यों की संख्या व उसके महत्त्व को कम कर देना चाहते हैं। कार्यकारिणी का महत्त्व तो उस समय अपने आप ही कम हो जायगा, जब उसका बहुत कम विभागों पर अधिकार होगा। कूपलैण्ड एक राजनैतिक दल के हाथों में सत्ता सौंपे जाने के भी विरोधी हैं, और इसलिए वह यह भी चाहते हैं कि कार्यकारिणी का निर्माण मिश्रित रूप से हो, अर्थात्

उसमें कई राजनैतिक दलों का प्रतिनिधित्व हो। इस आधार पर जो कार्य-कारिणी समिति, या मंत्रिमण्डल, बनेगा उसकी स्थिति बड़ी नाज़ुक होगी। इसका अन्दाज़ा तो इस बात से भी लगाया जा सकता है कि कूपलैण्ड ने यह सुझाव पेश किया है कि मंत्रिमण्डल का संगठन स्विज़रलैण्ड के विधान के आधार पर हो, अर्थात् धारा-सभा के द्वारा उसका चुनाव तो हो जाय, परन्तु अपने दिन-प्रतिदिन के शासन में वह उसके प्रति उत्तरदायी न हो, उसके अन्तर्गत जो थोड़े से विभाग हों वे हिन्दू और मुसल्मान क्षेत्रों में बराबर बांट दिये जायं, और उसका अध्यक्ष बारी-बारी से एक हिंदू और एक मुसल्मान हों। ऐसा जान पड़ता है कि अपने इस केन्द्र के स्थायित्व में स्वयं कूपलैण्ड को संदेह था, और इसी कारण अपने इन प्रस्तावों के अन्त में उन्होंने अपनी यह राय भी ज़ाहिर कर दी है कि एक अलग धारा-सभा और एक अलग कार्य-कारिणी बनाने के बदले यदि एक उस प्रकार की मिली-जुली कौंसिल की स्थापना कर दी जाय जैसी कि अंग्रेज़ी राज्य के प्रारम्भिक वर्षों में थी तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी।

क्या यह एक बड़े आश्चर्य की बात नहीं है कि यह योजना जो हिंदुस्तान को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अराजकतापूर्ण व्यवस्था की ओर लौटा ले जाने का प्रस्ताव करती है, हमारी आज की सांप्रदायिक समस्या का एक अच्छा समाधान होने का दावा भी करती है ? यह कहा जाता है कि विभिन्न क्षेत्रों में 'संतुलन' की स्थापना करने से यह समस्या सुलझ जायगी--इस योजना के समर्थकों को इस 'संतुलन' में ही सब समस्याओं का निदान दिखाई दे रहा है। सिकन्दर-हयातख़ां के प्रस्तावों को उन्होंने इस कारण अस्वीकृत कर दिया कि वह दो मुसल्मान और पांच हिंदू क्षेत्रों की कल्पना कर रहे थे। जान पड़ता है कि मुस्लिम हितों के संरक्षण के संबंध में प्रो० कूपलैण्ड सर सिकन्दरहयातख़ां से भी अधिक सतर्क हैं ! तभी तो वह हिंदू क्षेत्रों की संख्या पांच से घटा कर दो रखना चाहते हैं। प्रो० कूपलैण्ड का विश्वास है कि ऐसा करते ही हमारी सांप्रदायिक समस्या का हल निकल आयगा—क्योंकि अब देश के विभिन्न भागों की जनता सांप्रदायिक भावना के स्थान पर उन 'महान् देशों' के प्रति भक्ति की भावना को विकसित कर लेगी जिनका निर्माण क्षेत्रीय विभाजन की योजना के आधार पर होगा। केन्द्रीय संयुक्त-समिति में जो हिंदू और मुसल्मान सदस्य होंगे वे अपने-सम्प्रदायों द्वारा नहीं परन्तु 'क्षेत्रों' द्वारा चुने जायंगे। कूपलैण्ड ने हिंदू और मुसल्मान दोनों से यह अपील की है कि वह उनकी इस योजना को स्वीकार कर लें। हिंदुओं से उन्होंने जो अपील की है उसका आधार यह है कि जिस सशक्त केन्द्रीय कार्यकारिणी-समिति और महान् राष्ट्रीय व्यवस्थापिका सभा की वे कल्पना

कर रहे हैं—और जिसकी ओर १८६१ से १६४४ तक हिंदुस्तान अग्रसर होता जारहा था—वह आज की परिस्थितियों में असम्भव होगये हैं। अपने उस स्वप्न को कार्यान्वित करने के लिए तो हिंदुस्तान को एक राष्ट्र के रूप में पुनर्जन्म लेने की आवश्यकता होगी। कूपलैण्ड हिंदुस्तान को एक राष्ट्र में देखने की हिंदुओं की महत्वाकांक्षा को बिल्कुल ही कुचल नहीं देना चाहते। पर उसके लिए वह उन्हें सब्र करने की सलाह देते हैं। "धीरज" प्रो० कूपलैण्ड एक स्थान पर लिखते हैं, "राजनैतिक गुणों में सबसे श्रेष्ठ है। और अब तो यह स्पष्ट है कि यदि हिंदुस्तान की जनतायें कभी एक राष्ट्र बनना चाहें तो उसमें समय लगेगा।" इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रो० कूपलैण्ड ने इतनी दया अवश्य की है कि हमारे हृदय से इस आशा और इस स्वप्न को कि हमारा देश किसी दूर, धूमिल, भविष्य में शायद कभी एक राष्ट्र बन सके, बिल्कुल मिटा नहीं दिया है। प्रो० कूपलैण्ड ने वैसी ही ज़ोरदार अपील मुसल्मानों से देश को दो भागों में बांट देने की अपनी मांग को वापिस ले लेने, और उनकी क्षेत्रीय योजना को स्वीकार कर लेने, के लिए की है, क्योंकि उनका कहना है कि उक्त योजना के अनुसार उन्हें हिन्दुओं के बराबर अधिकार मिल जायंगे। जिस योजना के सम्बन्ध में इतने बड़े-बड़े दावे किये जा रहे हैं उसका आर्थिक, सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक और राजनैतिक, सभी दृष्टिकोणों से अध्ययन कर लेने का दायित्व हमारे ऊपर आ जाता है।

योजना का आर्थिक-रूप

सबसे पहिले योजना के आर्थिक पक्ष को लें। क्षेत्रीय योजना का तो मुख्य आधार ही यह है कि वह राजनीति को साम्प्रदायिक धरातल से उठा कर आर्थिक धरातल पर प्रस्थापित कर देना चाहती है। ऊपर से देखने से तो यह बात बड़ी आकर्षक, और प्रगतिशील, दिखाई देती है, परन्तु वस्तुस्थिति क्या है? क्षेत्रीय विभाजन की योजना क्या शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से हमारी भारतीय परिस्थितियों को सुधारने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है? इस योजना में दो बातों पर विशेष ज़ोर दिया गया है। एक तो नहरों से सिंचाई; दूसरे पानी से बिजली तैयार करना। यह मानते हुए भी कि हिन्दुस्तान के आर्थिक विकास के लिए ये दोनों बातें ज़रूरी हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि वे आज देश के सामने सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम हैं, और इसके अतिरिक्त, उनका विकास तो किसी भी प्रकार की सरकार के द्वारा, चाहे वह पाकिस्तान की सरकार हो या अखण्ड हिन्दुस्तान की, किया जा सकता है। इसके लिए केवल आन्तर्प्रान्तीय सहयोग की आवश्यकता है, क्षेत्रीय योजना जैसी औषधि का

प्रयोग, जो सम्भवतः बीमारी से भी अधिक ख़तरनाक साबित हो, आवश्यक प्रतीत नहीं होता। इसके अलावा क्षेत्रीय योजनाओं में से अधिकांश में आर्थिक पक्ष पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। सिकन्दर हयात खां योजना में तो जान पड़ता है इस पर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया गया। यदि उनकी योजना अमल में लाई जाय तो मैसूर राज्य को उसके प्राकृतिक आर्थिक सम्पर्कों से उन्मूलित कर दिया जायगा, क्योंकि उनका प्रस्ताव उसे मद्रास या मद्रास की रियासतों या कुर्ग में शामिल करने का नहीं परन्तु बम्बई, पश्चिमी भारत की रियासतों और मध्य प्रान्त की रियासतों के साथ रखने का है। इसी प्रकार मध्य प्रान्त की रियासतें भी अपने प्राकृतिक सम्पर्कों से अलहदा करके बम्बई की रियासतों और हैदराबाद में मिला दी जायंगी। यह समझना कठिन है कि देश के विभिन्न प्रदेशों को इस प्रकार, बिना किसी वैज्ञानिक आधार अथवा सिद्धान्त के, किसी भी शासन के सिपुर्द कर देने से कैसे उनकी आर्थिक उन्नति हो सकेगी।

यह बात नहीं है कि इस प्रकार के दोष केवल सिकन्दरहयातखाँ योजना में ही हों, यीट्स-योजना व कूपलैण्ड-योजना भी जो वैज्ञानिक होने का दावा रखती है, इन दोषों से मुक्त नहीं हैं, यद्यपि उनमें ये दोष इतने बड़े परिमाण में नहीं हैं। यीट्स-योजना ने नदियों और उनके द्वारा सींचे जाने वाले मैदानों को विभाजन का आधार माना है, परन्तु यह समझना कठिन है कि किस सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने नदी के 'डेलटा' को उसके 'बेसिन' से अलहदा करने का प्रस्ताव रखा है—क्योंकि उनकी योजना में बंगाल को गंगा-यमुना के प्रदेश से अलग रखा गया है। आर्थिक विकास की किसी भी सुगठित योजना के सम्यक् विकास के लिए यह आवश्यक है कि एक प्रमुख नदी द्वारा सींचा जाने वाला समस्त प्रदेश एक ही शासन के अन्तर्गत रखा जाय। इसके अतिरिक्त, यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि सारा दक्षिणी पठार एक ही क्षेत्र मान लिया गया है। इस संबंध में श्री० मुन्शी ने लिखा है, "प्राकृतिक भूगोल की दृष्टि से भी प्रो० कूपलैण्ड की क्षेत्रीय योजना अर्थहीन है। नदियों के आधार पर विभाजन की चर्चा में वह नदी द्वारा सींचे जाने वाले प्रदेश को प्रायः बिलकुल भूल गये हैं। राजपूताना सिंधु नदी से सम्बद्ध नहीं है। बंगाल, जिसे उन्होंने गंगा के मैदान से अलहदा कर दिया है, गंगा और उसकी सहायक-नदियों पर ही निर्भर है। उड़ीसा को उन्होंने गंगा के डेलटा के साथ जोड़ा है, पर उसकी अपनी नदियां बिल्कुल भिन्न हैं; गंगा के मैदान से अथवा राजपूताने के देशी राज्यों से उनका कोई संबंध नहीं है। दक्षिण का तो अपना कोई

अलहदा नदियों का समूह है ही नहीं।"[1]

यीट्स और कूपलैण्ड दोनों ने अपनी क्षेत्रीय योजनाओं की तुलना अमरीका की 'टेनेसी-वैली-ऑथोरिटी' से की है, परन्तु यह तुलना ग़लत और भ्रमोत्पादक है। पहिली बात तो यह है कि टी० वी० ए० के प्रयोगों की सफलता के संबंध में सभी लोग एकमत नहीं हैं। कुछ तो उसके संबंध में बहुत सन्देह-शील भी हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि इस प्रयोग में आरम्भ में तो असफलता ही मिली थी। एक समय आ गया था जब टेनेसी-नदी का बहुत बड़ा हिस्सा धूल से भर गया था, एक सशक्त केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप से ही टी० वी० ए० को इस भयावह स्थिति से मुक्ति मिल सकी। टी० वी० ए० के संबंध में बहुत से राजनैतिक विचारकों का तो यह मत है कि यह संघ-शासन द्वारा एक ऐसे क्षेत्र में अनधिकार हस्तक्षेप है, जो वस्तुतः स्थानीय शासन के अन्तर्गत होना चाहिए। दूसरे, जो लोग टी० वी० ए० का उदाहरण हमारे सामने रखते हैं वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि यह प्रयोग केन्द्रीकरण की दिशा में है, न कि अकेन्द्रीकरण की, जब कि हमारी क्षेत्रीय योजनाओं के विधाता केन्द्र की शक्ति को ही चकनाचूर करके क्षेत्रों में बांट देना चाहते हैं। अमरीका में टी० वी० ए० की स्थापना का परिणाम यह हुआ है कि विभिन्न राज्यों ने, जिनकी सीमाओं के अन्तर्गत टेनेसी नदी का प्रवाह है, अपनी सार्वभौम सत्ता का एक अंश एक ऐसी केन्द्रीय सरकार के हाथों सौंप दिया है, जो बहुत से मामलों में अमरीका की केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत है। इस प्रयोग से अमरीका में केन्द्रीय सरकार की शक्ति तनिक भी कम नहीं हुई है, बल्कि, यह कहना चाहिए, कुछ बढ़ ही गई है। तीसरी बात जो इस संबंध में हम ध्यान में रखें वह यह है कि टी० वी० ए० का अधिकार-क्षेत्र बहुत ही सीमित है। उसका काम केवल यही है कि वह बाढ़ की रोक-थाम करे, नदी में यातायात के साधनों की उन्नति करे, और विद्युत्-शक्ति का विकास और प्रसार करे। इसके विपरीत क्षेत्रीय योजना के समर्थक यह चाहते हैं कि क्षेत्रीय इकाइयां ही सार्वभौम-सत्ता की वास्तविक केन्द्र बनें।

एक बहुत बड़ा प्रश्न जो इस संबंध में उठता है, वह यह है कि क्या केवल आर्थिक क्षेत्रवाद (economic regionalism) को ही राजनैतिक इकाइयों के निर्माण का एकमात्र आधार माना जा सकता है? और यदि ऐसा किया भी गया तो क्या यह भारतीय परिस्थितियों में व्यावहारिक होगा? हिन्दुस्तान को यदि हम आर्थिक क्षेत्रवाद के सिद्धान्त के आधार पर

१—के० एम० मुन्शी: The Indian Deadlock, पृ० १०३-४।

कई भागों में बांटना चाहें, तो हम देखेंगे कि हमारी सीमा-रेखाएं भाषा, इतिहास, संस्कृति आदि की सीमा-रेखाओं को स्थान-स्थान पर काट देंगी, और समाज-शास्त्र का कोई भी विद्यार्थी यह जानता है कि किसी भी देश के सीमा-निर्माण में इन तत्त्वों का भी कितना अधिक महत्त्व है। ऐसी स्थिति में हमें यह पूछने का अधिकार है कि हिन्दुस्तान के आर्थिक विकास की दृष्टि से क्या क्षेत्रवाद ही एकमात्र, अथवा सर्वश्रेष्ठ, मार्ग है? जैसा कि स्वयं प्रो० कूपलैण्ड ने माना है, क्षेत्रों द्वारा जो काम किया जा सकता है वह विभिन्न प्रांतों के सलाह-मशविरे और सहयोग से भी हो सकता है। इन परिस्थितियों में, भारतीय शासन-तंत्र में, जो अब भी कुछ कम जटिल नहीं है, क्षेत्रों की वृद्धि विशेष वांछनीय नहीं मानी जा सकती। इसके अतिरिक्त, यदि प्रांतीय 'इकाइयाँ' अपना वर्त्तमान स्वरूप और सत्ता क़ायम रखेंगे—और यीट्स और कूपलैण्ड दोनों यही चाहते हैं—तब तो क्षेत्रों की आवश्यकता और भी कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त भी, एक और प्रश्न जो पूछा जा सकता है वह यह है कि आर्थिक क्षेत्रवाद का सिद्धांत समस्त देश पर लाद देने की क्या आवश्यकता है, जब कि उसकी उपादेयता स्पष्ट ही कुछ भागों तक ही सीमित है? उसकी आवश्यकता काश्मीर के थोड़े से भाग, समस्त पंजाब, सीमा-प्रांत के पूर्वी भाग, राजपूताना के उत्तर-पश्चिमी भाग और सिंध के लिए तो मानी जा सकती है, पर उसके आधार पर सारे देश की सीमाएं बदल डालना, और हिन्दू बहु-संख्यक क्षेत्रों का निर्माण कर लेना--जहां कि उसकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है—बहुत न्यायसंगत नहीं जान पड़ता।

सच तो यह है कि क्षेत्रवाद के आधार पर देश को कई भागों में बांट देना एक बिल्कुल ही अ-वैज्ञानिक कार्य होगा। वैसे देखा जाय तो आर्थिक क्षेत्रवाद के सिद्धान्त को या तो प्रो० कूपलैण्ड ने ठीक से समझा नहीं है, या जान-बूझ कर उसके अर्थ को तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश की है! आर्थिक क्षेत्रवाद के सिद्धान्त को यदि हम उसके सही रूप में लें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि इस दृष्टि से समग्र, अविभाज्य, हिन्दुस्तान एक आर्थिक क्षेत्र (region) है, उसका कोई एक भाग विशेष नहीं—उसके प्रत्येक भाग को अपने आर्थिक विकास के लिए अन्य भागों पर निर्भर रहना पड़ता है, परन्तु यदि हम समस्त देश को लें तो वह आर्थिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से एक स्वयं-संपूर्ण और स्वावलम्बी इकाई माना जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से भी विश्व की प्रवृत्ति अब एक बड़ी आर्थिक इकाई की कल्पना की ओर अग्रसर हो रही है—अमरीका के महाद्वीपों, मध्य-पूर्व के देशों, यहां तक कि सतत-

युद्धोन्मुख यूरोप में भी, यह प्रवृत्ति हम स्पष्ट देख सकते हैं। हिन्दुस्तान तो संसार के उन थोड़े से देशों में से है—इस संबंध में केवल दो अन्य देशों, अमरीका के संयुक्त-राज्य और सोवियट रूस, का नाम लिया जा सकता है—जो भौगोलिक और आर्थिक दृष्टि से सम्पूर्ण इकाई माने जा सकें। हिन्दुस्तान में एकता की यह भावना काफ़ी विकास भी पा चुकी है—देश के एक कोने को दूसरे कोने से जोड़ने वाली सड़कें और रेलें, तार और डाक के साधन, सामान्य मुद्रा और बैंक, सामान्य नियम और अनुशासन, और एक प्रांत से दूसरे प्रांत तक फैलता रहने वाला चिर-यात्रा-शील मानव-समुदाय, कलकत्ते के सिख टैक्सी-ड्राइवर और बिहारी रिक्शावाले, देहली की सेक्रेटेरिएट के सहस्र-सहस्र मद्रासी क्लर्क, बम्बई के 'भय्ये'—ये सब प्रतिक्षण एकता की उन कड़ियों को मज़बूत बनाते रहते हैं। यदि हमने क्षेत्रीय विभाजन के सिद्धांत के आधार पर देश को विभिन्न भागों में बांट दिया तो वे समस्त आधार-तत्त्व जिन पर एक देश-व्यापी आर्थिक योजना की स्थापना की जा सकती है, बुरी तरह से चूर-चूर हो जायंगे।

योजना का सांस्कृतिक पक्ष

क्षेत्रीय योजना में सांस्कृतिक प्रश्नों को तो बिल्कुल ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यदि इस योजना के अनुसार देश को कई भागों में बांट दिया गया तो उसमें भाषा, इतिहास, संस्कृति, परम्पराएं आदि, जिनकी किसी भी राजनैतिक पुनर्निर्माण में उपेक्षा नहीं की जा सकती, बिल्कुल ही उपेक्षित रह जायंगे। इस संबंध में सिकन्दर योजना तो बहुत ही दोषपूर्ण है। उसमें, क्षेत्र नं० ५ में, गुजराती और मलयालम भाषा-भाषियों को एक साथ रख दिया गया है, पर मराठी, तेलगू और कन्नड़ भाषा-भाषी विभिन्न क्षेत्रों में बांट दिए गए हैं। यीट्स व कूपलैण्ड की योजनाओं में भी हम सांस्कृतिक प्रश्नों की अवहेलना के कई उदाहरण पाते हैं। राजपूताना, इतिहास, परम्पराओं और संस्कृति की दृष्टि से, एक सांस्कृतिक इकाई बन गया है, पर प्रो० कूपलैण्ड उसे तीन भागों में बांट देना चाहते हैं। उसकी दक्षिणी रियासतें, बांसवाड़ा, दांता, डूंगरपुर और पालनपुर वे दक्षिण में मिला देना चाहते हैं, पूर्वी रियासतें, भरतपुर, बूंदी, धौलपुर, करौली और कोटा, गंगा-यमुना के प्रदेश के साथ संबद्ध होंगे, और शेष रियासतें सिंधु नदी के मैदान से जोड़ दी जायंगी। परन्तु, केवल राजपूताना ही एक ऐसी सांस्कृतिक इकाई नहीं है जिसका इस प्रकार से विभाजन किया गया हो। यदि प्रमुख नदियों के द्वारा सींची जाने वाली भूमि को ही विभाजन का आधार बनाया गया, तो सिखों को

भी दो विभिन्न क्षेत्रों में बांटना होगा—क्योंकि अम्बाला डिवीज़न, अलवर और जिंद की रियासतों के सहित गंगा-यमुना के द्वारा सींचा जाता है, न कि सिंधु के। यदि उसे सिंधु नदी के प्रदेश में रखा गया तो आर्थिक क्षेत्रवाद के सिद्धांत की उपेक्षा होगी। उड़ीसा की समस्या भी काफ़ी जटिल है। वह वैसे तो एक छोटा-सा प्रांत है, परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से उसकी अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता है, उसके किसी भी प्रकार के निकट, जातिगत अथवा सांस्कृतिक, संबंध न तो बंगाल से हैं, और न मद्रास से। ऐसी स्थिति में यह निश्चय करना कठिन होगा कि उसे किस क्षेत्र में रखा जाय। जहां तक उसकी नदियों का संबंध है, महानदी उसका संबंध मध्य-प्रांत से जोड़ती है परन्तु ब्राह्मणी का प्रवाह छोटा नागपुर की ओर है। कूपलैण्ड ने उड़ीसा को गंगा नदी के प्रदेश से संबद्ध किया है, पर किस आधार पर उन्होंने ऐसा किया है, यह नहीं लिखा।

योजना का सांप्रदायिक पक्ष

परन्तु, क्षेत्रीय योजना यदि हमारी सांप्रदायिक समस्या को सुलझा पाती है, तब तो हम उसकी दूसरी कमियों को बर्दाश्त कर लेने के लिए भी तैयार हो सकते हैं। इस दृष्टि से, वह मुसल्मानों की उनके लिए अलहदा प्रदेशों की मांग को, सिंधु और डेलटा प्रदेशों के निर्माण के द्वारा, जो पाकिस्तान और उत्तर-पूर्वी हिंदुस्तान का पर्याय होंगे, पूरा तो करती है, बल्कि उनकी मांग से कुछ अधिक ही उन्हें दे देती है, परन्तु मुस्लिम संस्कृति के संरक्षण की दृष्टि से इन प्रदेशों की स्थिति को कमज़ोर बना देती है। क्षेत्रीय योजना इन प्रदेशों की हिंदू आबादी की संख्या को बहुत बढ़ा देती है। इस संबंध में संख्याओं पर एक तुलनात्मक दृष्टिपात कर लें। जब कि राजाजी की योजना के पाकिस्तान में हिंदू और मुसल्मानों की संख्या का अनुपात पाकिस्तान में १७:८३ और उत्तर-पूर्वी हिंदुस्तान में २९:७१ होगा, और मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की कल्पना के अनुसार वह क्रमशः ३०:७० और ४५:५५ होगा, कूपलैण्ड-योजना उसे बढ़ा कर ४०:६० और ४५:५५ कर देगी। यह समझना कठिन है कि मुस्लिम प्रदेशों में हिंदुओं की संख्या बढ़ा देने से सांप्रदायिक समस्या के सुलझने में सहायता कैसे मिलेगी। इससे हिंदू क्षेत्रों में मुसल्मानों की संख्या अवश्य कम हो जायगी जिसका परिणाम यह होगा कि वे लोग, बिना मुसल्मानों द्वारा किसी रोक-टोक के, अपनी संस्कृति का विकास कर सकेंगे. परन्तु मुस्लिम-क्षेत्रों में हिंदुओं की संख्या बढ़ा देने से तो उनकी समस्या अधिक जटिल ही हो जायगी, क्योंकि इतनी बड़ी संख्या वाला वर्ग अवश्य इन क्षेत्रों के शासन और धारा-सभाओं में एक प्रभावपूर्ण स्थान प्राप्त करना चाहेगा।

मुस्लिम-संस्कृति के विकास के प्रश्न को भी यदि हम एक ओर रख दें, तो भी क्या इस योजना से देश का सांप्रदायिक वातावरण कुछ अधिक शुद्ध बन सकेगा ? जब कि क्षेत्रोंके निर्माण का आधार ही सांप्रदायिक है—सारा आयोजन ही दो हिंदू क्षेत्रों के 'संतुलन' में दो मुसलमान क्षेत्रों को खड़ा करने का है—तो यह निर्विवाद है कि ये दोनों समूह, शान्ति से रहने के बदले, आपस में लड़ते-झगड़ते रहेंगे। इसका परिणाम देश के वातावरण पर बुरा ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक क्षेत्र की अपनी आन्तरिक सांप्रदायिक समस्या तो बनी ही रहेगी। हिन्दू क्षेत्रों की शासन-व्यवस्था दिन-प्रति-दिन हिन्दू-संस्कृति के प्रभाव में आती जायगी, इससे वहां की मुसल्मान जनता का अधिकाधिक क्षुब्ध होना स्वाभाविक होगा, और उनकी इन भावनाओं की प्रतिक्रिया मुसल्मान-क्षेत्रों द्वारा हिन्दू-क्षेत्रों के प्रति बरती जाने वाली नीति पर भी अवश्य पड़ेगी। यदि मुस्लिम-क्षेत्रों में रहने वाले हिन्दू और मुसल्मानों के आपसी संबंध बिगड़ते रहे, तो यह संभव है कि उनका यह संघर्ष एक बड़े गृह-युद्ध का रूप ले ले। इन क्षेत्रों में हिन्दुओं और मुसल्मानों की संख्या में विशेष अन्तर भी नहीं होगा—एक में उनका अनुपात ४० : ६० व दूसरे में ४५ : ५५ होगा। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के गृह-युद्ध की संभावना और भी बढ़ जाती है। और क्योंकि इन क्षेत्रों की अपनी सार्वभौम-सत्ता होगी, एक निर्बल केन्द्रीय सरकार के लिए उन पर किसी प्रकार का दबाव डालना भी असंभव ही होगा। सच तो यह है कि ऐसे निर्बल केन्द्रीय शासन के द्वारा इस प्रकार के हस्तक्षेप की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इन परिस्थितियों में हम तो केवल यही सोच सकते हैं कि इंग्लैण्ड का साम्राज्यवादी पंजा इस केन्द्रीय शासन का मुख्य आधार होगा, और देश में किसी भी प्रकार की अशांति अथवा अराजकता की स्थिति में वह सार्वभौमता के उस निर्बल खोल को बड़ी आसानी से फाड़ कर फेंक देगा, जिसमें इस योजना के समर्थक क्षेत्रीय शासन को मढ़ देना चाहते हैं।

योजना का राजनैतिक पक्ष

क्षेत्रीय योजना की समस्त प्रवृत्ति यह दिखाई देती है कि राष्ट्रीयता की भावना के टुकड़े-टुकड़े करके उसे छोटी-छोटी भौगोलिक सीमाओं में बांट दिया जाय। इस पर भी क्षेत्रीय योजना भारतवर्ष की एकता को क़ायम रखने का दावा करती है! सच तो यह है कि इससे बड़े मिथ्या दावे की कल्पना शायद ही की जा सके। क्षेत्रवाद हिन्दुस्तान को चार राज्यों, प्रो० कूपलैण्ड के शब्दों में 'चार महान् देशों' में बांट देना चाहता है, और उनसे अपेक्षा करता है

कि प्रत्येक अपनी विभिन्न राष्ट्रीयता का विकास करे। परन्तु, राष्ट्रीयता की भावना क्या इस प्रकार, कृत्रिम साधनों द्वारा, विकास पा सकेगी? समस्त क्षेत्रीय विभाजन अवैज्ञानिकता और स्वेच्छारिता पर निर्भर है। वह सांस्कृतिक समन्वय और आर्थिक सामान्य-हितों के सर्वथा विरुद्ध जाता है। ऐसी स्थिति में जनता से यह आशा करना कि वह डेल्टा-प्रदेश अथवा ब्लॉक नं० ४ के प्रति रातों-रात एक राष्ट्रीयता की भावना को परिवर्धित कर लेगी, एक दुराशा-मात्र है। क्षेत्रीय विभाजन का स्पष्ट परिणाम तो यही निकलेगा कि जिस राष्ट्रीय भावना का विकास हम पिछली आधी शताब्दी में, त्याग और साधना, बलिदान और कष्ट सहन के रास्ते कर पाये हैं उसे एक गहरी ठेस पहुँचेगी, और हममें प्रांतीयता की भावना का विकास होगा। प्रांतीयता की भावना हममें काफ़ी गहरी है भी। आज तो वह राष्ट्रीयता के वेग में छिपी हुई है, पर देश की सजीव एकता की भावना जब हमारे सामने नहीं होगी, तब इन कृत्रिम क्षेत्रों के लिए उसे निर्बल बना पाना सर्वथा असंभव होगा। तब तो प्रांतीयता ही हमारी आज की राष्ट्रीयता का स्थान ले लेगी, और, एक बार जब प्रांतीयता की भावना दृढ़ होने लगेगी, तब क्षेत्रीय विभाजन की जड़ें अपने आप उखड़ती चली जायंगी। बंगाली और आसामी कब तक यह बर्दाश्त करेंगे कि वह एक निर्जीव डेल्टा-प्रदेश से संबद्ध रहें। वह स्वभावतः ही आज़ाद होना चाहेंगे। इसी प्रकार, पंजाब और सिंध और सीमा-प्रांत भी सिंधु-क्षेत्र से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करेंगे, और युक्तप्रांत, व बिहार व उड़ीसा अपने अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लेंगे। देश को चार भागों में बांटते ही बंटवारे की यह प्रवृत्ति इतना उग्र रूप ले लेगी कि बहुत थोड़े अरसे में ही हिन्दुस्तान कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट जायगा—कहीं तो एक आंध्र-राज्य की सृष्टि होगी, कहीं उत्कल का निर्माण होगा, कहीं विदर्भ और महाकोशल अपनी समस्त ऐतिहासिक परम्पराओं को लेकर पुनर्जन्म ग्रहण करते दिखाई देंगे, और ये सब स्वतंत्र कहलाने वाले 'राज्य' दूरस्थ ब्रिटेन के इशारे पर नाचेंगे।

क्षेत्रीय विभाजन की समस्त योजनाओं को सभी दृष्टिकोणों से देखने के बाद मेरा तो यह निश्चित मत है कि, उनकी तुलना में, पाकिस्तान कहीं अधिक अच्छा है। पाकिस्तान में कम-से-कम एक हिन्दू और एक मुसल्मान दो स्वतंत्र राज्यों की कल्पना तो की गई है, जो अपनी-अपनी संस्कृति के संरक्षण और विकास में दत्तचित्त हो सकेंगे। पाकिस्तान के बन जाने पर भी हम यह आशा तो कर ही सकते हैं कि किसी दिन ये दोनों स्वतन्त्र राज्य अपने सांप्रदायिक वैमनस्य से ऊपर उठ कर, जर्मनी और आस्ट्रिया के समान, एक राजनैतिक

एकता में आबद्ध हो सकेंगे। यह बहुत संभव है कि देश की भौगोलिक एकता, आर्थिक हितों की समानता और रक्षा की आवश्यकताएं उन्हें एकता की ओर बढ़ने पर मजबूर कर दें। मेरे आस्ट्रियन मित्रों का कहना है कि यद्यपि आस्ट्रिया सांस्कृतिक दृष्टि से एक बिल्कुल स्वतन्त्र और संपूर्ण इकाई है, परन्तु आर्थिक आवश्यकताएं उसे सदा ही जर्मनी के साथ एक निकटतम राजनैतिक संबंध बनाये रहने पर विवश करेंगी, उसके लिए उसे सांस्कृतिक दृष्टि से चाहे कितना ही त्याग क्यों न करना पड़े। मैं समझता हूँ कि पाकिस्तान की स्थिति भी बिल्कुल वैसी ही होगी। शायद हम पाकिस्तान को जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को दिये जाने वाले आश्वासनों से कहीं अधिक सबल और प्रामाणिक आश्वासन दे सकेंगे। इसके अतिरिक्त, पाकिस्तान की मुस्लिम-मांग के पीछे कम-से-कम एक गहरा विश्वास तो है—चाहे उसकी गहराई कितनी ही ग़लत क्यों न हो और चाहे उस विश्वास से हम कितने ही क्षुब्ध क्यों न हों—कि मुसलमान एक अलहदा राष्ट्र हैं। ऐसी दशा में यदि पाकिस्तान की स्थापना की गई, तो वह कम-से-कम एक 'राष्ट्रीय' मांग की पूर्त्ति के रूप में तो होगा, और 'राष्ट्रीयता' की यह भावना, और सब विरोधी परिस्थितियों के होते हुए भी, पाकिस्तान के स्थायित्व का एक सबल आधार बन सकेगी, परन्तु, क्षेत्रीय विभाजन की योजना के पीछे न तो भविष्य के लिए कोई आशा होगी और न निकट-वर्त्तमान में किसी प्रकार की न्याय की भावना। जिस प्रकार के राज्य की कल्पना प्रो० कूपलैण्ड ने की है—जिसमें एक क्षेत्र के विरुद्ध दूसरा क्षेत्र, एक संप्रदाय के विरुद्ध दूसरा संप्रदाय, एक प्रांत के विरुद्ध दूसरा प्रांत होगा—वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना कोई स्थान बना सकेगा, यह एक संदेहास्पद प्रश्न है। उसका तो अपना आन्तरिक वैषम्य—क्षेत्रीय, सांप्रदायिक, जातिगत—इतना अधिक होगा कि वह अन्य देशों, संभवतः ब्रिटेन, के हाथों में एक खिलौना-मात्र बना रहेगा। कौन कह सकता है कि यह स्थिति हमारे देश के लिए वांछनीय अथवा स्पृहणीय होगी?

: ११ :

(अ) भारतवर्ष और संघ-शासन

सांस्कृतिक आधार-भूमि

भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकता इतिहास का एक निर्विवाद तथ्य है। इस एकता की नींव उस दिन पड़ी जिस दिन आर्यों ने अपनी अध्यात्म-प्रधान संस्कृति की व्यापक परिधि में इस देश के आदिम-निवासियों को समाविष्ट करने का निश्चय किया। प्रागैतिहासिक-काल की भारतीय संस्कृति आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों का समन्वय थी। आर्यों ने न केवल द्राविड़ जाति के देवताओं और उनकी उपासना की पद्धति को अपनाया, पर उनकी भाषा और संस्कृति का भी बहुत अधिक प्रभाव उनकी अपनी विचार-धारा पर पड़ा। क्षितिमोहन सेन जैसे विद्वानों का मत तो यह है कि प्राचीन भारत में यद्यपि आर्यों ने राजनैतिक प्रमुखता प्राप्त कर ली थी, पर जिस वस्तु को आज हम प्राचीन भारतीय संस्कृति के नाम से जानते हैं, उसमें द्राविड़ संस्कृति का प्राधान्य था। शिव और दुर्गा आदि की पूजा का आरम्भ इस सांस्कृतिक समन्वय के बाद ही हुआ। विदेशों से जो तत्त्व, शक और हूण, कुशान और सीथियन आदि, भारतवर्ष में आते गये वे सब इस आर्य-द्राविड़ संस्कृति के अविभाज्य अङ्ग बनते चले गये। उन्होंने एक-दो पीढ़ियों के बाद ही भारतीय देवताओं की आराधना आरम्भ कर दी, और अपने विदेशी नामों को छोड़कर भारतीय नामों को अङ्गीकार किया। आर्य-द्राविड़ और विदेशियों की इस अनवरत-शृङ्खला द्वारा लाई जाने वाली मिश्री-यूनानी-असीरियन-बेबीलोनियन संस्कृतियों के समन्वय से वह संस्कृति बनी जिसे आज हम हिंदू-संस्कृति के नाम से जानते हैं।

मुस्लिम-आक्रमण के पहिले इस हिंदू-संस्कृति का रूप स्पष्ट हो चला था, और उसकी बाह्य-रेखाओं में कुछ कठोरता आने लगी थी। फिर भी समन्वय की शक्ति मिटी नहीं थी। दक्षिण भारत में जहां इस्लाम ने शान्तिपूर्ण उपायों से प्रवेश किया, हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय, प्रधानतः धार्मिक क्षेत्र में, बहुत जल्दी आरम्भ होगया था, परन्तु उत्तर भारत में इस्लाम का झंडा लेकर जो लोग आये उनके अर्द्ध-सभ्य, और कभी-कभी तो वहशियाना, बर्तावों

का असर हिंदुओं पर अच्छा नहीं पड़ा, और कुछ दिनों तक उन्होंने आत्म-रक्षा की दृष्टि से यही उचित समझा कि वे अपने समाज के चारों ओर कट्टरता की एक क़िलेबन्दी कर लें, परन्तु आक्रमण की आंधी के थम जाने पर मुस्लिम-संस्कृति की लहरें इस चहारदीवारी की नींवों को चारों तरफ़ से खोखला बनाने लगीं, और धीरे-धीरे न केवल हमारी राजनीति ही मुसल्मानों के प्रभाव में आगई पर हमारे धार्मिक विचार और आचार, रहन-सहन और रीति-रिवाज, भाषा और साहित्य, मूर्त्तिकला और चित्रकला, सभी पर उनकी संस्कृति का गहरा प्रतिबिंब पड़ा, और साथ ही जो मुसल्मान बाहर से आये थे, और आते गए, वे भी इस देश की संस्कृति के प्रभाव से अपने कोमुक्त नहीं रख सके। आज जिस चीज़ को हम भारतीय-संस्कृति, अथवा हिंदुस्तानी तहज़ीब, के नाम से पुकारते हैं, उसमें हिंदू और मुस्लिम प्रभाव ताने-बाने के समान एक-दूसरे में गुंथ-मिल गए हैं, और बग़ैर भारतीय-संस्कृति के तार-तार किये हुए, उन्हें एक दूसरे से अलहदा नहीं किया जा सकता।

हमारे देश में जातियों और भाषाओं की विभिन्नता के होते हुए भी सांस्कृतिक एकता का विकास हो सका है; विभिन्न प्रादेशिक संस्कृतियां अपने व्यक्तित्व को क़ायम रखते हुए भी, संगीत के स्वरों के समान, एक-रूप हो सकी हैं। जैसा कि एक अंग्रेज़ लेखक ने लिखा है, "भारतवर्ष एक संस्कृति का नाम है, न कि एक जाति का,"[1] और प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता सर हर्बर्ट रिज़ले के शब्दों में, "शारीरिक और सामाजिक, भाषा, रीति-रिवाज और धर्म संबंधी, अनेकों विभिन्नताओं के होते हुए भी हिमालय से कन्याकुमारी तक देश का समस्त जीवन एक सूत्र में ही पिरोया गया है।[2]" श्री० मुन्शी के शब्दों में, "भारत का साहित्य एक है, क्योंकि उसके संस्कार कुछ अलग-अलग नहीं हैं। जिस तरह आकाश के अनगिनत तारे गिनने की उतावली में अज्ञानी लोग उनकी ताल पर सधी हुई चाल की परीक्षा नहीं कर सकते, उसी तरह विशाल अन्तर, विभिन्न लिपियों और भाषाओं के भेद, की वजह से भारतीय साहित्य की असली एकता को भी नहीं देख सकते।" एक अन्य स्थान पर श्री० मुन्शी लिखते हैं,— "सारे देश के साहित्य का एक ही संस्कार में से जन्म हुआ है। उसमें एक ही क़िस्म के बीज बोये गए हैं, एक ही तरह का खाद डाला गया है। इस प्रकार एक ही क़िस्म के अंकुर, क्षेत्र की विशेषता की मात्रा से थोड़ा-बहुत अलगाव दिखलाते हुए भी विचित्र रंगों वाले एक ही प्रकार के रस-समृद्ध परिपाक से

१—ओ'मैली—Modern India and the West.

२—रिज़ले—The People of India.

लहलहा रहे हैं। भारत का साहित्य एक था, एक है और एक रहेगा।"[1]

इस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक एकता को क़ायम रखना आज की राजनैतिक परिस्थिति में और भी आवश्यक होगया है। हमारा देश आज एक शक्तिशाली साम्राज्य के साथ संघर्ष कर रहा है; एकता के आधार पर ही इस संघर्ष को सफल बनाया जा सकता है! जिन लोगों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का ज्ञान गहरा है उनका अनुमान है कि परिस्थितियां अब ऐसी आगई हैं कि हिंदुस्तान की आज़ादी को बहुत दिनों तक रोका नहीं जा सकता। यह मान लेने पर कि हिंदुस्तान की आज़ादी इतना निकट आगई है भारतीय एकता को बनाये रखने का हमारा दायित्व और भी बढ़ जाता है। आज़ाद हिंदुस्तान का विश्व की राजनीति में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग होगा, इसमें तो संदेह है ही नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का गुरुत्व-केन्द्र अटलांटिक से प्रशांत-महासागर में आजाने से हिंदुस्तान का दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। भविष्य का महायुद्ध प्रशांत महासागर में होगा और उसमें हिंदुस्तान को एक महत्त्वपूर्ण भाग लेने पर विवश होना पड़ेगा। पूर्वी द्वीप-समूह में जिस विद्रोह की लपटें आज अपने पूरे वेग पर हैं, भारतीय राजनीति का 'एशिया छोड़ो' का ताज़ा नारा अपने अन्तराल में उसी के विस्फोट को लिये है। आज हिंदुस्तान विवश हो, आज अंग्रेज़ी और डच साम्राज्यवाद एशियायी आज़ादी की इस जंग को कुचल सकें, पर आज़ाद होजाने पर हिंदुस्तान इन सब प्रश्नों को यों ही नहीं छोड़ देगा। हिंदुस्तान की आज़ादी एशिया की आज़ादी में निहित होगी। गुलाम एशिया और आज़ाद हिंदुस्तान की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। हिंदुस्तान को एशिया की आज़ादी के लिए भी लड़ना होगा। परिस्थितियों का सारा संकेत इसी दिशा में है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हिंदुस्तान अपने लिए एक शक्तिशाली स्थान बना ले।

पिछले दो महायुद्धों, और उनके बीच के अशांतिपूर्ण वर्षों में यह बिल्कुल ही स्पष्ट होगया है कि किसी निःशक्त राष्ट्र के लिए अपनी तटस्थता के निश्चय में आश्वस्त रहना शेखचिल्ली के स्वप्न जैसा है। छोटे राष्ट्रों का अब कोई भविष्य नहीं रह गया है। भविष्य या तो अमरीका और रूस जैसे बड़े राष्ट्रों के हाथ में है, जिन्हें प्रकृति ने ही स्वयं-संपूर्ण बना दिया है, या भौगोलिक दृष्टि से समीप-स्थित और आर्थिक दृष्टि से परस्परावलंबी उन छोटे-छोटे राष्ट्रों के हाथ में, जो अपनी राष्ट्रीय सार्वभौमता को भुलाकर एक राजनैतिक और आर्थिक सूत्र में आबद्ध हो सकते हैं। दक्षिण अमरीका की लैटिन रियासतें, पश्चिमी यूरोप के

१—के० एम० मुन्शी : भारतीय साहित्य और भाषा।

प्रजातंत्र देश, मध्य-पूर्व के अरब-राज्य आदि इस प्रकार के संघों का विकास कर सकते हैं। हिंदुस्तान अपनी संभावनाओं की दृष्टि से, अमरीका और रूस का समकक्ष है। वह यदि स्वतंत्र हो, और अपने आर्थिक साधनों का समुचित विकास कर सके, तो उसकी गिनती संसार के महान् राष्ट्रों (Great Powers) में हो सकेगी। अपने आर्थिक साधनों को विकास की चरम-सीमा तक पहुंचा देना इस महानता की आवश्यक शर्त होगी। प्रत्येक देश की राजनीति आज उसकी अर्थनीति के साथ संबद्ध है। देश भर में फैले हुए इन राशि-राशि आर्थिक साधनों के समुचित विकास के लिए एक सशक्त केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता होगी। आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए प्रत्येक देश में इस प्रकार की सशक्त केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता होती है, और जिन देशों में वैसी सरकार नहीं है, वहां उसकी स्थापना करना पड़ती है। अंग्रेज़ी शासन से हमें जो एक अप्रत्यक्ष लाभ हुआ है, वह यह है कि उसने देश में राजनैतिक व आर्थिक एकता की भावना को विकसित किया है। आज जब देश का भविष्य उसकी इस एकता पर निर्भर है, तब अंग्रेज़ी शासन के साथ उसे भी उखाड़ फेंकना आत्म-हत्या के समान होगा।

इसके साथ ही एक दूसरी बात भी हमें दृष्टि से ओझल नहीं कर देना है। केन्द्रीकरण के तत्वों के साथ-साथ हमारे देश में अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति भी अपने प्रबल रूप में है। उसकी जड़ें इतिहास की गहराई में हैं, यद्यपि पिछले पचास वर्षों में उसका बहुत अधिक विकास हुआ है। ईसा से सात शताब्दी पहिले, ज्ञात भारतीय इतिहास के प्रारंभिक काल में, हमें सोलह महाजन पदों, अथवा स्वतन्त्र राज्यों का वर्णन मिलता है, और उनकी जो सीमाएं थीं एक हद तक उनकी ही पुनरावृत्ति हम मुग़ल और अंग्रेज़ी साम्राज्यों के प्रान्तों में भी पाते हैं। जब कभी एक महान् साम्राज्य का विकास होता है—और हमारे देश के लम्बे इतिहास में ऐसे युग बहुत अधिक नहीं हैं—जनपदों की ये सीमा-रेखाएं धुंधली पड़ती जाती हैं, और मिट भी जाती हैं, पर साम्राज्यों के ढहते ही वे फिर एक स्पष्ट रूप ले लेती हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इस प्रश्न को देखें तो हमें पता लगेगा कि भारतीय संस्कृति की व्यापक परिधि के अन्तर्गत अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व लिए एक दर्जन से अधिक संस्कृतियां हैं। बंगाल और महाराष्ट्र, पंजाब और गुजरात, सिंध और मलयालम, उड़ीसा और तामिलनाड में संस्कृति का मौलिक भेद नहीं है, यह कहना वस्तुस्थिति की अवहेलना करना है। हमारे देश की प्रान्तीय संस्कृतियों की विभिन्नता एक ठोस ऐतिहासिक तथ्य है। सच तो यह है कि हमारे देश में संस्कृति की विभिन्नताओं का मुख्य आधार

धार्मिक उतना नहीं है जितना भौगोलिक। बंगाली हिन्दू और बंगाली मुसल्मान में भेद करना कठिन है, पर बंगाल के हिन्दू और पंजाब के हिन्दू में बड़ी आसानी से भेद किया जा सकता है। महाराष्ट्र का एक मुसल्मान उसी प्रदेश के हिन्दू के साथ अधिक घरेलूपन महसूस करता है, युक्तप्रांत अथवा सीमाप्रांत के मुसल्मान के साथ कम। हमारी राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ बंगालियों का बंग-भूमि से प्रेम, मराठों का महाराष्ट्र की परम्पराओं और संस्कृति में गौरव की अनुभूति, गुजरातियों की गुजरात की जय-कामना, यहां तक कि उत्कल और विदर्भ, आंध्र और बुन्देलखण्ड, राजस्थान और मालव की अपनी स्थानीय-राष्ट्रीयता के भाव भी बढ़ते जा रहे हैं।

हिन्दू और मुसल्मानों में संस्कृति का भेद उतना गहरा नहीं है, पर इन दोनों समाजों का अन्तर भी दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है, इसमें संदेह नहीं। यह अन्तर राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है; बल्कि यह कहना चाहिए कि राजनैतिक क्षेत्र में वह उतना गहरा नहीं है, जितना सांस्कृतिक क्षेत्र में। राजनैतिक क्षेत्र में तो एकता के प्रयत्न लगातार जारी हैं, पर हिन्दुओं और मुसल्मानों की सांस्कृतिक विभिन्नताएं बढ़ती जा रही हैं। भाषा के क्षेत्र में हिन्दुस्तानी, अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी, का माध्यम लेकर समन्वय के जितने प्रयत्न हुए, वे सभी असफल रहे हैं। हिन्दी और उर्दू का भेद बढ़ता जा रहा है — हिन्दुओं का झुकाव प्रायः संस्कृतमयी हिन्दी की ओर है, मुसल्मान ऐसी उर्दू को जो फ़ारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई है, अपनाते जा रहे हैं। बंगाल, गुजरात और सुदूर दक्षिण के मुसल्मान भी अब अपनी प्रांतीय भाषाओं की एक अलग शैली का निर्माण करने में जुटे हैं। रहन-सहन, खान-पान और आचार-विचार का अन्तर भी बढ़ता जा रहा है। पोशाक और तहज़ीब, अदब और इख़लाक़ की असमानताएं तो कुछ पहिले से थी हीं, अब वे और भी स्पष्ट होती जा रही हैं। एक दूसरे के उत्सव और त्योहारों के प्रति उदासीनता का भाव बढ़ता जा रहा है, पर साथ ही अपने त्योहार और उत्सवों को अपने प्राचीन रूप में मनाने का आग्रह भी अब पहिले से अधिक प्रबल है। यह बढ़ती हुई सांस्कृतिक विभिन्नता ही मुस्लिम-लीग के दो-राष्ट्रों के सिद्धान्त की जड़ में है।

इस प्रकार, हमें एक ओर तो भारतवर्ष की राजनैतिक एकता की अनिवार्यता को मानना पड़ता है, और दूसरी ओर सांप्रदायिक और प्रांतीय भेदों के आधार पर प्रस्थापित उसकी सांस्कृतिक विभिन्नता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता इन दोनों के बीच एक समन्वय

स्थापित करने की है। हम आज करते यह हैं कि अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं के आवेश में सांस्कृतिक विभिन्नताओं की अवहेलना करते हैं—दो राष्ट्रों के सिद्धान्तों के विरोध और अखण्ड हिन्दुस्तान के नारे के पीछे राष्ट्रीयता का यह अनसमझ जोश ही है। अपनी इन सांस्कृतिक विभिन्नताओं का हमें खुले दिल से स्वागत करना चाहिए : वह हमारे गौरव की वस्तु है। यह विभिन्नता हमारी भारतीय संस्कृति को अधिक समृद्धिशाली ही बनाएगी। उसके लिए शर्त्त यही है कि हम अपने सांस्कृतिक प्रश्नों को राजनैतिक प्रश्नों से संबद्ध करने की ग़लती से बचें। दूसरे शब्दों में, हम राजनैतिक इकाई और सांस्कृतिक इकाई में भेद करना सीखें। राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से समस्त भारतवर्ष का एक सशक्त केन्द्रीय-शासन के अन्तर्गत रहना अत्यन्त आवश्यक है, पर सांस्कृतिक दृष्टि से उसे अनेकों इकाइयों में बांटा जा सकता है, बांटा जाना चाहिए। उनमें से कुछ प्रदेशों में मुस्लिम-संस्कृति का प्राधान्य होगा, अधिकांश में हिन्दू-संस्कृति का, पर वे सब अपनी प्रांतीय संस्कृति का व्यक्तित्व लिए होंगे, और प्रत्येक में अपनी संस्कृति के चरम विकास के लिए पूरी सुविधाएं होंगी। जिस दिन हम सांस्कृतिक विविधता के साथ राजनैतिक एकता के सामंजस्य की स्थापना कर लेंगे, हमारी बहुत सी समस्याएं अपने आप सुलझ जाएंगी।

संघ-शासन के आधार-तत्त्व

यह सामञ्जस्य संघ-शासन के अन्तर्गत ही संभव है। संघ-शासन राजनीति के इतिहास में एक नया प्रयोग है, पर वह अपने छोटे से इतिहास में कई बड़ी-बड़ी समस्याओं को सुलझाने में सफल हुआ है। सच तो यह है कि संघ-शासन का विकास ही उन परिस्थितियों में हुआ है, जो आज हमारे देश में मौजूद हैं। एक ओर तो कई राजनैतिक इकाइयां रक्षा-सम्बंधी, राजनैतिक व आर्थिक परिस्थितियों के कारण मिल-जुल कर रहना चाहती हैं, और दूसरी ओर वह अपनी स्वतन्त्र सांस्कृतिक सत्ता को खोने के लिए भी उद्यत नहीं होती। संघ-शासन के निर्माण में जो प्रवृत्तियां काम करती हैं, उनका उल्लेख इस प्रकार किया जाता है—(१) राष्ट्रीय एकता का एक आध्यात्मिक आदर्श, (२) सामान्य आर्थिक स्वत्वों के विकास व सामान्य समस्याओं को मिल-जुल कर सुलझा लेने की तत्परता और (३) रक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय साख की चिन्ता। प्रसिद्ध विधान-शास्त्री डाइसी ने संघ-शासन की सफलता के लिए दो शर्तों को आवश्यक माना है—एक तो यह कि वे सब राज्य जो संघ-बद्ध होना चाहते हों भौगोलिक, ऐतिहासिक, जातिगत आदि दृष्टियों से एक दूसरे के इतना निकट हों कि उनकी जनता के लिए एक सामान्य राष्ट्रीयता की अनुभूति सम्भव हो सके, और दूसरे,

इन राज्यों के निवासियों में अपनी स्वतन्त्र सत्ता के सम्बन्ध में भी पूरा बोध हो। संघ-शासन, इस प्रकार, दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के समन्वय की दिशा में एक प्रयत्न है—उसमें केन्द्रीकरण की आवश्यकता और अकेन्द्रीकरण की अनिवार्यता दोनों एक-सी प्रबल होनी चाहिएं। संघ-शासन में एक ओर तो वे सब आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं जिनकी किसी भी जन-समूह को एक रखने के लिए आवश्यकता होती है, और दूसरी ओर संघ में शामिल होने वाली इकाइयों को आंतरिक शासन में सम्पूर्ण स्वतंत्रता और अपनी संस्कृति के विकास के लिए सम्पूर्ण सुविधाएं प्राप्त रहती हैं। एक ऐसे देश में जहां अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियां प्रबल हों, संघ-शासन ही एक सशक्त केन्द्र की स्थापना करने में सफल होता है।

संघ-शासन के विरुद्ध बहुत-सी बातें कही जाती हैं। विधान-वेत्ताओं का कहना है कि अधिक-से-अधिक अनुकूल वातावरण में भी संघ-शासन जटिलताओं और पेचीदगियों, क़ानूनी झगड़ों और अराजकता से मुक्त नहीं रखा जा सकता। क़ानून को अमल में लाने के संबंध में तो वह शासन-तन्त्रों में सबसे निःशक्त माना जाता है। प्रसिद्ध क़ानून-वेत्ता जे० सी० मॉर्गन के शब्दों में "यदि हम एक इसी बात को ले लें कि संघ-शासन में 'आन्तरिक' सार्वभौमता, क़ानून और शासन दोनों क्षेत्रों में, केन्द्रीय शासन और उससे संबद्ध 'राज्यों' अथवा प्रान्तों में बंट जाती है, हम आसानी से समझ सकेंगे कि उसमें प्रत्येक नागरिक को अपनी 'निष्ठा' दो शासन-तन्त्रों को देना होती है और धर्म-पुस्तकों में दिए गए इस सिद्धान्त की सचाई कि कोई मनुष्य दो स्वामियों की सेवा एक साथ नहीं कर सकता सब संघबद्ध समाजों के राजनैतिक इतिहास में मोटे अक्षरों में लिखी हुई है।" एक आस्ट्रेलियन लेखक, कैनेवे, का कहना है—"संघ-शासन की सबसे बड़ी ख़राबी यह है कि उसमें राष्ट्रीय सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना बहुत निर्बल पड़ जाती है।" उनका मत है कि आस्ट्रेलिया में संघ-शासन की स्थापना का परिणाम अच्छा नहीं हुआ, और अमरीका के संयुक्त-राज्य में भी क़ानून के प्रति अवज्ञा की भावना, जो पिछले वर्षों में बहुत बढ़ती जा रही है, इस द्वैध राजनिष्ठा के परिणाम स्वरूप ही इतनी प्रबल हो सकी है।

भारतवर्ष में संघ-शासन की स्थापना के विरुद्ध तो और भी बहुत-सी बातें कही जाती हैं। यह कहा जाता है कि पिछले वर्षों में हिंदुस्तान में जो भी प्रगति हुई है वह इस कारण कि हमारे यहां एक सशक्त केन्द्रीभूत शासन विद्यमान था। उसके अभाव में राष्ट्रीयता की भावना का विकास पाना असंभव

ही होता। एक सशक्त केन्द्रीभूत-शासन की स्थापना का ही यह परिणाम हुआ कि देश में एकता की भावना फैली, और एक अखिल-अखण्ड-अविभाज्य भारतवर्ष की कल्पना ने जन्म लिया। यह भी कहा जाता है कि अकेन्द्रीकरण की भावना भारतीय इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति और प्रधान शाप रहे हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों में पिछले १५० वर्षों में इस प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखा जा सका है, और एक विरोधी क्रम की स्थापना की जा सकी है। हमें उस क्रम को अपनी चरम सीमा तक ले जाना है। अगले शासन-विधान के पीछे केन्द्रीकरण की भावना प्रमुख होनी चाहिये। अपने इतिहास के इस नाजुक अवसर पर यदि हमने इस प्रवृत्ति को रोका, और अकेन्द्रीकरणकी भावनाओं को प्रोत्साहन दिया, तो हमारे देश में फिर वही अराजकता फैल जाएगी, जो अंग्रेज़ी शासन की स्थापना के पहिले थी। देश का विस्तार, संस्कृतियों की विविधता, आर्थिक आवश्यकताएं, प्रांतीयता के भाव के प्रबल होजाने का ख़तरा, सांप्रदायिक वैमनस्य के बढ़ने का डर, ये सब बातें ऐसी हैं जो एक सशक्त केन्द्रीय शासन की अनिवार्यता की ओर संकेत करती हैं। अंतिम, और सबसे बड़ा तर्क जो हमारे देश में संघ-शासन की स्थापना के विरुद्ध दिया जाता है, वह यह है कि संघ-शासन की कल्पना हमारे इतिहास और परम्पराओं के विरुद्ध जाती है। जैसा कि लॉर्ड फ़िलीमोर ने, १६ जून, १६३५ के हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स के अपने भाषण में कहा, "क्या वे लोग (जो संघ-शासन का समर्थन कर रहे हैं) भारतवर्ष के लंबे इतिहास में कहीं भी संघबद्ध होने की प्रवृत्ति पाते हैं? क्या वे सोच सकते हैं कि जटिल पद्धतियों द्वारा चुनी गई धारा-सभाओं और गवर्नर जनरल के विशेषाधिकारों की यह भूल-भुलैयां भारतीय परिस्थितियों में पांच वर्ष भी टिक सकेंगी?" संघ-शासन निःसन्देह एक जटिल शासन-तंत्र है, और उसकी यह जटिलता और पेचीदगी, वैधानिक नियंत्रणों और संतुलन का प्राधान्य, सत्ता के बंटवारे की कठिनाइयां, ये सब तथ्य उसके विरुद्ध बार-बार दोहराए जाते हैं। यह कहा जाता है कि यदि और कोई कारण उसकी सफलता के मार्ग में बाधक नहीं हुआ तो उसकी यह पेचीदगी ही उसे ख़त्म कर देगी।

हमारे देश में संघ-शासन की स्थापना के विरुद्ध प्रधानतः ये तीन बातें कही जाती हैं—

(१) संघ-शासन भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में बाधा उपस्थित करेगा।

(२) वह ब्रिटिश भारत व देशी राज्य दोनों को एक साथ समन्वित करने के अपने प्रयत्न में दोनों के वैधानिक विकास में रुकावट पैदा कर देगा।

(३) उससे स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के समुचित विकास में भी बाधा पड़ेगी।

१९३५ के संघ-शासन का आयोजन तो मानो इन तीन वादों को क्रियात्मक रूप देने के लिए ही किया गया था। उससे राष्ट्रीयता की भावना के अवरुद्ध होने और प्रांतीयता की भावना के विकसित होने की पूरी संभावना थी। उसमें देशी राज्यों का उपयोग ब्रिटिश भारत के वैधानिक विकास के मार्ग में रुकावट डालने के लिए किया गया था। यह भी निश्चित है कि यदि उसे अमल में लाया गया होता तो उससे भारतीय स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र दोनों को बड़ी क्षति पहुंचती। इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए लॉर्ड फ़िलीमोर ने हाउस ऑफ़ लॉर्डस के अपने उपर्युक्त भाषण में पूछा था, "क्या संघ-शासन के बिना आप आज़ादी की कल्पना कर ही नहीं सकते? भारतवर्षके समस्त वैधानिक विकास को संकुचित-सीमाबद्ध दिशा में मोड़ देने के लिए क्यों सरकार इतनी व्यग्र है? क्या उसका कारण यह नहीं है कि वह डरती है कि भारतीय राजनैतिक विकास को यदि प्राकृतिक रूप से बढ़ने दिया गया तो वह उसके वेगका सामना नहीं कर सकेगी?" परन्तु, इस प्रकार की आलोचनाओं का लक्ष्य प्रधानतः १९३५का शासन-विधान था। १९३५ की शासन-योजना को ही संघ-शासन की सीमा नहीं माना जा सकता। उसे तो संघ-शासन का नाम देना भी एक महत्त्वपूर्ण वैधानिक प्रयोग का अपमान करना है। जे०सी० मॉर्गन ने १९३५के शासन-विधानके संबंध में लिखा था—"दूसरे सभी संघ-शासनों में क़ानून बनाने वाली शक्ति अधिक-से-अधिक दो भागों में बंटी रहती है—एक ओर तो केन्द्रीय धारासभाएं इस काम को करती हैं, और दूसरी ओर राज्यों अथवा प्रांतों की धारासभाओं पर उसका उत्तरदायित्व रहता हैं, सत्ता का बंटवारा शासन को निर्बल तो बनाता ही है, पर उसे जितने अधिक भागों में बांटा जाए, शासन की निर्बलता उतनी ही मात्रा में बढ़ जाती है। ह्वाइट पेपर द्वारा प्रस्तावित बंटवारा तहस-नहस की सीमा का स्पर्श करता है। उसमें सत्ता दो भागों में नहीं, कम-से-कम ६ भागों में, बांटी गई है। उन प्रस्तावों के अनुसार, प्रत्येक भारतीय को ६, बल्कि ७, विभिन्न, और प्रायः संघर्ष-शील, क़ानून बनाने वाली शक्तियों के अन्तर्गत रहना होगा, जिनमें से तीन तो गवर्नर-जनरल के बहुमुखी व्यक्तित्व में ही केन्द्रित होंगी, जिसका परिणाम यह होगा कि गवर्नर-जनरल को अपने मंत्रियों से सहमत होने में तो कठिनाई पड़ेगी ही, स्वयं अपने से भी सहमत हो पाना उनके लिए सदा संभव नहीं हो सकेगा।" यहां हमें यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि अपने देश के संघ-शासन की योजना हमें १९३५ के एक्ट के अनुसार नहीं बनाना है। उससे बिल्कुल स्वतन्त्र, और बहुत अंशों में विपरीत, सिद्धांतों पर ही हम एक सफल भारतीय संघ-शासन का निर्माण कर सकते हैं।

संघ-शासन की स्थापना के पक्ष में ये तीन बातें उपस्थित की जा सकती हैं—

(१) हिंदुस्तान की विभिन्न समस्याओं का एक मात्र निदान हम संघ-शासन में ही पा सकते हैं।

(२) वैधानिक स्थिति कुछ भी हो, देशी राज्यों की राजनीति पर ब्रिटिश भारत की राजनैतिक विचार-धाराओं का प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है।

(३) संघ-शासन की हमारी प्रारम्भिक योजना यदि दोषपूर्ण भी हुई तो वैधानिक अदालतों द्वारा समय-समय पर दिए जाने वाले निर्णयों से उसके सुधरते जाने की आशा है।

भारतीय परिस्थितियों में संघ-शासन ही एकमात्र रास्ता है, यह बात तो हमारे इतिहास की समस्त सांस्कृतिक आधार-भूमि—केन्द्रीकरण और अकेन्द्रीकरण के एक अनोखे संतुलन—से ही स्पष्ट होजाती है। सर मॉरिस ग्वायर के शब्दों में, संघ-शासन "एक ऐसा आयोजन है जो एक बड़े पैराए पर संसार के दूसरे भागों में एकता व विविधता के बीच सामंजस्य स्थापित करने, और स्थानीय निष्ठा के दावे को एक ऐसे प्रजातन्त्रात्मक केन्द्रीय शासन की आवश्यकता से, जिसमें विभाजन और अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों को रोक रखने की शक्ति हो, संबद्ध करने में सबसे अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध हुआ है।" जो प्रयोग 'एक बड़े पैराए पर, संसार के दूसरे भागों में सफल हुआ है, वह हमारी वैसी ही परिस्थितियों का सामना नहीं कर सकेगा, यह मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। देशी राज्यों का संघ-शासन में ले आना भी, एक लंबे अर्से में उपयोगी ही सिद्ध होगा। ब्रिटिश-भारत और देशी राज्यों के बीच आज जो राजनैतिक दीवारें हैं वे कृत्रिम हैं। उनकी समकक्ष वैचारिक और सांस्कृतिक दीवारें कहीं हैं ही नहीं। संघ-शासन में देशी राज्यों का शामिल होना आरंभ में कुछ कठिनाइयां तो उपस्थित करेगा ही, पर उससे देशी राज्योंकी राजनैतिक जागृति अधिक गतिशील बनेगी, और हमारे सामूहिक राजनैतिक विकास में एक बोझा बनने के स्थान पर देशी राज्य उसमें सहायक बन सकेंगे। सर तेज बहादुर सप्रू के शब्दों में, "संघ-शासन की केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में एक सामान्य कार्य-क्षेत्र में ब्रिटिश-भारत और देशी राज्यों के मिल-जुल कर काम करने का एक स्पष्ट परिणाम तो यह होगा कि देशी राज्यों के आज के स्वेच्छाचारी शासन से एक ऐसे वैधानिक शासन में, जिसमें जनता के अधिकारों की परिभाषा व गणना की गई हो, और उन्हें पूरा संरक्षण मिला हो, परिवर्त्तित होने का मार्ग सरल हो जायगा।" संघ-शासन के पक्ष में यह भी एक प्रबल दलील है। अंत में, यह भी एक निर्विवाद तथ्य तो है ही कि संघ-शासन एक जीवित शासन-तंत्र है। हम संयुक्त-राज्य

अमरीका का आदर्श लें, अथवा कनाडा और आस्ट्रेलिया के संघ-शासनों का उदाहरण, यह स्पष्ट है कि प्रत्येक देश में संघ-शासन की अपनी एक प्रवृत्ति होती है, उसके विकास का एक निश्चित मार्ग अपने-आप बन जाता है, और समय और परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार उसकी सत्ता के विभाजन की ऊपर से दीखने वाली कठोर वाह्य-रेखाओं में धीरे-धीरे परिवर्त्तन होता रहता है।

इस संबंध में दो और बातें स्पष्ट कर देना आवश्यक हैं। एक तो यह कि अन्य शासन-तन्त्रों की तुलना में संघ-शासन के कुछ कम शक्तिशाली होने की धारणा वर्त्तमान महायुद्ध में निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। यह कल्पना कि सार्वभौम सत्ता के दो भागों में बंट जाने से शासन में किसी प्रकार की निर्बलता आ जाएगी एक भ्रामक कल्पना है। इस युद्ध में जिन दो राष्ट्रों को सबसे अधिक सफलता मिली, वे हैं अमरीका और रूस, और इन दोनों के शासन-सूत्रों का संगठन संघ-शासन के सिद्धान्त के अनुसार हुआ है। इसका कारण यह है कि संघ-शासन की कार्य-पद्धति साधारण रूप से एक प्रकार की होती है, परन्तु युद्ध के दिनों में उसका रूप बिल्कुल बदल जाता है। साधारणतः केन्द्रीय शासन का कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित रहता है, पर विशेष परिस्थितियों में, बड़े आर्थिक संकट अथवा युद्ध के अवसर पर, वह राष्ट्रीय जीवन के सभी आवश्यक अंगों को अपनी परिधि में ले आता है। संघ-शासन की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि वह अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों और राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न के बीच एक सामंजस्य की स्थापना करता है। उसे राष्ट्रीय शक्ति को क्षीण बनाने का कारण मानना ऐतिहासिक सत्य के विरुद्ध जाना है। इसी प्रकार की एक दूसरी भ्रामक कल्पना, जो साधारणतः प्रचलित है, यह है कि संघ-शासन हमारी ऐतिहासिक परम्पराओं के विरुद्ध जाता है। सच तो यह है कि हमारा विगत इतिहास और वर्त्तमान राजनैतिक परिस्थितियां दोनों ही संघ-शासन की आवश्यकता को पुष्ट करते हैं।

हिन्दुस्तान में संघ-शासन की सभी आवश्यक शर्त्तें मौजूद हैं। उसके सभी प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से संबद्ध हैं। उन सबकी सामान्य ऐतिहासिक परम्पराएं हैं, और सांस्कृतिक कृतियों का एक लम्बा सामान्य इतिहास है। उनकी आर्थिक आवश्यकताएं सामान्य हैं। आध्यात्मिक और राष्ट्रीय एकता की सामान्य आकांक्षा है। इसके साथ ही अपना व्यक्तित्व और अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने की बेचैनी भी है। मुस्लिम-बहुसंख्यक प्रांतों ने इस बेचैनी ने बड़ा उग्र रूप ले लिया है, पर अन्य प्रांतों में भी वह मौजूद है ही। आज की

संघ-शासन की स्थापना के पक्ष में ये तीन बातें उपस्थित की जा सकती हैं—

(१) हिंदुस्तान की विभिन्न समस्याओं का एक मात्र निदान हम संघ-शासन में ही पा सकते हैं।

(२) वैधानिक स्थिति कुछ भी हो, देशी राज्यों की राजनीति पर ब्रिटिश भारत की राजनैतिक विचार-धाराओं का प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है।

(३) संघ-शासन की हमारी प्रारम्भिक योजना यदि दोषपूर्ण भी हुई तो वैधानिक अदालतों द्वारा समय-समय पर दिए जाने वाले निर्णयों से उसके सुधरते जाने की आशा है।

भारतीय परिस्थितियों में संघ-शासन ही एकमात्र रास्ता है, यह बात तो हमारे इतिहास की समस्त सांस्कृतिक आधार-भूमि—केन्द्रीकरण और अकेन्द्रीकरण के एक अनोखे संतुलन—से ही स्पष्ट होजाती है। सर मॉरिस ग्वायर के शब्दों में, संघ-शासन "एक ऐसा आयोजन है जो एक बड़े पैराए पर संसार के दूसरे भागों में एकता व विविधता के बीच सामंजस्य स्थापित करने, और स्थानीय निष्ठा के दावे को एक ऐसे प्रजातन्त्रात्मक केन्द्रीय शासन की आवश्यकता से, जिसमें विभाजन और अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों को रोक रखने की शक्ति हो, संबद्ध करने में सबसे अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध हुआ है।" जो प्रयोग 'एक बड़े पैराए पर, संसार के दूसरे भागों में सफल हुआ है, वह हमारी वैसी ही परिस्थितियों का सामना नहीं कर सकेगा, यह मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। देशी राज्यों का संघ-शासन में ले आना भी, एक लंबे अर्से में उपयोगी ही सिद्ध होगा। ब्रिटिश-भारत और देशी राज्यों के बीच आज जो राजनैतिक दीवारें हैं वे कृत्रिम हैं। उनकी समकक्ष वैचारिक और सांस्कृतिक दीवारें कहीं हैं ही नहीं। संघ-शासन में देशी राज्यों का शामिल होना आरंभ में कुछ कठिनाइयां तो उपस्थित करेगा ही, पर उससे देशी राज्योंकी राजनैतिक जागृति अधिक गतिशील बनेगी, और हमारे सामूहिक राजनैतिक विकास में एक बोझा बनने के स्थान पर देशी राज्य उसमें सहायक बन सकेंगे। सर तेज बहादुर सप्रू के शब्दों में, "संघ-शासन की केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में एक सामान्य कार्य-क्षेत्र में ब्रिटिश-भारत और देशी राज्यों के मिल-जुल कर काम करने का एक स्पष्ट परिणाम तो यह होगा कि देशी राज्यों के आज के स्वेच्छाचारी शासन से एक ऐसे वैधानिक शासन में, जिसमें जनता के अधिकारों की परिभाषा व गणना की गई हो, और उन्हें पूरा संरक्षण मिला हो, परिवर्तित होने का मार्ग सरल हो जायगा।" संघ-शासन के पक्ष में यह भी एक प्रबल दलील है। अंत में, यह भी एक निर्विवाद तथ्य तो है ही कि संघ-शासन एक जीवित शासन-तंत्र है। हम संयुक्त-राज्य

अमरीका का आदर्श लें, अथवा कनाडा और आस्ट्रेलिया के संघ-शासनों का उदाहरण, यह स्पष्ट है कि प्रत्येक देश में संघ-शासन की अपनी एक प्रवृत्ति होती है, उसके विकास का एक निश्चित मार्ग अपने-आप बन जाता है, और समय और परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार उसकी सत्ता के विभाजन की ऊपर से दीखने वाली कठोर वाह्य-रेखाओं में धीरे-धीरे परिवर्त्तन होता रहता है।

इस संबंध में दो और बातें स्पष्ट कर देना आवश्यक हैं। एक तो यह कि अन्य शासन-तन्त्रों की तुलना में संघ-शासन के कुछ कम शक्तिशाली होने की धारणा वर्त्तमान महायुद्ध में निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। यह कल्पना कि सार्वभौम सत्ता के दो भागों में बंट जाने से शासन में किसी प्रकार की निर्बलता आ जाएगी एक भ्रामक कल्पना है। इस युद्ध में जिन दो राष्ट्रों को सबसे अधिक सफलता मिली, वे हैं अमरीका और रूस, और इन दोनों के शासन-सूत्रों का संगठन संघ-शासन के सिद्धान्त के अनुसार हुआ है। इसका कारण यह है कि संघ-शासन की कार्य-पद्धति साधारण रूप से एक प्रकार की होती है, परन्तु युद्ध के दिनों में उसका रूप बिल्कुल बदल जाता है। साधारणतः केन्द्रीय शासन का कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित रहता है, पर विशेष परिस्थितियों में, बड़े आर्थिक संकट अथवा युद्ध के अवसर पर, वह राष्ट्रीय जीवन के सभी आवश्यक अंगों को अपनी परिधि में ले आता है। संघ-शासन की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि वह अकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों और राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न के बीच एक सामंजस्य की स्थापना करता है। उसे राष्ट्रीय शक्ति को क्षीण बनाने का कारण मानना ऐतिहासिक सत्य के विरुद्ध जाना है। इसी प्रकार की एक दूसरी भ्रामक कल्पना, जो साधारणतः प्रचलित है, यह है कि संघ-शासन हमारी ऐतिहासिक परम्पराओं के विरुद्ध जाता है। सच तो यह है कि हमारा विगत इतिहास और वर्त्तमान राजनैतिक परिस्थितियां दोनों ही संघ-शासन की आवश्यकता को पुष्ट करते हैं।

हिन्दुस्तान में संघ-शासन की सभी आवश्यक शर्त्तें मौजूद हैं। उसके सभी प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से संबद्ध हैं। उन सबकी सामान्य ऐतिहासिक परम्पराएं हैं, और सांस्कृतिक कृतियों का एक लम्बा सामान्य इतिहास है। उनकी आर्थिक आवश्यकताएं सामान्य हैं। आध्यात्मिक और राष्ट्रीय एकता की सामान्य आकांक्षा है। इसके साथ ही अपना व्यक्तित्व और अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने की बेचैनी भी है। मुस्लिम-बहुसंख्यक प्रांतों में इस बेचैनी ने बड़ा उग्र रूप ले लिया है, पर अन्य प्रांतों में भी वह मौजूद है ही। आज की

इन परिस्थितियों में संघ-शासन हमारे लिए अनिवार्य बन गया है। पर उसमें कोई ऐसी बात नहीं है जो हमारी ऐतिहासिक परम्पराओं के विरुद्ध जाती हो। संघ-शासन की वर्त्तमान कल्पना तो संसार की राजनीति में ही एक नवीन प्रयोग है, पर कुछ शिथिल प्रकार के संघ समय-समय पर हमारे देश में बनते रहे हैं, बल्कि यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि हमारे बहुत से साम्राज्यों में भी बहुत अंशों तक साम्राज्यत्व कम और राज्य-संघ की भावना अधिक थी। प्रत्येक साम्राज्य के अन्तर्गत प्रायः बहुत से स्वतन्त्र राज्य रहते थे, और आन्तरिक शासन में इन राज्यों को प्रायः संपूर्ण स्वतन्त्रता मिली होती थी। यह कथन मौर्य अथवा गुप्त साम्राज्यों के लिए भी उतना ही सच है जितना मुग़ल-साम्राज्य के लिए। मुग़ल-साम्राज्य के बाद मराठा-शक्ति का संगठन जिन सिद्धान्तों पर हुआ उनमें और संघ-शासन के आधार-भूत सिद्धान्तों में बहुत ही अधिक सादृश्य है। पूना की केन्द्रीय सरकार और होल्कर, सिंधिया, भोंसले और गायकवाड़ की प्रान्तीय सरकारों के आपसी सम्बन्ध बहुत कुछ इसी आधार पर बने थे : उन्हें संघबद्ध रखने के पीछे मराठा-पद-पादशाही की भावना वैसी ही प्रबल थी, जैसी आज के संघ-शासन में राष्ट्रीयता की भावना होगी।

अन्य संघ-शासन : स्विज़रलैण्ड और रूस

संघ-शासन के आधार पर प्रस्थापित भारतीय प्रजातन्त्र का मान-चित्र खींचने के पहिले हम यह देखने का प्रयत्न करें कि संसार के अन्य देशों ने इस समस्या को कैसे सुलझाया है। इस अध्ययन में मैं संसार के केवल दो देशों का उदाहरण पाठक के सामने रखना चाहूँगा, जिनमें भारतीय परिस्थितियों से बहुत अधिक समानता है। वे हैं—स्विज़रलैण्ड और सोवियट रूस। स्विज़रलैण्ड में कुछ ऐसी परिस्थितियां हैं जो जातिगत और सांस्कृतिक एकता के राष्ट्रीय सिद्धान्तों के बिल्कुल विरुद्ध जाती हैं। देश की थोड़ी-सी आबादी तीन विभिन्न भाषा-भाषियों में बंटी है; इसके अतिरिक्त, कई प्रदेशों में स्थानीय बोलियों का व्यवहार भी प्रचलित है। इन विभिन्न भाषा-भाषियों की संस्कृतियाँ भी एक दूसरी से जुदा हैं, और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर बात यह है कि भौगोलिक स्थिति भी भाषा और संस्कृति की इस विभिन्नता को पुष्ट करती है। स्विज़रलैण्ड के विभिन्न कैन्टन स्पष्टतः विभिन्न भौगोलिक प्रदेशों में बंटे हुए हैं : टिसिनो बिल्कुल ही इटालियन-भाषा-भाषी प्रदेश है; जिनीवा, वॉड, न्यूशैटल, वैले, शुद्ध फ्रांसीसी हैं; अन्य कई प्रदेश संपूर्णतः जर्मन हैं। इन प्रदेशों के निवासियों के लगभग उतने ही निकट सांस्कृतिक सम्पर्क इटली, फ्रांस और जर्मनी की जनता से हैं, जितने आपस में। इनमें तीव्र धार्मिक मतभेद भी

हैं ही। कुछ प्रदेश प्रधानतः प्रोटेस्टैण्ट हैं, अन्य प्रधानतः रोमन कैथोलिक। स्विज़रलैण्ड के इतिहास में धार्मिक संघर्षों की भी कमी नहीं रही, और धार्मिक भेद भाव की प्रतिक्रिया आज भी वहां के राजनैतिक दलों के संगठन पर बिल्कुल ही स्पष्ट है। पर, इन विविधताओं और मतभेदों के बावजूद भी, स्विज़रलैण्ड की जनता राष्ट्रीय एकता और देश भक्ति की ऐसी ज्वलंत भावना का विकास कर सकी है जिसकी समानता संसार के अन्य किसी देश में नहीं है।

लार्ड ब्राइस के कथनानुसार, "आधुनिक प्रजातन्त्रों में जो थोड़े से सच्चे प्रजातन्त्र हैं, उनमें स्विज़रलैण्ड का स्थान सर्व प्रथम है। उसमें किसी भी अन्य देश की तुलना में प्रजातन्त्रात्मक सिद्धांतों पर स्थापित संस्थाओं की विविधता कहीं अधिक है।......सबसे बड़ा सबक़ जो स्विज़रलैण्ड हमें सिखाता है, वह यह है कि किस प्रकार ऐतिहासिक परम्पराएं और राजनैतिक संस्थाएं मिल कर साधारण व्यक्ति में, एक अभूतपूर्व रूप से, उन सब गुणों की सृष्टि कर देती हैं जो उसे एक अच्छा नागरिक बना देने के लिए आवश्यक हैं—कुशाग्र बुद्धि, संयम, समझदारी और समाज के प्रति कर्त्तव्य की भावना। स्विज़रलैण्ड को इसमें सफलता मिली है, इसी कारण वहां प्रजातन्त्र संसार के अन्य किसी भी देश की तुलना में कहीं अधिक प्रजातन्त्रात्मक है।"[1] आर्नोल्ड ज़ूर्कर ने इसी सम्बन्ध में लिखा है—"धार्मिक और भाषा-सम्बन्धी विभिन्नताओं, और आन्तरिक मतभेदों के बावजूद भी, प्रत्येक युग में स्विज़रलैण्ड की क़ानूनी और नैतिक एकता अधिक सशक्त बनी है। आज यूरोप में कोई राष्ट्र ऐसा नहीं है, जिसमें राष्ट्रीय एकता और देशभक्ति की भावना उतनी गहरी हो जितनी स्विज़र-लैण्ड में। एक ऐसी दुनियां में, जो जाति और भाषा के आधार पर राजनैतिक 'आत्मनिर्णय' के अधिकार को बार-बार दोहराए जाने से थक गई हो, स्विज़रलैण्ड इस बात का एक शानदार उदाहरण हमारे सामने रखता है कि इस सिद्धान्त के खुले विरोध में किस प्रकार राज्य की भावना और राष्ट्रीय देशभक्ति एक साथ प्रश्रय पा सकते हैं।"[2]

यह सब कैसे संभव हुआ? इसका एक ही उत्तर हो सकता है, और वह है संघ-शासन। स्विज़रलैण्ड में सार्वभौम सत्ता के बंटवारे पर एक सरसरी सी दृष्टि डाल लें। शासन की मूलभूत सत्ता केन्द्रीय सरकार के हाथों में है। उसके नियंत्रण में जो प्रमुख विभाग हैं, वे हैं विदेशी नीति और शान्ति और युद्ध के प्रश्नों संबंधी, इसके अतिरिक्त, जो ऐसे आर्थिक और व्यापार संबंधी प्रश्न हैं।

१—ब्राइस: Modern Democracies, भाग १, पृ० ३१७।

२—Governments of Continental Europe, पृ० ६८२।

जिनका संबंध सारे देश से है, जैसे मुद्रा, आने-जाने के साधन, व्यापार, वज़न और तौल, प्राकृतिक साधनों का संरक्षण आदि, वे भी केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में ही हैं। यह भी सच है कि केन्द्रीय सरकार का अधिकार-क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। उसने टेलीफ़ोन और वायरलैस के साधनों, और रेल के शासन, को अपने अन्तर्गत ले लिया है। उसने अपनी आय को बढ़ाने के उद्देश्य से कई नए टैक्सों की स्थापना कर ली है। पर इसके साथ ही विभिन्न प्रदेश (Cantons) अपनी सार्वभौमता भी संपूर्ण रूप सें सुरक्षित रख सके हैं। शासन के कुछ आवश्यक तत्त्व, जैसे शांति और सुव्यवस्था की रक्षा, सार्वजनिक इमारतों और सड़कों आदि का निर्माण-कार्य, चुनाव और स्थानीय शासन का प्रबंध आदि, आज भी संपूर्णतः प्रादेशिक सरकारों के आधीन ही हैं। केन्द्रीय सरकार के कार्य-क्षेत्र में भी विभिन्न प्रदेशों का प्रमुख हाथ रहता है। उदाहरण के लिए, क़ानूनों का निर्माण यद्यपि केन्द्रीय-शासन के द्वारा होता है, पर उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने का दायित्व प्रदेशों को है। इसी प्रकार केन्द्रीय शासन के सेना-संबंधी नियम-अनुशासन आदि का पालन भी प्रादेशिक शासन द्वारा ही किया जाता है, और वही केन्द्रीय सेना के लिए रंगरूट भरती करने और उन्हें सैन्य-शिक्षा देने का प्रबंध करते हैं। विधान के संशोधन में भी प्रदेशों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। केन्द्रीय शासन की शक्ति और संबद्ध इकाइयों की स्वतन्त्रता के बीच इस संपूर्ण सामंजस्य के कारण ही स्विज़रलैण्ड को आज संसार के देशों में इतना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

यहां यह कहा जा सकता है कि स्विज़रलैण्ड तो एक छोटा-सा देश है, और उसका उदाहरण हिंदुस्तान जैसे महाद्वीप के सामने रखना ठीक नहीं है। इसलिए हम सोवियट रूस का उदाहरण ले सकते हैं। अल्पसंख्यक वर्गों की समस्या और विभिन्न प्रदेशों द्वारा स्वतंत्रता की इच्छा हिंदुस्तान की अपेक्षा रूस में संभवतः कहीं अधिक जटिल और तीव्र है। रूस में लगभग १८५ विभिन्न राष्ट्रीयताएं हैं, जो १४७ विभिन्न भाषाओं और बोलियों का प्रयोग करती हैं, परन्तु वहां भी ये सब राष्ट्र और राष्ट्रीयताएं, जाति और धर्म, समाज और संप्रदाय संघ-शासन द्वारा एक सूत्र में बांध दिए गये हैं। वर्त्तमान महायुद्ध में रूस का जो शानदार भाग रहा है, उससे यह धारणा तो सदा के लिए ख़त्म हो जानी चाहिए कि संघ-शासन किसी प्रकार की राष्ट्रीय शक्ति के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। रूस में प्रत्येक इकाई का अपना एक शासन-विधान है, अपनी धारा-सभाएं और अपनी कार्यकारिणी-समितियां हैं, अपनी अदालतें और अपना कोष है। उनकी सीमाएं बिना उनकी स्वीकृति के नहीं बदली जा सकतीं। संघ-

प्रबल है, कि उन्हें प्रत्येक संघ-शासन में शामिल होने वाली इकाइयों के नैसर्गिक अधिकारों से वंचित नहीं रखा जा सकता।

इस संबंध में संघ-शासन की मूल प्रवृत्ति को एक बार फिर स्पष्ट कर देना आवश्यक है। बात साफ़ और सीधी होनी चाहिए। दुनियां के सभी देशों में संघ-शासन की प्रवृत्ति केन्द्रीय शासन के अधिकारों को बढ़ाने की ओर है। यदि हिंदुस्तान में संघ-शासन की स्थापना हुई तो यहां भी इस प्रवृत्ति को अनिवार्यतः प्रोत्साहन मिलेगा। इससे हमें झिझकना नहीं चाहिए। संघ-शासन (Federal) और केन्द्रीभूत (Unitary) सरकार में अंतर यह है कि संघ-शासन अकेन्द्रीकरण की स्वस्थ प्रवृत्तियों को निरुत्साहित न करते हुए, उन्हें आवश्यकतानुसार बढ़ावा देकर भी, उन सब तत्त्वों का संरक्षण कर लेता है जो एक सशक्त केन्द्रीय-सरकार को बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। केन्द्रीभूत सरकार अकेन्द्रीकरण की, स्वस्थ अथवा अस्वस्थ, सभी प्रवृत्तियों को कुचलती हुई आगे बढ़ती रहना चाहती है, चाहे उसमें यह ख़तरा ही क्यों न हो कि किसी दिन अकेन्द्रीकरण के ये कुचले जाने वाले तत्त्व उसके विरुद्ध बग़ावत कर दें और उसकी स्थिति को ही जड़-मूल से समाप्त कर दें। संघ-शासन एक व्यवहार-कुशल शासन-तंत्र है, वह विशृंखलशील तत्त्वों को जान-बूझ कर अपना शत्रु बनाने में विश्वास नहीं रखता, पर उसमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के संरक्षण पर भी पूरा ज़ोर रहता है। संघ-शासन की इस मूल-प्रवृत्ति से उसके विरोधी भली-भांति परिचित हैं, और इसी कारण एक ओर तो पाकिस्तान के समर्थक उसकी भर्त्सना करते हैं, और दूसरी ओर देश को खण्ड-खण्ड कर देने की अगणित योजनाओं के कट्टरपंथी अंग्रेज़ विधायक उससे बच निकलना चाहते हैं। इन दोनों दलों का मुख्य आक्रमण हमारे देश में एक सशक्त केन्द्र की स्थापना पर है। पर, प्रतिक्रियावादी शक्तियों के लिए जो हेय और अवांछित है, वही तो आज हमारा प्रिय और अभीप्सित है। हमें केवल शब्दों की मरीचिका में भटकना तो है नहीं, हमें तो अपने देश के लिए एक महान् भविष्य का निर्माण करना है। उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अग्रगण्य और अर्थनीति में स्वयमावलम्बी और एक महान् देश का रूप देना है, उसके लिए शाब्दिक आडम्बर से ऊपर उठना होगा। राष्ट्रीय अथवा सांस्कृतिक आत्म-निर्णय अथवा सार्वभौमता के आकर्षक और भ्रामक सिद्धांतों को चुपचाप मान नहीं लेना होगा, उनका बौद्धिक विश्लेषण करना होगा, और उन्हें एक ओर तो समस्त देश की आवश्यकताओं और दूसरी ओर उसकी आधारभूत इकाइयों के हिताहित से संश्लिष्ठ करना होगा। इस कारण मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि भारतीय संघ-शासन आज की भारतीय राजनीति के

प्रतिक्रियावादी पक्ष की भाव-प्रवण उद्घोषणाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगा।

जहां तक संघ-शासन (Federation) और राज्य-संघ (Confederation) में चुनाव का प्रश्न है, हमारा निश्चित मत संघ-शासन को ही मिलना चाहिए। राज्य-संघ, जहां प्रत्येक सदस्य समष्टि से अधिक अपनी सार्वभौमता के लिए चिन्तित रहता है, आज के युग और उसकी जटिल आवश्यकताओं में एक असंबद्ध-सी कल्पना है। कूपलैण्ड आदि भी अपनी योजनाओं को उससे कुछ ऊंचे स्तर पर ही रखते हैं, यद्यपि उनके वास्तविक रूप को समझ लेने पर उनका खोखलापन स्पष्ट होजाता है। पाकिस्तान एक देश में, जिसे भौगोलिक स्थिति, आर्थिक साधनों, रक्षा संबंधी आवश्यकताओं और सांस्कृतिक परम्पराओं ने एक राजनैतिक इकाई बनाया है, दो संघों की स्थापना कर देना चाहता है। ये दोनों ही मार्ग देश के बल को कम करने की दिशा में जाते हैं। संघ-शासन ही एक ऐसा प्रयोग है, जो देश की शक्ति को कम नहीं करता। कई देशों के इतिहास से हमें पता लगता है कि केवल वही राज्य-संघ अपने को क़ायम रख सके हैं, जिनका विकास, बाहरी दबाव अथवा आन्तरिक आवश्यकताओं के कारण, संघ-शासन की दिशा में हो सका है। अन्य सभी राज्य-संघ बहुत शीघ्र टूटकर अलग-अलग इकाइयों में बंट गए हैं। अमरीका का संयुक्त राज्य, कनाडा, आस्ट्रेलिया, स्विज़रलैण्ड, सोवियट रूस, सभी का विकास इसी पद्धति से हुआ है, और इन सब में केन्द्रीय-शासन की शक्ति लगातार बढ़ती गई है।

सत्ता का बंटवारा : रक्षा और विदेशी नीति

सत्ता के बंटवारे के संबंध में, मैं समझता हूँ, इस सिद्धान्त पर चलना ठीक होगा कि उन अधिकारों को छोड़कर जिन्हें केन्द्रीय सरकार के हाथ में रखना अत्यन्त आवश्यक होगा, शेष सब अधिकार प्रांतीय सरकारों के हाथ में रहेंगे। इस संबंध में सप्रू कमैटी के इस सुझाव को मान लेना चाहिए कि केन्द्रीय अधिकारों की संख्या कम-से-कम हो, और ये अधिकार मुख्यतः ऐसे हों जो विदेशों से हमारा संबंध स्थापित करते हों। मैं तो समझता हूँ कि सप्रू-कमैटी ने केन्द्रीय सरकार के जो अधिकार प्रस्तावित किये हैं, उनमें भी कमी की जा सकती है। परन्तु, वे 'कम-से-कम' अधिकार क्या हों, और किस आधार पर उनका चुनाव किया जाय? इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि हिंदुस्तान की मूल एकता के संरक्षण की भावना में हमें वह आधार मिल सकता है। कुछ भी हो पर देश की यह मौलिक एकता विश्रृंखल न होने पावे, यह संघ-शासन का ध्येय होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से हिंदुस्तान के लिए इस एकता को क़ायम रखना ज़रूरी है ही। इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक

शासन से अपना संबंध-विच्छेद कर लेने का भी उन्हें अधिकार है। इन राज-नैतिक इकाइयों का संगठन विभिन्न स्तरों पर किया गया है, कुछ बड़े-बड़े प्रजातन्त्र (Constituent Republics) हैं, कुछ उनसे छोटे (Autonomous Republics), कुछ, हमारे प्रांतों के समकक्ष (Autonomous Provinces) और कुछ राष्ट्रीय ज़िले (National Districts) भी हैं, जो अपने आंतरिक शासन में बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। परंतु इसके साथ ही केन्द्रीय-शासन को वे सब अधिकार प्राप्त हैं जो देश की शक्ति को बढ़ाने के लिए आवश्यक हैं। विदेशी नीति, युद्ध और संधि, फ़ौज और जहाज़ी बेड़ा, विदेशी व्यापार, आवागमन के साधन, डाक और तार, मुद्रा, बैंक, न्याय, नागरिकता आदि विभाग केन्द्रीय-शासन के नियंत्रण में हैं, और उसे यह शक्ति भी प्राप्त है कि वह आवश्यकता पड़ने पर ऐसे क़ानून बना सके जिनके द्वारा ज़मीन का उपयोग, प्राकृतिक साधनों का विकास, मज़दूरों की समस्या, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि पर भी उसका मौलिक अधिकार स्थापित किया जा सके। आर्थिक पुनर्निर्माण की राष्ट्रीय योजनाओं को प्रस्तावित और कार्यान्वित करने का समस्त दायित्त्व उस पर है ही। स्थानीय स्वतन्त्रता के साथ एक सशक्त केन्द्रीय सरकार के समन्वय के द्वारा ही, जो संघ-शासन का मूल-मंत्र है, सोवियट रूस आज के विश्व में अपनी वर्त्तमान स्थिति को प्राप्त कर सका है।

(आ) प्रस्तावित संघ-शासन : आधारभूत सिद्धान्त

केवल यह निश्चय कर लेना ही कि वर्त्तमान भारतीय परिस्थितियों में संघ-शासन ही सबसे उपयुक्त सिद्ध हो सकता है काफ़ी नहीं है; हमें उसके आधार-भूत सिद्धान्तों का भी निर्णय करना होगा, और उसकी रूप-रेखा के संबंध में भी कुछ निश्चित विचार बनाने होंगे, संघ-शासन की एक विशेषता यह है कि उसमें केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के बीच सत्ता का बड़ा स्पष्ट बंटवारा रहता है। परन्तु, इस बंटवारे की स्पष्टता के बावजूद भी बहुत से ऐसे अधिकार होते हैं जिनके प्रयोग के सम्बन्ध में मतभेद की गुंजाइश रह जाती है। इन अव्यक्त, बचे-खुचे अधिकारों (residuary power) का प्रयोग कहीं तो केन्द्रीय सरकार को सौंप दिया जाता है, और कहीं प्रांतीय सरकार को। संघ-शासन की प्रमुख प्रवृत्ति का झुकाव दूसरी ओर है। प्रायः प्रत्येक अच्छे संघ-शासन में इस प्रकार के अधिकार प्रांतीय सरकार के हाथ में ही रहते हैं। संयुक्त-राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया, स्विज़रलैण्ड आदि सभी देशों के शासन-विधान उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। हमारे देश में इस प्रकार की व्यवस्था के विरुद्ध प्रायः यह बात कही जाती है कि उन देशों और हममें एक बड़ा अन्तर यह है कि जब

कि उनमें से अधिकांश में कई छोटे-छोटे राज्यों ने अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को खोकर संघ-शासन का निर्माण किया, हमारे यहां इन इकाइयों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनने के बहुत पहिले अखिल देश का एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व मौजूद था। ऐसी परिस्थितियों में यह सिफ़ारिश की जाती है कि हमारे देश के प्रस्तावित शासन-विधान में विभाजन के बाद बच रहने वाली यह अव्यक्त सत्ता (residuary power) केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही सौंपी जानी चाहिए।

कनाडा में ऐसा है भी, पर, जहां तक कनाडा का प्रश्न है, हमें दो बातों पर ध्यान रखना है। एक तो यह कि इस सम्बन्ध में कनाडा अपवाद है, वह संघ-शासन के सामान्य अनुशासन में नहीं आता। दूसरे, कनाडा की स्थिति ऊपर से देखने में अन्य देशों से भिन्न होते हुए भी मूल-रूप में उनसे भिन्न नहीं है। जब कि अमरीका के संयुक्त राज्य व अन्य देशों में यह अवशिष्ट सत्ता प्रांतों को दी गई है, पर अदालतों ने अपने वैधानिक निर्णयों से केन्द्रीय सरकार को अधिक-से-अधिक सशक्त बना दिया है, कनाडा में इस सत्ता के केन्द्र के पास रहते हुए भी अदालती निर्णयों की प्रवृत्ति प्रांतों को सशक्त बनाने की है। इस प्रकार कनाडा और अन्य देशों की वस्तु-स्थिति में विशेष अन्तर नहीं है। इस सम्बन्ध में हम १८०० से १८३५ ई० तक अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के चीफ़ जस्टिस मार्शल के "निहित शक्तियों के सिद्धान्त" (the doctrine of implied powers) को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय कर सकते हैं कि यह अवशिष्ट सत्ता उन अधिकारों के संबंध में, जो केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत आते हों, केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहे, व इसी प्रकार उन अधिकारों के सम्बन्ध में, जो प्रांतीय शासन में निहित हों, उसका प्रयोग प्रांतीय सरकारों के द्वारा किया जाय। इस सिद्धान्त को मान लेने पर अवशिष्ट सत्ता का क्षेत्र कुछ संकुचित तो अवश्य हो जायगा, पर फिर भी बहुत से ऐसे अव्यक्त अधिकार रह जायंगे, जिनके संबंध में यह निश्चय करना ज़रूरी होगा कि उनका प्रयोग किसे सौंपा जाय। मैं समझता हूँ कि उन्हें, बिना किसी हिचकिचाहट के, प्रांतीय सरकारों के हाथ में सौंप देना चाहिए। जबकि विदेशी नीति और राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी सभी अधिकार केन्द्रीय सरकार के पास होंगे, और 'निहित शक्तियों के सिद्धांत' को क्रियात्मक रूप देने का दायित्व भी केन्द्रीय वैधानिक अदालत को ही होगा, तब इसके संबंध में हमें विशेष चिंतातुर होने की आवश्यकता नहीं है। हमारे देश के प्रांत स्वयं ही इतनी बड़ी राजनैतिक इकाइयां हैं, और उनमें से अधिकांश का अपना सांस्कृतिक व्यक्तित्व अपने पीछे इतनी बड़ी ऐतिहासिक परम्पराओं को लिये हुए है, और उनमें से कुछ की 'आत्मनिर्णय' की मांग आज भी इतनी

प्रजातन्त्रात्मक प्रदेशों के सीमा-निर्धारण अथवा उनके अन्तर्गत नये स्वशासित प्रदेशों की सृष्टि भी केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर ही निर्भर है; इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय रक्षा और आन्तरिक शान्ति का संरक्षण भी उसी के सिपुर्द है।

परन्तु यदि हम इस प्रश्न की गहराई में जायं तो हम यह स्पष्ट देख सकेंगे कि रक्षा और विदेशी नीति के विभागों में केन्द्रीकरण के होते हुए भी, प्रान्तीय सरकार के हस्तक्षेप की काफ़ी गुञ्जाइश रह जाती है। इस सम्बन्ध में वैधानिक धाराओं को उद्धृत करना तो सम्भव नहीं होगा, क्योंकि संघ-शासन में प्रायः प्रान्तीय सरकार के अधिकारों की व्याख्या नहीं की जाती; उसमें तो यह मान लिया जाता है कि जो अधिकार स्पष्टतः केन्द्रीय सरकार को नहीं सौंप दिये गए हैं, उनके उपयोग का समस्त अधिकार प्रांतीय सरकार को ही रहेगा। अमरीका के संयुक्त-राज्य में विभिन्न 'राज्यों' को किसी अन्य देश से सन्धि अथवा समझौता करने का अधिकार नहीं है, और न शांति के अवसर पर फ़ौजी या जहाज़ी बेड़ा रखने की इजाज़त ही है, परन्तु, रक्षा-विभाग के लिए उन्हें रुपया देना होता है, और इसलिए उसके शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार उन्हें मिल जाता है, फिर भी, अमरीका में केन्द्रीकरण की मात्रा अन्य संघों की तुलना में अधिक है। स्विज़रलैण्ड में सेना-विभाग का शासन व उसके लिए क़ानून बनाने का अधिकार केन्द्रीय शासन को है, पर उन अधिकारों का उपयोग प्रधानतः प्रादेशिक सरकारों के द्वारा ही किया जाता है। विदेशी नीति का नियन्त्रण संघ की सरकार के हाथ में है, परन्तु प्रदेशों को एक सीमा तक, केन्द्रीय सरकार की अनुमति से, विदेशों से समझौते करने का अधिकार है। अमरीका और स्विज़रलैण्ड के विधानों में एक बड़ा अन्तर यह है कि जब कि अमरीका में देश की आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व भी केन्द्रीय सरकार को है, और राज्यों में अशान्ति और अराजकता के फैलने पर उनकी प्रार्थना पर, और कभी-कभी अपनी इच्छा से भी, हस्तक्षेप करने का उसे पूरा अधिकार है, स्विज़रलैण्ड में आन्तरिक शान्ति का दायित्व सम्पूर्णतः प्रादेशिक सरकारों पर ही है। फ़ौजी नियमों का पालन भी उनके द्वारा ही होता है, और वही केन्द्रीय सरकार की सेना की भर्ती और शिक्षा की व्यवस्था करती हैं।

सोवियट रूस में फ़रवरी १६४४ के बाद से प्रान्तीय सरकारों को सेना व विदेशी नीति के सम्बन्ध में बहुत अधिक अधिकार दे दिये गए हैं। विधान में प्रस्तावित संशोधनों को पेश करते हुए मोलोटॉफ़ ने कहा था, "प्रस्तावित सुधार का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट है। इसका अर्थ है कि 'यूनियन' के प्रजातन्त्रों का

कार्य-क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो जायगा, और उनके राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक, दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय, विकास को देखते हुए यह आवश्यक भी हो गया है। यह हमारे अनेकों राष्ट्रों वाले सोवियट राज्य की राष्ट्रीय समस्या के व्यावहारिक समाधान की दिशा में एक महत्वपूर्ण क़दम है,''''''परन्तु, यह सुधार केवल हमारे प्रजातन्त्रों में संगठन की भावना के परिणाम-स्वरूप ही संभव नहीं हो सका, वह इसलिए भी संभव हो सका कि हमने अखिल-यूनियन राज्य के क्षेत्र में भी एक अभूतपूर्व संगठन की भावना को विकसित कर लिया है।''[1] इन सुधारों के साथ सोवियट राज्य ने निःसन्देह अपने विकास के एक नये युग में प्रवेश कर लिया है। हमारे देश में भी, राष्ट्रीय शक्ति के विकास के साथ-साथ, रक्षा और विदेशी नीति के क्षेत्रों में अकेन्द्रीकरण के प्रयोग किये जा सकेंगे। विदेशी नीति के क्षेत्र में तो आरम्भ से ही प्रांतों के दृष्टिकोण का प्रभाव संघ-शासन के विदेशी सम्बन्धों पर पड़ना अनिवार्य होगा। रक्षा के क्षेत्र में बाद में जाकर वैसा अकेन्द्रीकरण सम्भव हो सकेगा, जैसा आज रूस में हुआ है। परन्तु, यहां हम यह न भूलें कि रूस में भी यह अकेन्द्रीकरण कागज़ पर अधिक है, व्यवहार में कम। हिन्दुस्तान में भी यह सम्भव है, कुछ समय तक इन क्षेत्रों में केन्द्रीय सरकार का ही एकाधिपत्य रहेगा, पर, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार इस नीति में परिवर्तन तो होगा ही।

आर्थिक पुनर्निर्माण का प्रश्न

रक्षा और विदेशी नीति के साथ आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रश्न का भी बड़ा निकट का सम्बन्ध है। जैसा कि पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है, अपरिमित आर्थिक साधनों और उनके समुचित विकास के लिए आर्थिक पुनर्निर्माण की एक विशद योजना के बिना कोई भी देश आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने लिए स्थान बना लेने की कल्पना नहीं कर सकता। आज तो हम आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाओं (economic planning) के युग में जी रहे हैं। इस कल्पना का प्रारम्भ रूस की प्रथम पंच-वर्षीय योजना (१९२८-३२) से हुआ; इस योजना का ही यह परिणाम था कि रूस विश्व की राजनीति में अपने लिए एक अग्रगण्य स्थान बना सका, और १९२९-३१ के संसार-व्यापी आर्थिक संकट से अपने को सर्वथा मुक्त रख सका। उसके बाद से तो इस प्रकार की कई आर्थिक योजनाएं हमारे सामने आती रही हैं। अमरीका ने अपनी 'नई व्यवस्था' (New Deal) प्रचलित की, फ़ासिस्ट देशों ने अपने तरीके के

१—New Powers of Soviet Republics, पृ० २।

दिखाई देता है कि हिंदुस्तानकी एक रक्षानीति और एक ही फ़ौज होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, रक्षा और विदेशी संबंधों में अंतिम अधिकार केन्द्रीय शासन को ही दिये जाने चाहिएं। रक्षा के अन्तर्गत फ़ौज, जहाज़ी बेड़ा और हवाई जहाज़ तीनों आ जाते हैं। इन सब पर संपूर्ण नियंत्रण केन्द्रीय सरकार का ही रहना चाहिए।

रक्षा और विदेशी नीति के संबंध में समझौते की गुंजाइश नहीं है। आज की अव्यवस्थित और अस्थिर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रक्षा का प्रश्न सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रशांत महासागर में शक्ति की राजनीति के खुले संघर्ष से हिंदुस्तान का दायित्व और भी बढ़ गया है। अनुमान तो यह किया जाता है कि भविष्य के महायुद्ध का मुख्य केन्द्र प्रशान्तमहासागर में होगा; उसमें हिंदुस्तानका महत्त्वपूर्ण भाग लेना अनिवार्य होगा, ऐसी स्थिति में हिंदुस्तान को अपनी सैन्य-शक्ति को अधिक-से-अधिक और सुसङ्गठित रखने की आवश्यकता है। उसे प्रांतीय शासन के हाथों सौंप देना राष्ट्रीय आत्मघात के समान होगा। प्रांतों को अपनी फ़ौजें रखने का अधिकार भी हो तो भी केन्द्र का यह उत्तरदायित्व होगा कि वह उन्हें किसी प्रकार के आपसी संघर्ष में न पड़ने दे, और उसे अपने इस उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए स्वयं उन सब से अधिक सशक्त होना पड़ेगा। प्रांतों के आपसी वैमनस्य को प्रोत्साहित न करने और केन्द्र और प्रांतों के बीच भी आवश्यक ग़लतफ़हमियों को खड़ा न होने देने की दृष्टि से भी यही उचित जान पड़ता है कि इस संबंध में अखिल, और अविभाज्य, अधिकार केन्द्रीय शासन को ही हों, वैसे, हमारे भावी विधान का आधार-भूत सिद्धांत भी यही होना चाहिए कि केन्द्र को कम-से-कम अधिकार प्राप्त हों, पर जो थोड़े से अधिकार उसे प्राप्त हों उनमें संपूर्ण सत्ता उसके हाथों में रहे, देश की रक्षा की भावना व विश्व की भावी राजनीति में एक अग्रगण्य स्थान पाने की आकांक्षा, दोनों ही आज इतनी प्रबल हैं कि उनकी क़ीमत पर इन विभागों की सत्ता का विभाजन कल्पना के परे की वस्तु हो जाता है।

यदि हम संसार के दूसरे संघ-शासनों पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि रक्षा और विदेशी नीति के विभागों पर प्रत्येक देश में केन्द्रीय शासन का ही सम्पूर्ण नियन्त्रण है—क्योंकि यदि इन क्षेत्रों पर भी केन्द्रीय सरकार का एकाधिपत्य न हुआ तो उसकी स्थिति का उपयोग ही क्या हुआ और क्यों संघ-शासन जैसे एक जटिल शासन-तन्त्र को खड़ा करने की आवश्यकता ही पड़ी? जैसा कि अमरीका के संघ-शासन के नियन्ता जेम्स मैडीसन ने कहा है; "विदेशी आक्रमण के विरुद्ध बचाव सभ्य समाज के मूल उद्देश्यों में से एक है। यह अमरीका के

संघ का एक उद्घोषित और आवश्यक लक्ष्य है। उसे प्राप्त करने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता हो, वह सब केन्द्रीय सरकार को सम्पूर्ण रूप से सौंप दी जानी चाहिए।" अमरीका की केन्द्रीय सरकार को यह शक्ति प्राप्त है। मनरो के शब्दों में, "विधान के निर्माताओं ने यह निश्चय कर लिया था कि, चाहे जो भी हो, नई राष्ट्रीय सरकार के पास वे सब शक्तियां यथेष्ट मात्रा में होनी चाहिएं जिनकी सहायता से यह बाहरी शत्रुओं और भीतर की अराजकता से देश की रक्षा कर सके।"[1] इसी कारण उन्होंने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को इस सम्बन्ध में बहुत बड़ी-बड़ी शक्तियां दे डालीं। युद्ध की घोषणा करने, फ़ौजों की भर्ती व फ़ौजियों को कील-कांटे से लैस करने, जहाज़ी बेड़े के संगठन और संरक्षण, ज़मीन और समुद्र की फ़ौजों के लिए नियम और अनुशासन की रचना, अर्द्ध-संगठित फ़ौज (militia) का निर्माण, क़िलों और लड़ाई का सामान बनाने वाले स्थानों का नियन्त्रण, ये सब अधिकार अमरीका के संयुक्त-राज्य में केवल केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को ही प्राप्त हैं।

कनाडा और आस्ट्रेलिया का संगठन अमरीका की पद्धति पर ही है। दूसरे, अभी यह निश्चित नहीं है कि युद्ध और सन्धि की वास्तविक और अंतिम शक्ति इन देशों को प्राप्त है भी या नहीं, परन्तु, यदि हम दूसरे ढंग के संघ-शासनों को भी देखें तो हमें इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन और समर्थन मिलेगा। स्विज़रलैण्ड में रक्षा और विदेशी नीति के विभाग केन्द्रीय सरकार के अधीन हैं। प्रत्येक पुरुष-नागरिक को अपने उन्नीसवें वर्ष में तीन महीने के लिए अनिवार्य सैन्य-शिक्षा लेना पड़ती है; उसके बाद अगले बारह वर्ष तक प्रति वर्ष १२ दिन के लिए अपनी इस शिक्षा की पुनरावृत्ति के लिए उपस्थित होना पड़ता है। शिक्षा देने व निरीक्षण आदि का कार्य प्रादेशिक सरकारों के द्वारा किया जाता है, परन्तु संघ के सैन्य-विभाग के नियंत्रण में, और उसके खर्चे का एक भाग भी उन्हें संघ-शासन द्वारा दिया जाता है। सोवियट रूस में भी, इस बात के बावजूद कि फ़र्वरी १६४४ के विधान के अनुसार संघ के सदस्य प्रजातन्त्रों को अपनी सेना व विदेशी सम्बन्धों के विभाग स्वतन्त्र रखने का अधिकार दे दिया गया है, जहां तक राष्ट्रीय विदेशी नीति का सम्बन्ध है, केन्द्रीय सरकार पर ही उसका दायित्व है, युद्ध और सन्धि के प्रश्नों पर केवल वही निर्णय दे सकती है, नये प्रजातन्त्र यदि संघ में शामिल होना चाहें तो उन्हें समाविष्ट करने या न करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को ही है; आंतरिक

१—डब्ल्यू० बी० मनरो : The Government of the United States, पृ० ४५१।

आर्थिक पुनर्निर्माण (planning) को अपनाया, जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में सह-समृद्धि (Co-prosperity) के सिद्धान्तको जन्म दिया; डेन्मार्क और स्वेडन जैसे छोटे-छोटे देशों ने इस मार्ग पर चल कर अपनी आर्थिक स्थिति को बहुत समुन्नत बना लिया। युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में जर्मनी का 'न्यू ऑर्डर' (New Order) पराजित और साथी देशों पर हावी रहा। हमारे देश में भी बम्बई योजना और गांधीवादी योजनाएं हमारे सामने आईं। स्वाधीन हो जाने के बाद यह अनिवार्य दिखाई दे रहा है कि हमें किसी विस्तृत आर्थिक योजना को अपनाना पड़ेगा।

आर्थिक पुनर्निर्माण का समस्त प्रश्न प्रायः सभी देशों में केन्द्रीय सरकार के हाथ में छोड़ दिया जाता है। यह सच है कि प्रांतीय सरकारें एक सीमा तक चाहे अपने आर्थिक साधनों का स्वयं भी विकास कर सकें, उद्योग-धन्धों और व्यापार की वृद्धि, कृषि की उन्नति और आवागमन के साधनों के विकास की दृष्टि से यह आवश्यक होगा कि वे अपने पड़ौसी प्रांतों, और कभी-कभी दूर के प्रांतों पर भी, निर्भर रहें। बहुत सी बातों के लिए उन्हें ऐसे अपरिमित साधनों की आवश्यकता भी होगी जो उनकी सीमित शक्ति के दायरे से बाहर होंगे। अन्य देशों का उदाहरण भी केन्द्रीकरण के पक्ष में ही जाता है। रूस में प्रारम्भ से ही योजना-निर्माण का समस्त कार्य एक 'स्टेट प्लैनिंग कमीशन' के सिपुर्द किया गया था। इसके सदस्यों की नियुक्ति रूस की केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा (Council of People's Commissars) द्वारा होती है, और उन्हें कम्यूनिस्ट पार्टी के निकट-नियन्त्रण में अपना काम करना होता है। इस संस्था (Gosplan) का यह काम है कि वह देश भर से मिलने वाली सूचनाओं का अध्ययन करके एक केन्द्रीभूत योजना का निर्माण करे। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार है कि वह संघ-शासन के सदस्य-प्रजातन्त्रों की आन्तरिक व्यवस्था में उतना हस्तक्षेप कर सके जितना उसे अपने कार्य की सफलता के लिए आवश्यक हो। रूस की तीनों पंच वर्षीय योजनाओं का विकास इसी पद्धति से हुआ है। इन योजनाओं के परिणाम-स्वरूप ही हम देखते हैं कि आज रूस में उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व बिल्कुल मिट गया है, और खेती-बाड़ी का काम, बिना व्यक्तिगत लाभालाभ के विचार के, मिल-जुल कर किया जा रहा है। देश में-उद्योगीकरण अभूतपूर्व तेज़ी से बढ़ा है, और औद्योगिक उत्पादन पहिले के मुक़ाबिले में कई गुना अधिक बढ़ गया है। मोलोटॉफ़ के कथनानुसार, रूस के १६३७ के औद्योगिक उत्पादन का ८० प्रतिशत पहिली दो पंच-वर्षीय योजनाओं का परि-

ग्णाम था। इसी वर्ष रूस में जितने ट्रैक्टर काम में लाए जा रहे थे उनमें से ६० प्रतिशत उसके अपने बनाए हुए थे। कहा जाता है कि १६२६ और १६३७ के बीच रूस का औद्योगिक उत्पादन ३०० से ४०० फ़ीसदी तक बढ़ गया था। यह सच है कि अब भी औद्योगिक उत्पादन में संसार के कुछ पूंजीवादी देश रूस से आगे बढ़े हुए हैं, परन्तु, उनके औद्योगीकरण के पीछे शताब्दियों का इतिहास है जब कि रूस ने बहुत थोड़े वर्षों में यह सब कर लिया है। रूस का यह कार्य कभी सफल नहीं हो पाता यदि उसका नियन्त्रण एक केन्द्रीभूत सत्ता के हाथ में न होता।

आर्थिक विकास की दृष्टि से हमारे देश में विकास के अपरिमित साधन मौजूद हैं। मुक्त-व्यापार (Free Trade) के लिए हमारे पास किसी भी देश की तुलना में कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र है, जिसमें ग़रीबी और बेबसी चाहे कितनी रही हो, पर एक लंबे अर्से से शान्ति और व्यवस्था भी मौजूद रही है। आवागमन के साधन और रेल और डाक आदि के विभाग भी पूर्ण विकसित हैं। प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं है—लोहा और कोयला प्रायः साथ-साथ पाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए औद्योगीकरण का मार्ग सुलभ और प्रशस्त है। इस क्षेत्र में पिछले पचास वर्षों में जो प्रवृत्ति बढ़ती गई है, पहिले महायुद्ध में जिसे काफ़ी प्रोत्साहन मिला और इस महायुद्ध में जो अनिवार्यता की स्थिति तक जा पहुंची है, उसे भी रोका नहीं जा सकेगा। आज हमारे लिए यह सोचने का अवसर नहीं रह गया है कि औद्योगीकरण हमारे लिए हितकर है अथवा अहितकर, अथवा किस सीमा तक वह हमारे लिए लाभप्रद हो सकता है; आज तो हमारे सामने मुख्य प्रश्न यही है कि किस प्रकार हम उसकी गति पर नियंत्रण पा सकें, और उसे एक ओर तो अन्तर्राष्ट्रीय अर्थनीति से, और दूसरी ओर अपने ग्रामोद्योगों से, संबद्ध कर सकें। यह कार्य सरल नहीं होगा। यों तो आर्थिक औद्योगीकरण के लिए भी सदा राजनैतिक केन्द्रीकरण की आवश्यकता होती है, पर हमारे देश में आर्थिक पुनर्निर्माण का प्रश्न केवल औद्योगीकरण का नहीं है। हमें अपने औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाना तो है ही, हमारी ग़रीबी को दूर करने की दिशा में वह एक अनिवार्य क़दम है, पर इसके साथ ही यदि हम अपनी कृषि-संबंधी स्थिति में भी सुधार न कर सके तो वह एकांगी कार्य होगा। पिछले दो महायुद्धों के बीच के अशांतिपूर्ण वर्षों में यह तो स्पष्ट होगया है कि हमें उत्पादन (Production) के साथ-साथ वितरण (Distribution) के प्रश्न को भी लेना है। हिंदुस्तान की ६० फ़ीसदी आबादी गांव में रहती है और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है; यदि उसकी आर्थिक अवस्था

को समुन्नत न किया गया, तो वह इस स्थिति में कभी नहीं होगी कि देश के बढ़े हुए औद्योगिक उत्पादन की खपत (Consumption) में सहायता पहुंचा सके, और यह तो निश्चित है कि आज जब प्रत्येक देश आर्थिक स्वावलम्बन (economic self-sufficiency) पर ज़ोर दे रहा है, तो हमें भी अपनी औद्योगिक उत्पत्ति के एक बड़े अंश के लिए यहीं बाज़ार तैयार करना पड़ेगा। ग़रीबी का प्रश्न बहुत कुछ कृषि के क्षेत्र में व्यक्तिगत उत्पादन-शक्ति की हीनता के साथ भी जुड़ा हुआ है। जैसा कि कॉलिन क्लार्क ने अपनी एक पुस्तक में बताया है, न्यूज़ीलैण्ड में श्रमिकों का (६.४) प्रतिशत अपनी महनत के द्वारा कुल आबादी के लिए अन्न जुटा सकता है, जब कि ज़ार-कालीन रूस में उस काम के लिए २००फ़ीसदी व्यक्तियों की आवश्यकता थी।[1] हिंदुस्तान में इस व्यक्तिगत उत्पादन-शक्ति को कई गुना बढ़ाया जा सकता है। तभी औद्योगीकरण का प्रयत्न सफल हो सकेगा। औद्योगीकरण के कृषि-सुधारों के साथ संबद्ध करने का यह काम केवल एक सशक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा ही संपन्न किया जा सकता है।

आर्थिक समस्याओं के साथ सामाजिक समस्याएं भी गुंथी-मिली रहती हैं। बेकार पड़ी हुई ज़मीन को जोतने की व्यवस्था, जिस ज़मीन में खेती हो रही है उसकी उत्पत्ति बढ़ाने के उपाय, कृषि में आधुनिक वैज्ञानिक उपायों और उपादानों का प्रयोग, ये सब समस्याएं तो हैं ही, पर किसान की केवल आमदनी बढ़ा देने से तो काम नहीं चलेगा। आज भी अपना पेट काट कर वह जो थोड़ा-बहुत बचा सकता है, वह अंध-विश्वास और सामाजिक कुरीतियों पर ख़र्च करता है। क़र्ज़ में वह बाल-बाल बिंधा रहता है। यदि उसकी आमदनी बढ़ गई तो यह मान लेने के लिए हमारे पास क्या कारण है कि उसका उपयोग वह अपने खाने-पीने और रहन-रहन के स्टैण्डर्ड को बढ़ाने में करेगा? सच तो यह है कि उसकी आर्थिक उन्नति के साथ उसके बौद्धिक विकास की व्यवस्था भी आवश्यक है। वास्तविक प्रश्न शिक्षा के प्रसार और समाज-सुधार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने का है। शिक्षा और समाज-सुधार के लिए राष्ट्रीय सरकार तो वांछनीय है ही, एक राष्ट्रीय आंदोलन की भी आवश्यकता होगी, और उसकी चिनगारियों को देश के कोने-कोने तक फैलाने के लिए आत्मोत्सर्ग के लिए सतत तत्पर राष्ट्र-सेवकों की एक संगठित सेना खड़ी करना पड़ेगी। इन सब कामों के लिए एक केन्द्रीभूत संगठन की ज़रूरत है। उसके साथ ही साथ प्रयोग और अनुसंधान का काम भी चलता रहना चाहिए। इस संबंध में कुछ प्रयोग हमने अपने देश में किए हैं, और बहुत कुछ ज्ञान हम अन्य देशों से प्राप्त कर

१-कॉलिन क्लार्क : The Conditions of Economic Progress.

सकते हैं, पर बिना एक बड़ी केन्द्रीय प्रयोगशाला के, जहां देश के अग्रगण्य वैज्ञानिक दिन-रात अध्ययन और अनुसंधान में लगे हों, और जिसके पास अपरिमित साधन हों, यह काम नहीं किया जा सकता। प्रांतीय सरकारें इस क्षेत्र में एक सीमा तक ही जा सकती हैं।

उपर्युक्त विचार-धारा का स्पष्ट झुकाव केन्द्रीकरण की दिशा में है। पर, मैं योजना-निर्माण और उसे कार्यान्वित करने की क्रिया में भेद करना चाहूँगा। पुनर्निर्माण के संबंध में अनुसन्धान और योजना-निर्माण का काम तो केन्द्र के द्वारा करना ही ठीक होगा। औद्योगीकरण के क्षेत्र में भी, प्राकृतिक साधनोंके देश भरमें बिखरे होने व अन्य कारणों से, नेतृत्व केन्द्रीय सरकारके हाथमें ही रहेगा। जहां तक हमारी राष्ट्रीय अर्थनीति को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-नीति से संबद्ध करने का प्रश्न है, अंतिम सत्ता केन्द्र के हाथों में ही रहेगी, पर हमारी अर्थनीति का आधार यदि औद्योगीकरण को कृषि और ग्रामोद्योगों के साथ संबद्ध करने, और उसे सामाजिक शुद्धीकरण की भूमि पर स्थापित करने का है, तब तो प्रांतीय सरकारों के लिए भी काफ़ी विस्तृत कार्य-क्षेत्र प्राप्त हो सकेगा। केन्द्रीय सरकार के द्वारा पुनर्निर्माण की संपूर्ण व्यवस्था (State Planning) के दोषोंसे भी हम अनभिज्ञ नहीं हैं। रूस और जर्मनी के उदाहरण हमारे सामने हैं। इन दोनों देशों में आर्थिक पुनर्निर्माण की बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए एक बहुत बड़ी नौकरशाही की आवश्यकता हुई; इस नौकरशाही ने, केवल अपने कार्य की सफलता को दृष्टि में रखते हुए, नागरिक स्वाधीनता को बुरी तरह से अपने पैरों तले रौंदा है; उनमें से कुछ ने इस सत्ता का उपयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए भी किया; और इन सबका परिणाम यह हुआ है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आघात पहुंचा है। हमारे देश की परिस्थितियों में, जबकि औद्योगीकरण के साथ-साथ ग्रामोद्योगों और कृषिक उन्नति को भी लेना है, संभवतः उतने केन्द्रीकरण की आवश्यकता न हो। काफ़ी दूर तक आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रांतों के आंतरिक विकास से संबंध रखने वाले प्रश्नों को प्रांतीय सरकार के हाथ में छोड़ा जा सकता है; उसका केन्द्रीय सरकार की अर्थ-नीति से संबद्ध भर रहना आवश्यक माना जाना चाहिए। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार के लिए अपनी अर्थनीति को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थनीति से संबद्ध रखने का प्रयत्न करते रहना आवश्यक होगा। कुछ प्रश्न ऐसे भी होंगे जिनका निबटारा न तो प्रांत की अपनी सीमा में संभव होगा, और न समस्त देशसे ही उनका सीधा संबंध होगा। इस संबंध में एक ही नदी द्वारा सींचे जाने वाले प्रदेशों की कृषिक उन्नति, अथवा 'हाइड्रो-इलेक्ट्रिक' शक्ति के उत्पादन, का नाम लिया जा सकता है। पर, उनके लिए

किसी क्षेत्रीय शासन की विलक्षण सृष्टि से अधिक अच्छा मार्ग मैं यह समझता हूं कि उन्हें, केन्द्रीय सरकार के निर्देश में, आंतर्प्रान्तीय व्यवस्था के ज़िम्मे छोड़ दिया जाय। वास्तविक प्रश्न केन्द्र और प्रांतों में सहयोग की भावना के मौजूद होने का है। वैसी भावना की उपस्थिति संघ-शासन में ही सम्भव हो सकती है।

केन्द्रीय सरकार के अन्य अधिकार

आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रश्न के साथ ही मुद्रा और विनिमय के प्रश्न गुंथे हुए हैं। मुद्रा और विनिमय के सम्बन्ध में देश भर में एक ही नीति का होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में विभिन्नता होने का भयावह परिणाम हम आज के यूरोप में स्पष्ट देख रहे हैं। सभी प्रान्तों और समस्त देश के आर्थिक जीवन के सभी अंगों के लिए देश में एक सामान्य-मुद्रा का होना लाभप्रद होगा। इसी प्रकार भारतीय और विदेशी सिक्कों के बीच एक ही विनिमय-दर का होना भी ज़रूरी है। यदि प्रांत-प्रांत में विभिन्न सिक्के हुए, अथवा कुछ प्रांतों में विदेशी सिक्कों से विनिमय का दर एक हुआ और कुछ में दूसरा, तो आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में व्यापार का समुचित विकास नहीं हो सकेगा। सम्भव है, कुछ प्रदेशों में विदेशी माल अधिक संख्या में आकर पड़ा रहे, और एक प्रांत और दूसरे प्रांत के बीच व्यापार-कर (tariff) की दीवारें ऊंची उठती चली जाएं। व्यापार का गला घोंटने, और हमारी राष्ट्रीय समृद्धि को असम्भव बना देने, का इससे अच्छा उपाय कोई नहीं हो सकता। यदि हम इस अराजकता को निमंत्रण देना नहीं चाहते तो हमें अपने मुद्रा और विनिमय के प्रश्नों को केन्द्रीय सरकार के हाथ में छोड़ना ही पड़ेगा। इस सम्बन्ध में एक यह बात भी अच्छी है कि इन प्रश्नों के साथ सांप्रदायिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है, और इस कारण उन्हें केन्द्रीय सरकार को सौंप देने में किसी को आपत्ति न होगी।

मुद्रा और विनिमय यदि आर्थिक पुनर्निर्माण का वाह्य-पक्ष है, तो आवागमन व देश को एक कोनेसे दूसरे कोने तक संबद्ध करने के साधन (Transport and Communications) व उद्योग और वाणिज्य (Industry and Commerce) उसके आंतरिक पक्ष। इन दोनों क्षेत्रों में भी विद्वानों की सम्मति उन्हें केन्द्रीय सरकार के हाथ में छोड़ देने के पक्ष में ही है। इस सम्बन्ध में कुछ तर्क पूर्ण युक्तियां भी दी जा सकती हैं। हिन्दुस्तान ने अपने लम्बे इतिहास की कई शताब्दियां सड़कों, रेलों, तार और डाक की एक संगठित व्यवस्था, के विकास में लगा दी हैं। उस एकता को आज विकीर्ण कर देना शायद बुद्धिमानी का काम न हो। डॉ० बेनी प्रसाद के शब्दों में;

"सड़क, रेल, डाक, तार और टेलीफ़ोन आदि की जो व्यवस्था सैनिक आवश्यकता, सामान और यात्रियों के आने जाने की सुविधा, और संदेशों के भेजे और प्राप्त किए जाने के सम्बन्ध में की गई है, वह समस्त देश में फैली हुई है। सन्धियों, अहदनामों और सार्वभौमता के द्वारा देशी रियासतों को भी ब्रिटिश भारत से संबद्ध कर दिया गया है। यदि इस आधार को नष्ट कर दिया जाता है, तो रक्षा-सम्बन्धी योजनाओं और अर्थ नीति की सारी व्यवस्था को एक बड़ा धक्का लगेगा, विशेष कर उत्तर-भारत में, और यात्रा और सन्देश वाहन में बहुत बड़ी असुविधा खड़ी हो जाएगी। यदि उसे सुरक्षित रखना है तो उसके संचालन और निरीक्षण के लिए एक सामान्य-सत्ता का होना आवश्यक है।... यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आने जाने और सन्देश भेजने और प्राप्त करने के साधनों का आयोजन, समग्र-रूप से, एक अखिल-भारतीय सत्ता के द्वारा किया जाना चाहिए, और उनके प्रमुख उपादानों, रेलवे लाइनों और सड़कों, पर उसका सीधा अधिकार होना चाहिए।"[1]

इस प्रश्न के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष को भी हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते, और यह पक्ष आने वाले वर्षों में बड़ा महत्त्व ले लेगा, इसमें भी सन्देह नहीं है। यह बिल्कुल सम्भव है कि हिन्दुस्तान कुछ वर्षों में ही सड़क, या रेल से भी, बर्मा, चीन, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान आदि देशों से संबद्ध कर दिया जाए। दुनियां भर में फैले हुए हवाई मार्गों की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी तो वह आज भी है ही। उसकी जहाज़ी और समुद्री ताक़त भी भविष्य में तेज़ी के साथ बढ़ेगी। ऐसी स्थिति में सड़कों, रेलों, समुद्री व हवाई जहाज़ों के रास्तों आदि के सम्बन्ध में विदेशों से समझौते करना भी आवश्यक होगा, और हिंदुस्तान के लिए समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंसों में हिस्सा लेना व इन प्रश्नों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय नियम-अनुशासन आदि के निर्माण में सहयोग देना भी आवश्यक होगा। ऐसी परिस्थिति में उनकी व्यवस्था केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहना ही वांछनीय माना जाता है। इसी प्रकार, व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में भी अखिल-देशीय व्यवस्था की ही आवश्यकता पड़ेगी, क्योंकि उसके बिना व्यापारिक इक़रारनामों पर अमल कराना और धोखेबाज़ी को रोकना सम्भव नहीं हो सकेगा, और यह देखते हुए कि आने वाले वर्षों में हिन्दुस्तान का वाणिज्य और व्यापार बहुत तेज़ी के साथ बढ़ेगा, इस प्रकार के केन्द्रीभूत नियन्त्रण की आवश्यकता पर और भी अधिक ज़ोर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त हमें विदेशी-व्यापार को भी अपनी दृष्टि में रखना है। सबसे बड़ी बात यह है कि

१—बेनीप्रसाद : Communal Settlement, पृ० ११।

आर्थिक दृष्टि से हिन्दुस्तान एक समष्टि है, और उसका विभाजन देश के लिए हानिकर ही सिद्ध होगा।

ये सब बड़े प्रबल तर्क हैं, और सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें किसी प्रकार की कमी बताना सम्भव नहीं है, परन्तु, हमें व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी तो इस प्रश्न पर विचार करना है। देश में संघ-शासन की स्थापना के प्रस्ताव का अर्थ ही यह है कि अब हम मानने लगे हैं कि हमारे प्रांतों में एक ओर तो आत्म-निर्णय की भावना प्रबल हो गई है, और दूसरी ओर उनमें राजनैतिक परिपक्वता भी अब इतनी मात्रा में आ गई है कि हम शासन-व्यवस्था में अकेन्द्रीकरण की दिशा में कुछ साहस-पूर्ण क़दम उठा सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रांतीय प्रेरणा और नियन्त्रण को हम अवज्ञा की दृष्टि से नहीं देख सकते; प्रत्युत उसे तो हमें प्रस्थापित और प्रोत्साहित करना है, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि हम प्रांतों और केन्द्र में किसी मौलिक-मतभेद के आधार पर नहीं चल रहे हैं। उनमें यदि पारस्परिक विश्वास है, तो हमें अकेन्द्रीकरण से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं, बल्कि उसका स्वागत ही करना चाहिए। इन क्षेत्रों में प्रांतों को एक बहुत बड़ी सीमा तक अधिकार दिए जा सकते हैं। पुनर्निर्माण की व्यापक योजनाएं, मुद्रा और विनिमय की नीति, और आवागमन और सन्देश वाहन के साधनों, व वाणिज्य और व्यापार का वाह्य-पक्ष, जिनका सम्बन्ध विदेशों से है, निःसन्देह केन्द्रीय सरकार के अधिकार में रहेंगे, पर अन्तिम विभागों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनके आन्तरिक पक्ष को प्रान्तीय सरकारों के हाथों में सौंप देना ही वांछनीय होगा। सड़कों और रेलों के विभाग का ही उदाहरण लें। इनमें से अधिकांश का विस्तार प्रायः २ या ३ तीन प्रांतों तक है। उनका नियन्त्रण आन्तर्प्रान्तीय आधार पर किया जा सकता है। उनमें भी कुछ सहायक-सड़कें और रेलें ऐसी होंगी जिनका विस्तार एक प्रांत से अधिक नहीं है; उनमें तो केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप न केवल अवांछनीय बल्कि अहितकर भी सिद्ध होगा। यूरोप की अधिकांश रेलें वैयक्तिक सम्पत्ति हैं, और उनका विस्तार प्रायः २ या ३ देशों तक है, पर उनकी व्यवस्था के सम्बन्ध में कभी अयोग्यता की बात नहीं सुनी गई; तब कोई कारण नहीं कि हमारी प्रांतीय सरकारें इस काम को सफलता के साथ क्यों न कर सकें। इसी प्रकार, व्यापार के सम्बन्ध में भी यह अखिल-देशीय क़ानून बन जाना तो आवश्यक है ही कि एक प्रांत और दूसरे प्रांत के बीच किसी प्रकार का आयात-निर्यात-कर न लगाया जाए, परन्तु व्यापार के आन्तरिक पक्ष का नियन्त्रण प्रांतीय सरकार के हाथों में छोड़ना ही ठीक होगा। इस अकेन्द्रीकरण के बावजूद भी इस आवश्यक

सिद्धान्त की उपेक्षा तो की ही नहीं जा सकेगी कि देश-व्यापी आपत्ति के अवसर पर केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार प्राप्त होगा कि इन प्रश्नों को वह सर्वथा अपने नियन्त्रण में ले ले।

केन्द्र और प्रांत के संयुक्त अधिकार

शासन के ऐसे बहुत से विभाग हैं जिनमें केन्द्र और प्रांत दोनों मिल-जुल कर काम कर सकते हैं, आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना में भी, जिसे कार्यान्वित करने का एकमात्र उत्तरदायित्व प्रायः केन्द्रीय सरकार को सौंपा जाता है, किस प्रकार प्रांतों को अपने अधिकारों का उपयोग करने का अवसर दिया जा सकता है, इसकी कुछ चर्चा ऊपर आ चुकी है। मुद्रा और विनिमय के प्रश्नों को छोड़ कर जिनमें केन्द्रीभूत नियंत्रण की बड़ी आवश्यकता है, अन्य आर्थिक प्रश्नों के संबंध में भी केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारें मिलजुल कर व्यवस्था कर सकती हैं, आवागमन के साधनों, व्यापार आदि के क्षेत्रों में व्यवस्था का अधिकांश भाग प्रांतों को सौंपा जा सकता है। बहुत से अन्य मामलों में जहां तक क़ानून बनाने का संबंध है यह काम केन्द्रीय सरकार पर छोड़ा जा सकता है, पर जहां उस क़ानून को अमली रूप देने का सवाल आए, वहां उसकी ज़िम्मेदारी प्रांतीय सरकार को दी जा सकती है। विवाह, तलाक़ आदि की समस्याएं इस प्रकार की हैं। कॉपीराइट, मर्दुमशुमारी, पैमाइश, कस्टम-टैक्स, सामाजिक इंश्योरेंस, फ़ैक्टरी-क़ानून, आर्थिक योजना-निर्माण आदि ऐसे बहुत से प्रश्न हैं, जिनकी व्यवस्था केन्द्रीय व प्रांतीय सरकारें मिलजुल कर कर सकती हैं। भागे हुए अपराधियों का पता लगाने व व्यापक षड्यन्त्रों का भंडाफोड़ करने के लिए भी इस प्रकार के सहयोग की आवश्यकता पड़ेगी। ये सब प्रश्न ऐसे हैं, जो न तो केवल केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही छोड़े जा सकते हैं, और न प्रांतीय सरकारें ही सफलतापूर्वक उन्हें सुलभा लेने की स्थिति में होंगी।

स्वायत्त-शासन भोगी प्रांतों के अधिकार

ऊपर जिन विभागों का ज़िक्र आचुका है, उन्हें छोड़कर शासन के अन्य सभी क्षेत्रों पर स्वायत्त-शासन-भोगी प्रांतीय सरकारों की सार्वभौम सत्ता होगी। अवशिष्ट सत्ता (residuary power) बिना किसी झिझक अथवा हिचकिचाहट के प्रांतीय शासन के हाथमें दे दी जायगी, यह सुझाव ऊपर आचुका है, प्रांतीय सरकार के अधिकारों की विस्तृत व्याख्या इसलिए आवश्यक नहीं है कि वे सब अधिकार जो स्पष्टतः केन्द्रीय सरकार के हाथ में सौंप नहीं दिए गए हैं, प्रांतीय सरकारों के पास रहेंगे। संघ-शासन का प्रमुख कार्य केन्द्रीय-शासन की सीमाओं का निर्धारण कर लेना है। ऊपर की विवेचना पर हम यदि

एक बार फिर दृष्टि डालें तो यह देख सकेंगे कि ऐसे विभाग जो केन्द्रीय शासन के सर्वाधिकार में हैं, या जिन पर केन्द्रीय सरकार का दख़ल है, केवल पांच हैं। वे हैं—(१) विदेशी नीति, (२) रक्षा, (३) यातायात आदि के प्रमुख साधन, (४) व्यापार पर निर्यात-कर आदि की व्यवस्था, और (५) मुद्रा और विनिमय। इनके अतिरिक्त कुछ थोड़े से ऐसे विभाग हैं जिनके संबंध में केन्द्रीय सरकार को क़ानून बनाने अथवा निरीक्षण आदि का कुछ अधिकार होगा। पर, इस सीमित क्षेत्र को, जिसकी विधान द्वारा विस्तृत व्याख्या कर दी जायगी, छोड़कर शासन के सम्पूर्ण अधिकार प्रांतों को प्राप्त होंगे।

धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अधिकारों के सम्बन्ध में प्रांतीय सरकारों को सम्पूर्ण सत्ता प्राप्त होगी—यद्यपि अल्प-संख्यक वर्गों के संरक्षण का प्रबंध विधान के द्वारा ही होगा। शिक्षा पर, प्रारंभ से लेकर यूनीवर्सिटी की अन्तिम कक्षा तक, उनका सम्पूर्ण अधिकार होगा—और शिक्षा-सम्बन्धी अन्य विषयों, जैसे पुस्तकालय, संग्रहालय, भाषा और साहित्य, नाट्यशाला, सिनेमा, सङ्गीतालय आदि, सब पर उन्हीं का सर्वाधिकार होगा। इन सब विषयोंके संबंध में क़ानून बनाने व शासन-व्यवस्था की स्थापना का दायित्व प्रांतों पर ही होगा। इसके अतिरिक्त कृषि और उससे सम्बद्ध बहुत से प्रश्न भी प्रांतीय अधिकारों के सीधे दायरे में आते हैं। कृषि के साथ भूमिकर, जंगल, खनिज पदार्थों का नियंत्रण, सहयोग-समितियां, विभिन्न प्रकार के स्थानीय टैक्स आदि पर भी प्रांतों का आधिपत्य होगा। इसी प्रकार, स्थानीय स्वशासन, जनता के स्वास्थ्य-सम्बन्धी सभी संस्थाएं, अस्पताल, उपचार-गृह आदि, सार्वजनिक इमारतें, स्थानीय सड़कें और रेलें, गैस, पानी और बिजली के कारख़ाने आदि भी प्रांतीय शासन के अन्तर्गत ही होंगे। प्रांतीय शासन की सार्वभौमता का सबसे बड़ा प्रतीक तो उसका शांति और व्यवस्था का उत्तरदायित्व होगा। यह विभाग संपूर्णतः प्रांतीय शासन के अधीन होगा। आबपाशी और नदियों आदि पर भी उनका ही नियंत्रण होगा। इन बातों, और इसी प्रकार की कुछ अन्य बातों, में आन्तर्प्रान्तीय सहयोग की आवश्यकता भी पड़ेगी, पर उससे प्रांतीय सार्वभौमता पर कोई असर नहीं होगा। यूरोप में प्रायः एक ही नदी चार पांच देशों में होती हुई जाती है। उसकी व्यवस्था का दायित्व उन सभी देशों पर होता है, और वे मिलजुल कर इस दायित्व को पूरा करते हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार के संयुक्त अधिकार से उनकी राष्ट्रीय सार्वभौमता में किसी प्रकार की कमी आती हो। यदि हम केवल इन्हीं विभागों पर दृष्टि डालें जिन पर एकमात्र प्रांतीय सरकार का ही सर्वाधिकार होगा, तो हम देख सकेंगे

: १२ :

(अ) वैधानिक विकास की दिशा

वैधानिक विकास की आधार-भूमि

भारतीय परिस्थितियों में संघ-शासन की उपयुक्तता मान लेने, व उसके आधार-भूत सिद्धान्तों की व्याख्या कर लेने, के बाद भी यह प्रश्न रह जाता है कि हमारे वैधानिक विकास का आरम्भ किस बिन्दु से हो, उसकी आधार भूमि क्या हो, और उसके अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए किन मार्गों का हम अवलम्बन करें। इस सम्बन्ध में, यह कहा जा सकता है कि हमारे सामने चार निश्चित योजनाएं, अथवा मत, हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि हमारे वैधानिक विकास के प्रारम्भिक इतिहास में चाहे कितनी बड़ी ग़लतियां क्यों न रही हों, १९३५ का शासन-विधान हमें अपने वैधानिक भविष्य के लिए एक बड़े सुनिश्चित पथ की ओर संकेत करता है, और हमें, बीच के इन कई वर्षों के गत्यावरोध को चीरते हुए, उसी मार्ग पर एक बार फिर से चल पड़ना चाहिए। इस सम्बन्ध में हम यह न भूलें कि यद्यपि १९३५ की शासन-योजना के बनाने का समस्त श्रेय, अथवा दायित्व, अंग्रेज़ी सरकार का था, वह स्वयं उस मार्ग को कभी का छोड़ चुकी है। उसने इन पिछले वर्षों में जो दूसरा मार्ग हमारे सामने रखा है,उसका सूत्रपात अगस्त १९४० की घोषणा में, उसकी एक विस्तृत बाह्य-रेखा मार्च १९४२ के क्रिप्स-प्रस्तावों में और उसकी कुछ कमियों की पूर्त्ति जून १९४५ के वेवल-प्रस्तावों में हम पाते हैं। तीसरा रास्ता वह है जिसकी मांग कांग्रेस पिछले कई वर्षों से कर रही है। कांग्रेस का कहना है कि हमारे भावी शासन-विधान का निर्माण एक विधान-निर्मातृ सभा के द्वारा होना चाहिए, और इस सभा में देश के सभी वयस्क व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है। एक चौथा मार्ग भी है, जिसकी ओर मुस्लिम लीग ने मार्च १९४० में इशारा किया था, और जिसके संबंध में, कुछ उड़ती-सी व्याख्या, पहिली बार, नवम्बर १९४५ में, जिन्ना साहिब ने अमरीकन-प्रेस को एक इंटरव्यू देते हुए की थी। वह देश को दो हिस्सों में बांट देने, व प्रत्येक भाग को अपना विधान अपने आप बना लेने का अधिकार देने की योजना है। सर्व-साधारण में वह पाकिस्तान-योजना के नाम से प्रसिद्ध है। पिछले कई अध्यायों

कि उनमें जीवन के कुछ सर्वोपयोगी विभाग शामिल हैं, और शासन की ऐसी अनेकों शाखाएं हैं, जो प्रत्येक नागरिक के दैनिक जीवन का स्पर्श करती हैं, और वे सब अधिकार हैं जिनके सम्बन्ध में धार्मिक और सांस्कृतिक दल संवेदनशील रहा करते हैं।

यदि इस प्रकार की योजना अमल में लाई जा सकी, तो मुझे पूरा विश्वास है कि मुसल्मानों का बहुसंख्यक वर्ग द्वारा शासित होने का भय बहुत कुछ निर्मूल किया जा सकेगा, और उसके साथ ही न केवल मुस्लिम बहु-संख्यक प्रांतों, बल्कि प्रायः सभी प्रांतों, की आत्म-निर्णय की आकांक्षा को भी सन्तुष्ट किया जा सकता है। इसके साथ ही, आवश्यकता पड़ने पर, महत्त्वपूर्ण अखिल-भारतीय प्रश्नों के केन्द्रीय शासन द्वारा नियंत्रित किये जाने का आयोजन भी इसमें है ही। यहां हमें यह तो ध्यान में रखना ही है कि सत्ता का कैसा भी विभाजन, और प्रांतों को किसी भी सीमा तक दिया गया स्वायत्त-शासन, उस समय तक सन्तोषप्रद नहीं माना जा सकता जब तक कि उसके पीछे समझौते की भावना में कार्य करने की तैयारी नहीं होती। दूसरी बात जो सारी योजना में निहित है, पर जिसे यहां स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है, यह है कि प्रस्तावित योजना में न तो एक निर्बल केन्द्रीय शासन की कल्पना की गई है, और न केन्द्र के इशारे पर नाचने वाले कठपुतली प्रांतों की। प्रायः यह कहा जाता है कि हमें इन दोनों में से ही एक को चुन लेना है। संघ-शासन की सुन्दरता इसी में है कि वह न तो केन्द्र को निःशक्त बनाता है, और न सदस्य-राज्यों अथवा प्रांतों को कमज़ोर। वह सत्ता का एक कठोर विभाजन कर देता है, और केन्द्र और प्रांत दोनों को अपने-अपने क्षेत्र में उसके सम्पूर्ण, अविभाज्य, उपभोग का संपूर्ण अवसर देता है। उन विभागों में जो केन्द्रीय सरकार को सौंप दिये गए हों, उसे बड़े-से-बड़ा साहसपूर्ण क़दम उठाने का अधिकार है, और इसी प्रकार प्रांतीय सरकार अपने अधीनस्थ विभागों पर अपनी सार्वभौमता का सम्पूर्ण उपयोग कर सकती है। हम शासन के इन दोनों स्तरों को अपने-अपने नियत क्षेत्रों में पूर्ण-रूप से सशक्त बनाये रह सकते हैं। फिर भी यदि यह आशंका रह जाय कि संघ-शासन राष्ट्रीय शक्ति का ही ह्रास करता है, तो इसका तो इससे अच्छा उत्तर और क्या हो सकता है कि वर्तमान महायुद्ध में वे दो देश जो अपना प्रभुत्व संसार के अधिकांश पर स्थापित करने में समर्थ हुए हैं, संघ-शासन के दो विभिन्न प्रयोगों के नियन्ता हैं?

: १२ :

(अ) वैधानिक विकास की दिशा

वैधानिक विकास की आधार-भूमि

भारतीय परिस्थितियों में संघ-शासन की उपयुक्तता मान लेने, व उसके आधार-भूत सिद्धान्तों की व्याख्या कर लेने, के बाद भी यह प्रश्न रह जाता है कि हमारे वैधानिक विकास का आरम्भ किस बिन्दु से हो, उसकी आधार भूमि क्या हो, और उसके अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए किन मार्गों का हम अवलम्बन करें। इस सम्बन्ध में, यह कहा जा सकता है कि हमारे सामने चार निश्चित योजनाएं, अथवा मत, हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि हमारे वैधानिक विकास के प्रारम्भिक इतिहास में चाहे कितनी बड़ी ग़लतियां क्यों न रही हों, १९३५ का शासन-विधान हमें अपने वैधानिक भविष्य के लिए एक बड़े सुनिश्चित पथ की ओर संकेत करता है, और हमें, बीच के इन कई वर्षों के गत्यावरोध को चीरते हुए, उसी मार्ग पर एक बार फिर से चल पड़ना चाहिए। इस सम्बन्ध में हम यह न भूलें कि यद्यपि १९३५ की शासन-योजना के बनाने का समस्त श्रेय, अथवा दायित्व, अंग्रेज़ी सरकार का था, वह स्वयं उस मार्ग को कभी का छोड़ चुकी है। उसने इन पिछले वर्षों में जो दूसरा मार्ग हमारे सामने रखा है,उसका सूत्रपात अगस्त १९४० की घोषणा में, उसकी एक विस्तृत बाह्य-रेखा मार्च १९४२ के क्रिप्स-प्रस्तावों में और उसकी कुछ कमियों की पूर्त्ति जून १९४५ के वेवल-प्रस्तावों में हम पाते हैं। तीसरा रास्ता वह है जिसकी मांग कांग्रेस पिछले कई वर्षों से कर रही है। कांग्रेस का कहना है कि हमारे भावी शासन-विधान का निर्माण एक विधान-निर्मातृ सभा के द्वारा होना चाहिए, और इस सभा में देश के सभी वयस्क व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है। एक चौथा मार्ग भी है, जिसकी ओर मुस्लिम लीग ने मार्च १९४० में इशारा किया था, और जिसके संबंध में, कुछ उड़ती-सी व्याख्या, पहिली बार, नवम्बर १९४५ में, जिन्ना साहिब ने अमरीकन-प्रेस को एक इंटरव्यू देते हुए की थी। वह देश को दो हिस्सों में बांट देने, व प्रत्येक भाग को अपना विधान अपने आप बना लेने का अधिकार देने की योजना है। सर्व-साधारण में वह पाकिस्तान-योजना के नाम से प्रसिद्ध है। पिछले कई अध्यायों

में उसकी विस्तृत विवेचना आ चुकी है, और वर्त्तमान भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में उसकी अनुपयुक्तता, असंगतता और अवैज्ञानिकता के संबंध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

१६३५ के एक्ट के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कही जाती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसके निर्माण में कई वर्षों का अध्यवसाय, अध्ययन और विचार-विनिमय है, और उसका निर्माण संघ-शासन के आधार पर है। उसके केन्द्रीय पक्ष के संबंध में कुछ भी कहा जाय, यह सच है कि प्रांतीय क्षेत्र में उसके द्वारा एक सीमा तक जन-सत्ता की स्थापना हो सकी थी, और यदि विधान का संघीय भाग अमल में लाया जा सका होता, तो केन्द्र में भी प्रजासत्तात्मक प्रवृत्तियों का प्राधान्य होना सम्भव था। प्रांतीय क्षेत्रों में, गवर्नरों के द्वारा, संरक्षण और विशेष अधिकारों के नाम पर हस्तक्षेप का न होना भी एक स्वस्थ संकेत था। यह आशा की जा सकती थी कि केन्द्रीय शासन में भी इस प्रकार के हस्तक्षेप को टाला जा सकता था। लड़ाई के शुरू होने तक सारा काम अच्छे ढङ्ग से चल रहा था। प्रांतीय शासन पर जब कभी वैधानिक संकट आये, सरकार और कांग्रेस दोनों की ओर से सदिच्छा का प्रदर्शन होने से वे संकट टल गए, और सरकार व कांग्रेस का आपसी सम्बन्ध कुछ मज़बूत ही बना। यदि महायुद्ध बीच में न आता, और कांग्रेस प्रांतीय शासन को ठुकरा देने की ग़लती न करती, तो भारतीयों और अंग्रेज़ों का यह स्नेह-सम्बन्ध और भी परिपक्व हो जाता, और बिना किसी कलुष और संघर्ष के, हिन्दुस्तान अंग्रेज़ी कॉमनवैल्थ में एक शानदार स्थान पा लेता। एक अंग्रेज़ लेखक के शब्दों में, "जिन्होंने भारतीय परिस्थिति व एक्ट की धाराओं का अच्छा अध्ययन किया था, उनका विचार था कि मुकम्मिल आज़ादी पर संरक्षण और नियन्त्रण काग़ज पर चाहे कितने ही बड़े क्यों न दीखें, भारतीय मन्त्रिगण, यदि उन्होंने उन विस्तृत अधिकारों का उपयोग किया जो उन्हें दिये गए थे, अपने आपको एक ऐसी सशक्त स्थिति में रख सकेंगे जिसमें किसी भी ऐसे काम के सम्बन्ध में जो हिन्दुस्तान के हित में हुआ, और जिसके पीछे भारतीय जनमत का समर्थन हुआ, नियन्त्रण लगाना कभी सम्भव नहीं हो सकेगा। इन लोगों को प्रांतीय शासन के प्रारम्भिक काल में आशा के लिए बड़े चिह्न मिले, और उन्हें वे ख़तरे के उन संकेतों के मुक़ाबिले में बड़ा समझते थे, जो इस बीच उनके सामने आये। परन्तु, अब वे निरुत्साहित हो गए हैं, और कांग्रेस नेताओं के वर्त्तमान रवैये से सचमुच क्षुब्ध हैं, और उन्हें शक होने लगा है कि ये लोग हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्रात्मक आधार पर सच्चा स्वराज्य जल्दी-से-जल्दी स्थापित कर लेने के लिए

क्या सचमुच उत्सुक हैं, या उनका उद्देश्य केवल कांग्रेस को हिन्दुस्तान का सबसे सशक्त राजनैतिक दल, और कांग्रेस के नेताओं के हाथ में शक्ति के सारे सूत्र केन्द्रित कर देने भर का है।"[१]

भारतीय राष्ट्रीयता ने आरम्भ से ही १६३५ की शासन-योजना का विरोध किया, और अब तो वह उसे बिल्कुल ठुकरा चुकी है : दस वर्ष पहले जो चीज़ अमान्य थी, आज की परिवर्धित और विकसित जन-जागृति के सामने वह त्याज्य और हेय हो चुकी है : जीवित रहने के लिए हमें भविष्य के सिंहद्वार में प्रवेश करना है, भूतकाल की मुर्दा गलियों में लौटने की आवश्यकता नहीं। १६३५ के शासन-विधान की सबसे बड़ी ख़राबी यह थी कि उसमें सत्ता के आधार परिवर्त्तन से अधिक ज़ोर उसके नियन्त्रण पर था। शासन के हर क्षेत्र में नियन्त्रण, और नियन्त्रण पर नियन्त्रण, लगे हुए थे। ऐसी परिस्थिति में सब कुछ इस बात पर निर्भर था कि अंग्रेज़ी सरकार उसे कार्यान्वित करने में उदारता से काम ले—और इंग्लैण्ड में अनुदार दल के प्रभुत्व के बढ़ने के साथ-साथ यह उदारता ख़त्म होती जा रही थी। यदि हम १६३५ की योजना के निर्माण की वैचारिक पृष्ठ-भूमि को देखें तो हमें पता लगेगा कि १६३० में उसका आरम्भ एक अच्छे वातावरण में हुआ था, पर १६३५ तक, जब उसने क़ानून की शक्ल ली, सारा वातावरण बदल गया था, और १६३६ तक, जब उसे उठा कर एक ओर रख दिया गया, हिन्दुस्तान के प्रति अंग्रेज़ी सरकार का रुख़ बहुत ही संदेह-शील और प्रतिक्रियावादी बन गया था। १६३५ के शासन-विधान की बड़ी कमी यही थी कि उसे अच्छा या बुरा रूप देना भारतीय राष्ट्रीयता के हाथ में नहीं, अंग्रेज़ी सरकार के हाथ में था। इसी का परिणाम यह हुआ कि १६३७ में जब अंग्रेज़ी सरकार ने प्रांतीय सरकारें क़ायम करना चाहा, वे बन गईं। दो वर्षों तक उसने जनसत्तात्मक प्रवृत्तियों के साथ अपना सहयोग रखा, पर १६३६ के अन्त में जब उन्होंने उन प्रवृत्तियों को सशक्त बनते देखा; उनसे अपना सहयोग खींच लिया, और, ताश के महल के समान प्रांतीय सरकारें ज़मीन पर आ गिरीं! १६३५ के विधान में कुछ अधिकार चाहे भारतीयों को दे दिये गए हों, पर सार्वभौम-सत्ता का अणु-मात्र भी अंग्रेज़ी सरकार के द्वारा छोड़ा नहीं गया था—अन्यथा जनता की आवाज़ को यों रौंदा नहीं जा सकता था। प्रजातन्त्र की भावना का अगर ज़रा भी ख्याल रखा गया होता, तो १६३६ में यदि अंग्रेज़ी-सरकार को इस बात का विश्वास हो गया था कि कांग्रेसी मंत्रि-

१—सर जॉर्ज शूस्टर : India and Democracy, १६४१, पृ० ३३६-४०।

मण्डलों के पीछे भारतीय जनमत नहीं है, तो उसे उनके स्थान पर अधिक प्रतिनिधि-मन्त्रियों को नियुक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए था, न कि गवर्नर के हाथों में सारे अधिकार सौंप देने का डिक्टेटरशाही काम करना था। इस संबंध में यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि शासन-विधान की रूप-रेखा चाहे कुछ भी हो, हमारे देश में पार्लमेण्टरी ढङ्ग का शासन हो अथवा प्रेज़ीडेंटी ढङ्ग का, उसे हम डोमिनियन-स्टेटस का नाम दे लें या मुकम्मिल आज़ादी के नाम से पुकारें, हम सार्वभौम सत्ता का पूर्ण रूप से अंग्रेज़ी सरकार के हाथों से हटाया जाना व भारतीय जनता के हाथों में सौंपा जाना चाहते हैं। इसके सम्बन्ध में समझौते की बातचीत करने का समय अब नहीं रहा। इस दृष्टि से १९३५ के शासन-विधान की हम भर्त्सना ही कर सकते हैं। उसमें सत्ता के परिवर्त्तन का कोई आयोजन नहीं था, न कोई इरादा ही था—बल्कि उसे मज़बूती से पकड़े रहने का दुराग्रह था।

हमारे आन्तरिक प्रश्नों को भी १९३५ का शासन-विधान ठीक से सुलझा नहीं पाया था। सांप्रदायिक समस्या का उसमें निदान नहीं था। बल्कि यह कहना चाहिए कि सांप्रदायिक कड़वाहट के सारे कारणों को बदस्तूर क़ायम रखते हुए उसमें, प्रांतीयता को प्रोत्साहन देकर, भारतीय राष्ट्रीयता को एक दूसरी ओर से चीरने का प्रयत्न किया गया था। सांप्रदायिक चुनाव का सिद्धान्त वैसा ही अक्षुण्ण रखा गया था। मैक्डॉनल्ड-निर्णय के अनुसार पंजाब और बंगाल को मुस्लिम-बहुसंख्यक प्रांत बना कर और सिन्ध और सीमा-प्रांत में मुस्लिम-सरकारों की स्थापना संभव करके हिंदू-प्रांतों के विरुद्ध मुस्लिम-प्रांतों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न भी किया गया था : सांप्रदायिकता से प्रांतीयता के गठबंधन का यह एक अनोखा प्रयोग था। संघ-शासन के वास्तविक सिद्धान्तों पर उसका संगठन न होने के कारण प्रान्तीय इकाइयों को वे अधिकार नहीं मिले थे, जो सांप्रदायिक समझौते की दिशा में उपयोगी होते। प्रांतों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गई थी। प्रांतीय आत्मनिर्णय के लिए उसमें गुञ्जाइश नहीं थी। इसलिए केन्द्र के प्राधान्य का डर था—उधर, केन्द्र निर्बल था, और अंग्रेज़ी सरकार पर ही सर्वथा आश्रित था। सच तो यह है कि १९३५ के विधान में संघ-शासन के निर्माण का प्रयत्न नहीं था, बल्कि एक केन्द्रीभूत शासन को ही, उसके दांत और पंजे छिपाने के लिए, संघ-शासन का आकर्षक खोल पहिना दिया गया था। प्रजा-सत्ता की भावना दबोच दी गई थी, और उस डरी-सहमी, दबी-छिपी, प्रजा सत्ता पर, पीछे के दर्वाज़े से, देशी राज्यों के आक्रमण का पूरा आयोजन था। देशी राज्यों को ब्रिटिश भारत के साथ कुछ इस रूप से

संबद्ध किया गया था कि एक ओर तो राजाओं की स्वेच्छाचारिता के लिए पूरी सुविधा थी, और दूसरी ओर अंग्रेज़ी सरकार को अपनी डिक्टेटरशिप क़ायम रखने के लिए खुला मैदान मिल गया था : संघीय शासन पर देशी राज्यों के प्रतिक्रियात्मक प्रभाव के लिए पूरी से अधिक व्यवस्था थी—पर संघ के प्रगतिशील विचारों का उन पर प्रभाव नहीं पड़ सकता था। ऐसी स्थिति में, जब कि १९३५ की योजना न तो हिंदुस्तान और इंगलैण्ड के आपसी संबंधों का प्रश्न एक संतोषप्रद तरीक़े से सुलझा न पाई थी, और न हिंदुस्तान के आंतरिक प्रश्नों का ही कोई हल निकाल सकी थी, भारतीय राष्ट्रीयता ने यदि उसे ठुकरा दिया, तो इसमें आश्चर्य की बात क्या थी ?

एक अस्थायी शासन-योजना का प्रश्न

१९३७ और १९३९ के बीच में राजनैतिक घटनाओं का क्रम कुछ विचित्र-सा रहा। १९३७ में कांग्रेस ने प्रांतीय शासन को क्रियान्वित करना तो स्वीकार कर लिया था, पर केन्द्रीय शासन-संबंधी योजना से वह बहुत ज़्यादा असंतुष्ट थी, और श्रीमती नायडू के शब्दों में, चिमटे से भी उसका स्पर्श करने के लिए तैयार न थी। उधर, सरकार उसे अमली रूप देने के लिए उद्यत दिखाई दे रही थी। पर, आने वाले दो वर्षों में तस्वीर की शक्ल ही बहुत ज़्यादा बदल गई। प्रांतीय शासन को चलाने के अपने अनुभव से कांग्रेस ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि उसे वैसी ही सदिच्छा का वातावरण मिला तो वह केन्द्रीय शासन को भी चला सकती है। अंग्रेज़ी सरकार की नेकनीयती में कांग्रेस का विश्वास कुछ जमता-सा जा रहा था। अब वह आशा कर रही थी कि गवर्नर-जनरल द्वारा भी संरक्षण और नियंत्रण के विशेष अधिकार वैसी ही कंजूसी से प्रयोग में लाये जायंगे जिसका प्रदर्शन प्रांतीय गवर्नरों ने किया था। उधर ब्रिटिश भारत में राजनैतिक जागृति के बढ़ने के साथ देशी राज्यों की प्रजा भी अपने नागरिक और राजनैतिक अधिकारों के सम्बन्ध में अधिक जागरूक होती जा रही थी, और उसकी उत्तरदायी शासन की मांग बढ़ती जा रही थी। स्थान-स्थान पर सत्याग्रह आदि भी हो रहे थे। देशी राज्यों की जनता के द्वारा प्रजासत्तात्मक संस्थाओं के निर्माण की मांग का अप्रत्यक्ष समर्थन वायसराय और भारतीय सरकार के कुछ उच्च अधिकारियों द्वारा मिल रहा था। ऐसी स्थिति में कांग्रेस का यह डर भी कुछ कम होता जा रहा था कि संघीय शासन में देशी राज्यों का प्रभाव सर्वथा प्रतिक्रियावादी होगा। उसे यह आशा हो चली थी कि केन्द्रीय धारा-सभाओं में देशी राज्यों की ओर से जो प्रतिनिधि होंगे उनके चुनाव में वहां की प्रजा का भी कुछ हाथ होगा। इन परिस्थितियों में १९३५ की शासन-योजना

के प्रति कांग्रेस के विरोध की तीव्रता कुछ कम होती जारही थी, परन्तु दूसरी ओर, देशी नरेशों और अंग्रेज़ी सरकार की ओर से उसके समर्थन का उत्साह भी शिथिल पड़ता जारहा था। देशी नरेशों ने संघ-शासन को प्रारम्भ में तो इस आशा से स्वीकार कर लिया था कि वह उन्हें, अपनी स्वेच्छाचारिता का परित्याग किये विना, अखिल भारतीय राजनीति पर प्रभाव डालने का एक अभूतपूर्व अवसर देगा, पर ज्यों-ज्यों संघ-शासन की मूल-प्रवृत्ति से वे परिचित होते गए, और उन्हें इस बात का अहसास होता गया कि उनकी अपनी सार्वभौमता पर भी केन्द्रीय शासन और, उसका माध्यम लेकर, प्रजासत्तात्मक शक्तियों का आक्रमण निश्चित है, वे सशंकित और संघ-शासन के प्रति उदासीन होते गए।[1] अंग्रेज़ी सरकार द्वारा उसकी स्वीकृति का मुख्य आधार देशी नरेशों की स्वीकृति में था। संघ-शासन उस समय तक अमल में लाया ही नहीं जा सकता था जब तक देशी नरेशों का बहुमत उसमें शामिल होने के लिए तैयार न होजाय। वैसा न होने में सत्ता के प्रगतिशील हाथों में चले जाने का डर था। १९३९ के आरम्भ तक देशी नरेशों का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट होगया था। महायुद्ध के छिड़ जाने पर अंग्रेज़ी सरकार को, उसकी आड़ में, संघ-शासन की योजना को बिल्कुल ही परित्याग कर देने का बड़ा अच्छा अवसर मिल गया।

प्रांतीय शासन के कांग्रेस द्वारा परित्यक्त किये जाने, और १९३५ की योजना के केन्द्रीय पक्ष की अन्त्येष्टि स्वयं अंग्रेज़ी सरकार के द्वारा हो चुकने, पर हमारी वैधानिक समस्या ने एक दोहरा रूप ले लिया। एक ओर तो वर्त्तमान गत्यावरोध को मिटाने के लिए किसी तात्कालिक विधान की आवश्यकता थी, और दूसरी ओर एक ऐसा स्थायी शासन-विधान बनाना था जो इस देश की मूल-भूत समस्याओं का समाधान कर सके। लड़ाई के दिनों में अधिक आवश्यकता एक तात्कालिक विधान की थी, पर कुछ तो देश की बढ़ती हुई राजनैतिक मांग को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से, और कुछ तात्कालिक योजनाओं के खोखलेपन को छिपाने के विचार से, भविष्य के सम्बन्ध में भी कुछ आशाएं दिलाई गईं। लड़ाई के आरम्भ होते ही वायसराय ने देश के प्रमुख नेताओं से बातचीत की, और अक्टूबर १९३९ में देश के सामने प्रस्ताव रखा कि वह एक ऐसी सलाहकार-समिति का निर्माण करने के लिए तैयार हैं, जिसमें सभी प्रमुख राजनैतिक दलों और देशी-नरेशों के प्रतिनिधि शामिल हों, जो अपनी बैठकें

१—संघ-शासन के प्रति देशी नरेशों के दृष्टिकोण में जो परिवर्त्तन हुआ उसके ऐतिहासिक विकास के सम्पूर्ण विवेचन के लिए देखिये—डा०, रघुबीरसिंह ; Indian States and the New Regime.

स्वयं उनके संरक्षण में, और उनके निमंत्रण पर, करे और युद्ध के संचालन में भारतीय जनमत को सरकार के साथ रखे। जब वर्त्तमान के इस छिछले प्रलोभन का भारतीय राष्ट्रीयता पर कुछ प्रभाव न पड़ा तब, जनवरी १६४० में, बंबई ओरिएण्ट-क्लब के अपने भाषण में, वायसराय ने भविष्य के सम्बन्ध में एक सोनहला चित्र सामने रखा। वायसराय ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी नीति का लक्ष्य युद्ध के समाप्त होने के बाद, कम-से-कम समय में, औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना करना है। इस भाषण में पहिली बार यह कहा गया था कि औपनिवेशिक स्वराज्य हिंदुस्तान का लक्ष्य है—१६३५ के शासन-विधान में से इस घोषणा को बड़ी चालाकी के साथ निकाल दिया गया था—और यह औपनिवेशिक स्वराज्य वेस्टमिंस्टर विधान के ढंग का होगा। १६३५ की योजना को अभी बिल्कुल ख़त्म नहीं कर दिया गया था—यह कहा गया कि भारतीय जनमत यदि अनुकूल रहा तो युद्ध के समाप्त होने पर उस पर फिर से विचार किया जायगा। तात्कालिक समाधान की दिशा में सलाहकार-समिति की स्थापना के स्थान पर वायसराय ने यह स्वीकृत कर लिया कि वह अपनी कार्यकारिणी-सभा में कुछ राजनैतिक नेताओं को लेने के लिए तैयार हैं—बशर्त्ते कि 'महान् जातियों' के नेता उन्हें आश्वासन दे सकें कि वे, आपसी मतभेदों को भुलाकर, उनके नेतृत्व में, युद्ध-प्रयत्नों में अपना पूरा सहयोग देने के लिए तैयार हैं। हिंदुस्तान को अपने भाग्य-निर्णय का अधिकार देने का प्रश्न अभी भी नहीं उठा था। अगस्त १६४० में, इस एकता की अनुपस्थति में ही वायसराय ने अपनी कार्यकारिणी-समिति में कुछ हिंदुस्तानियों को ले लेने की घोषणा की। भविष्य के संबंध में दो महत्त्वपूर्ण सूचनाएं वायसराय की इस घोषणा में थीं। पहिली तो अल्पसंख्यक वर्गों के लिए थी। उन्हें आश्वासन दिया गया था कि कोई भी वैधानिक योजना उनकी सहमति के बिना कार्यान्वित नहीं की जायगी, और दूसरे यह स्पष्ट कर दिया गया था कि हिंदुस्तान के भावी विधान के निर्माण का उत्तरदायित्व प्रधानतः हिंदुस्तानियों पर ही रहेगा, और उसका आधार भारतीय जीवन को अभिव्यक्त करने वाली सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं की भारतीय कल्पनाओं पर होगा—पर साथ ही अंग्रेज़ी सरकार अपने उन कर्त्तव्यों और अधिकारों को भी भुला नहीं सकेगी जो उसने हिंदुस्तान के साथ के अपने दीर्घकालीन सम्पर्क से प्राप्त किये हैं।

वर्त्तमान के संबंध में यह योजना अपमान-जनक और भविष्य के संबंध में अस्पष्ट और ख़तरनाक थी। क्रिप्स ने भावी-विधान के सम्बन्ध में कुछ अधिक स्पष्ट सुझाव सामने रखे—

१. उन्होंने एक भारतीय संघ (Indian Union) की कल्पना की, जिसका दर्जा आन्तरिक व्यवस्था व विदेशी संबंधों के क्षेत्र में ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अन्य उपनिवेशों की बराबरी का होगा।

२. इस भारतीय संघ के विधान का निर्माण, अंग्रेज़ी पार्लमेंट के द्वारा नहीं, जनता द्वारा चुनी हुई सभा के द्वारा होगा।

३. इस विधान-निर्मातृ सभा में देशी राज्यों का भाग लेना अनिवार्य होगा।

४. इस भारतीय संघ में शामिल होने या न होने का अधिकार प्रांतों को होगा—वे यदि चाहेंगे तो अपनी वर्त्तमान वैधानिक स्थिति को क़ायम रख सकेंगे, और बाद में भी भारतीय संघ में शामिल होने की उन्हें स्वाधीनता होगी। यदि वे चाहेंगे तो अपने लिए एक अलहदा विधान बना लेने का अधिकार भी उन्हें होगा।

५. इस विधान-निर्मातृ सभा और अंग्रेज़ी सरकार के बीच एक संधि पर हस्ताक्षर किये जायंगे, जिसमें उन सब आवश्यक बातों का विस्तृत लेखा होगा जो अंग्रेज़ों के हाथ से हिंदुस्तानियों के हाथ में सत्ता के संपूर्ण रूप से दिए जाने से संबंध रखती हों।

६. इस संधि में, अंग्रेज़ी सरकार द्वारा दिये गए आश्वासनों के आधार पर, ज़ातीय और धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों के संरक्षण का पूरा निर्वाह होगा।

७. युद्ध के समाप्त हो जाने पर प्रांतीय चुनाव होंगे, और उसके फ़ौरन बाद ही प्रांतीय धारा-सभाओं के नीचे के चेम्बरों के समस्त सदस्य मिल कर, आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) के सिद्धांत के आधार पर एक विधान-निर्मातृ सभा का चुनाव करेंगे, जिसके सदस्यों की संख्या चुनाव करने वाली सभा का दशमांश होगी।

८. यदि प्रमुख सम्प्रदायों के नेता विधान-निर्मातृ सभा के चुनाव के लिए किसी अन्य सिद्धांत पर सहमत हो सकें तो उसे स्वीकृत किया जा सकेगा—वैसा न होने पर उसका चुनाव उपर्युक्त पद्धति से ही होगा।

९. इस विधान-निर्मातृ सभा में भारतीय राज्यों को अपनी आबादी के उसी अनुपात में प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार होगा जिसमें ब्रिटिश भारत के सदस्य चुने गए होंगे, और उन्हें अधिकार भी वैसे ही होंगे, जैसे ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों को।

भविष्य के संबंध में यह योजना, कुछ शाब्दिक और कुछ मूलभूत परि-

वर्त्तनों के साथ, भारतीय राष्ट्रीयता को स्वीकार्य हो भी जाती; पर वर्त्तमान के संबंध में सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स उन पिछले प्रस्तावों से आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं थे, जो वायसराय और भारत-मंत्री अगस्त १६४० से अब तक इतने बार दोहराते रहे थे कि अब उनसे घृणा हो चली थी, और जिनके लिए प्रारम्भ में स्वयं क्रिप्स ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में बुरा-भला कहा था, और भारतीय राष्ट्रीयता भविष्य के भुलावे में वर्त्तमान को भूलने के लिए तैयार नहीं थी।

भविष्य की इस योजना को ज्यों-का-त्यों रखते हुए, वर्त्तमान के सम्बन्ध में पहिला क़दम जून १६४५ के वेवल प्रस्तावों में उठाया गया। वेवल-प्रस्तावों में एक बार फिर इस बात को दोहराया गया कि अंग्रेज़ी सरकार की मंशा हिंदुस्तान को पूर्ण-स्वराज्य की ओर ले जाने की है, और वह किसी प्रकार का वैधानिक समझौता उस पर लादना नहीं चाहती। वायसराय ने एक नई कार्यकारिणी सभा के निर्माण की घोषणा की, जिसमें संगठित राजनैतिक जनमत का अधिक प्रतिनिधित्व होने की व्यवस्था थी। इस सभा में प्रतिनिधित्व का आधार राजनैतिक नहीं, सांप्रदायिक रखा गया। उस सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का आधार यह था कि कार्यकारिणी सभा में ऊंची जाति के हिंदुओं और मुसल्मानोंकी संख्या बराबर रखी गई थी। यदि विभिन्न सांप्रदायिक दलों के राजनैतिक नेता इन प्रस्तावों को मान लेते तो मौजूदा विधान के अन्तर्गत वे कार्यकारिणी-सभा बना सकते थे। वैसी स्थिति में वायसराय और कमांडर-इन-चीफ़ को छोड़कर कार्यकारिणी के सारे सदस्य भारतीय होते। युद्ध-मन्त्रित्व का भार तो सेनाध्यक्ष के हाथ में छोड़ना ज़रूरी था ही, पर वायसराय विदेशी नीति के विभाग को भारतीय मंत्री को सौंप देने के लिए प्रस्तुत थे। इन प्रस्तावों के अनुसार, अन्य उपनिवेशों के समान, हिंदुस्तान में भी एक अंग्रेज़ हाई कमिश्नर की नियुक्ति की जाने का प्रस्ताव था, और हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों के व्यापारिक स्वार्थों के संरक्षण का दायित्व उसे सौंपा जाने का विचार था। इन प्रस्तावों में दो बड़ी ख़राबियां थीं। एक तो ऊंची जाति के हिंदुओं को, जिनकी संख्या ६६ प्रतिशत से अधिक है, मुसल्मानों के, जो भारतीय आबादी के २४ प्रतिशत से अधिक नहीं हैं, बराबर ले आया गया था। दूसरे, वायसराय ने भूलाभाई-लियाक़तअली बातचीत के आधार पर कांग्रेस और लीग को बराबर स्थान मिलने का जो राजनैतिक प्रस्ताव था, उसे सांप्रदायिक रूप दे दिया था—और यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि कांग्रेस केवल हिंदुओं का ही प्रतिनिधित्व करती है। वायसराय ने जब, अप्रत्यक्ष रूप से, कांग्रेस के राष्ट्रीय संस्था होने के दावे को मान लिया, तब कांग्रेस ने भी सवर्ण हिंदुओं और मुसल्मानों के समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को अपना

विरोध वापिस ले लिया। परन्तु, मुस्लिम-लीग द्वारा पेश किये गए इस दावे पर कि भारतीय मुसल्मानों की एकमात्र प्रतिनिधिक संस्था केवल वही है, और मलिक ख़िज़रहयातख़ां और अन्य मुसल्मान नेताओं द्वारा ही उस दावे के विरोध के परिणाम-स्वरूप, शिमला-कान्फ्रेंस असफल घोषित कर दी गई। इस बीच, महायुद्ध भी समाप्त होचुका था, और चारों ओर से यही राय व्यक्त की जाने लगी थी कि अब तात्कालिक समाधान का समय निकल गया है, और यह आवश्यक होगया है कि हिंदुस्तान के लिए एक स्थायी शासन-विधान बनाया जाय। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय और प्रांतीय धारा-सभाओं के चुनाव की घोषणा की गई, और अब कहा यह जा रहा है कि इन चुनावों का परिणाम घोषित हो जाने के बाद स्थायी शासन-योजना का निर्माण-कार्य हाथ में लिया जायगा।

विधान-निर्मातृ सभा की मांग

पिछले ५-६ वर्षों में अंग्रेज़ी सरकार के द्वारा तात्कालिक समाधान और स्थायी शासन के सम्बन्ध में जो योजनाएं प्रस्तुत की जाती रही हैं—उनकी चरम-सीमा एक ओर वेवल-प्रस्तावों और दूसरी ओर क्रिप्स-योजना में है—कांग्रेस के आदर्शों से वे बहुत नीचे रह जाती हैं। तात्कालिक समाधान की दिशा में कांग्रेस अपने सिद्धांतों से बहुत दूर तक समझौता कर लेने के लिए तैयार थी, पर वह यह ज़रूर चाहती थी कि केन्द्रीय-शासन के आन्तरिक व्यवस्था संबंधी भाग का एक बड़ा अंश भारतीय जनमत के प्रभाव में हो, और साथ ही अंग्रेज़ी सरकार यह घोषणा भी कर दे कि वह लड़ाई ख़त्म होने के फौरन बाद ही हिंदुस्तान की आज़ादी को मान लेगी। तात्कालिक समाधान में वह इस निश्चय का एक स्पष्ट, और क्रियात्मक, आभास चाहती थी। सलाहकार-समिति और छाया मन्त्रिमण्डल (shadow cabinets) उसे लुभा नहीं सकते थे। युद्ध की भीषणता ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, कांग्रेस ने अधिक-से-अधिक समझौते की भावना का प्रदर्शन किया। कांग्रेस का पूना-प्रस्ताव, जिसमें उसने अहिंसा के सिद्धांत को भी एक ओर रख कर युद्ध के प्रयत्नों में सहायता देने का अपना विचार प्रगट किया था, इस दिशा में सबसे बड़ा क़दम था। मुकम्मिल आज़ादी की अपनी मांग को दोहराते हुए और उसको फ़ौरन घोषित किये जाने की मांग को क़ायम रखते हुए, कांग्रेस ने, तात्कालिक समाधान की दिशा में, अपना यह प्रस्ताव रखा कि केन्द्र में एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर दी जाय, जिसमें केन्द्रीय धारासभा में चुने गए सभी राजनैतिक तत्वों का प्रतिनिधित्व हो, और जो प्रांतों के उत्तरदायी शासन के पूरे सहयोग में काम कर सके। बारदोली-प्रस्तावों के द्वारा कांग्रेस ने एक बार फिर समझौते का दर्वाज़ा खोलने की

कोशिश की। पर अंग्रेज़ी सरकार के अविश्वास और संपूर्ण सत्ता को अपने हाथों में रखने के दृढ़ निश्चय के सामने ये सब प्रयत्न असफल रहे। यह निश्चित है कि युद्ध के दिनों में कांग्रेस अपने सिद्धांतों के साथ काफ़ी दूर तक समझौता करने के लिए तैयार हो जाती, पर जहां तक भविष्य का सम्बन्ध है, मुकम्मिल आज़ादी के प्रश्न पर वह किसी तरह का समझौता नहीं करेगी। जैसा कि १९४० के रामगढ़-अधिवेशन में उसने घोषित किया, "हिंदुस्तान की जनता संपूर्ण आज़ादी से कम कोई भी चीज़ स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। साम्राज्य-वाद के ढांचे में हिंदुस्तान की आज़ादी की कल्पना नहीं की जा सकती। औप-निवेशिक स्वराज्य, अथवा साम्राज्यवादी ढांचे के अन्तर्गत किसी अन्य प्रकार का विधान, हिंदुस्तान के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होगा, वह एक महान् राष्ट्र के गौरव के अनुकूल नहीं होगा, और अनेकों प्रकार से हिंदुस्तान को अंग्रेज़ी राजनीति और आर्थिक ढांचे के शिकंजे में जकड़ देगा।" १९४२ का अगस्त-प्रस्ताव, इसी भावना की एक ज़ोरदार उद्घोषणा, था।

कांग्रेस ने आरम्भ से ही इस बात से इन्कार किया है कि हमारे देश के शासन-विधान के निर्माण का काम अंग्रेज़ी सरकार पर छोड़ा जा सकता है: १९३५ के विधान के उसके विरोध का मूल कारण यही था। उसका विश्वास है कि यह काम एक ऐसी भारतीय विधान-निर्मातृ-सभा के द्वारा किया जाना चाहिए, जिसका चुनाव देश के सभी वयस्क व्यक्तियों द्वारा हो। १९३६ के चुनाव-आन्दोलन में जवाहरलाल नेहरू ने इस विचार को तेज़ी के साथ देश के कोने-कोने में फैला दिया था: कांग्रेस की चुनाव-घोषणा का भी वह एक महत्त्वपूर्ण अंग था। चुनाव जीत लेने के बाद, मार्च १९३७ में, कांग्रेस-कमेटी ने १९३५ के विधान की भर्त्सना करते हुए कहा, "जनता ने इस बात की घोषणा भी कर दी है कि वह अपना विधान अपने-आप बना लेना चाहती है, उस विधान का आधार होगा राष्ट्रीय स्वाधीनता, और उसके बनाने का दायित्व होगा एक विधान-निर्मातृ सभा पर, जिसके निर्माण में देश के सभी वयस्क व्यक्तियों का हाथ होगा।" सच तो यह है कि कांग्रेस ने पद-ग्रहण ही इसलिए किया था कि "वह मौजूदा विधान को तोड़ दे, और एक विधान-निर्मातृ सभा के निर्माण, और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए, ज़मीन तैयार करे।" १९३९ के अन्त में कांग्रेस की वर्किङ्ग-कमेटी ने इस विचार की कुछ और विस्तृत व्याख्या की। अल्प-संख्यक वर्गों के संबंध में यह तय किया गया कि उसका आधार देश की आबादी में इन वर्गों की संख्या के अनुपात में होगा, और यदि ज़ोर दिया गया तो उनके चुनाव में सांप्रदायिक आधार भी रखा जा सकेगा। यह सभा

एक ऐसा विधान बना सकेगी जिसमें अल्प-संख्यक वर्गों के अधिकार ऐसे होंगे जो उन्हें तृप्त कर सकेंगे और इन अधिकारों के संबंध में यदि कोई बात ऐसी हुई जिसपर एक-मत नहीं हुआ जा सका तो उसका निर्णय किसी बाहरी शक्ति पर, जिसमें दोनों पक्षों का विश्वास हो, छोड़ा जा सकेगा।" कांग्रेस-वर्किङ्ग-कमेटी की राय में "किसी आज़ाद देश का विधान बनाने के लिए यही एकमात्र प्रजासत्तात्मक मार्ग है, और कोई भी व्यक्ति जो प्रजातन्त्र और आज़ादी में विश्वास रखता है, इसके विरुद्ध नहीं जा सकता।" कांग्रेस की राय में यह सभा ही "सांप्रदायिक और दूसरी कठिनाइयों को दूर करने का एक-मात्र साधन" हो सकती है। इसके कुछ ही दिन बाद गांधीजी ने भी विधान-निर्मातृ सभा की इस मांग को अपना लिया। मार्च १६४० में कांग्रेस ने अपने खुले अधिवेशन में इसका समर्थन किया। अगस्त १६४२ के 'खुले विद्रोह' में भी कांग्रेस की दृष्टि विधान-निर्मातृ सभा पर ही गड़ी थी। जवाहरलाल जी ने वर्किङ्ग-कमेटी के वर्धा-प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए कहा, "हिन्दुस्तान से अंग्रेज़ी राज्य के ख़त्म हो जाने पर देश के ज़िम्मेदार व्यक्ति मिल कर एक अस्थायी सरकार का निर्माण कर लेंगे, जिसमें भारतीय जनता के सभी प्रमुख तत्त्वों का प्रतिनिधित्व होगा; और जो बाद में एक ऐसी योजना बना लेगी जिसके द्वारा विधान-निर्मातृ सभा का निर्माण किया जायगा, और यह सभा भारतीय शासन के लिए एक ऐसा विधान तैयार करेगी, जो देश के सभी वर्गों को मान्य होगा।"

मुस्लिम-लीग द्वारा इस मांग का आरम्भ से ही विरोध किया जा रहा था। मि० जिन्ना की राय में यह विधान-निर्मातृ-समिति "कांग्रेस के आदमियों से भरी हुई और एक छोटे से दल के इशारे पर काम करने वाली" होगी। अंग्रेज़ी सरकार ने अपनी अगस्त १६४० की घोषणा में मान लिया था कि "नये विधान के बनाने के लिए युद्ध के बाद एक प्रतिनिधिक भारतीय संस्था का निर्माण आवश्यक होगा, और इस बीच अंग्रेज़ी सरकार उन प्रयत्नों का स्वागत, और उनसे पूरा सहयोग करेगी, जो विधान बनाने वाली इस संस्था की रूप-रेखा और कार्य-पद्धति के संबंध में देश में एक-मत बनाने की दिशा में किये जायंगे।" परन्तु इस संस्था (constitution-making body) में और कांग्रेस द्वारा जिस विधान-निर्मातृ सभा (Constituent Assembly) की मांग की जा रही थी उसमें ज़मीन-आस्मान का अन्तर है : एक प्रतिनिधि भारतीय सभा द्वारा, जिसके चुनाव और अधिकार के प्रश्न अभी अनिश्चित थे, शासन-योजना का निर्माण एक बात है, और भारतीय जनता द्वारा चुनी गई विधान-निर्मातृ सभा द्वारा, जिसके पास अन्तिम सार्वभौम सत्ता हो, इस योजना का निर्धारित

किया जाना बिल्कुल दूसरी बात है। क्रिप्स-प्रस्तावों में अंग्रेज़ी-सरकार एक क़दम आगे बढ़ी है। क्रिप्स ने अपनी योजना में एक विधान बनाने वाली सभा का ज़िक्र किया है, पर वह कांग्रेस की कल्पना के अनुसार देश के सभी वयस्क व्यक्तियों द्वारा सीधे चुनाव द्वारा बनाई जाने वाली सभा नहीं है, उसका निर्माण प्रांतीय धारा-सभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा होगा। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, पर जनता द्वारा चुनी गई विधान-निर्मातृ सभा के सिद्धान्त को मान कर, अंग्रेज़ी सरकार ने प्रगट-रूप से जो एक आगे की तरफ क़दम उठाया था, वह उस सभा में देशी राज्यों के ऐसे प्रतिनिधियों को स्थान देकर, जिनके चुनाव में जनता की इच्छा-अनिच्छा पर बिल्कुल ज़ोर नहीं दिया गया था, अप्रत्यक्ष-रूप से उसे पीछे खींच लेने के समान था। क्रिप्स-प्रस्तावों को अस्वीकृत करते हुए कांग्रेस की वर्किङ्ग-कमेटी ने कहा, "विधान-निर्मातृ सभा का निर्माण भी कुछ ऐसे ढङ्ग से प्रस्तावित किया गया है, जिसमें जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार के अ-प्रतिनिधि तत्त्वों के द्वारा अतिक्रमण किये जाने का डर है।" अंग्रेज़ी सरकार ने यह तो मान लिया है कि हिन्दुस्तान का भावी शासन-विधान हिन्दुस्तानियों के द्वारा ही बनाया जायगा, पर अभी भी वह विधान-निर्मातृ सभा के सम्बन्ध में कांग्रेस की मांग को, वैसे-का-वैसा ही, स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।

जनता द्वारा सीधे चुनी गई इस प्रकार की विधान-निर्मातृ सभा के विरोध में बहुत-सी बातें कही जाती हैं। पहली बात तो यह है कि कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित यह योजना अल्प-संख्यक वर्गों को मान्य नहीं है : मुस्लिम-लीग तो प्रारम्भ से उसका विरोध कर ही रही है, परन्तु अन्य अल्प-संख्यक वर्ग भी उसके सम्बन्ध में उत्साही नहीं हैं। यह सच है कि कांग्रेस ने गौण प्रश्नों के संबंध में समझौते के मार्ग पर ज़ोर दिया है, पर इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि बड़े-बड़े प्रश्नों के संबंध में बहुमत का निर्णय ही मान्य रहेगा। मुस्लिम-लीग इस सम्बन्ध में सहमत होने के लिए तैयार नहीं है। इसके साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवल इस विधान-निर्मातृ सभा के निर्माण का आधार देश के सभी वयस्क व्यक्तियों तक फैला देने से यह समस्या सुलझ जायगी : बहुत सम्भव है कि इस प्रकार के विस्तार से वह और उलझ जाय। मताधिकार की परिधि जितनी व्यापक बनाई जायगी, बे पढ़े-लिखे किसान और मज़दूर उसके अन्तर्गत आते जायंगे, और इसका नतीजा यही हो सकता है कि वे अपने को कुछ प्रभावशाली राजनैतिक नेताओं और दलों के हाथ में कठपुतली बना लेंगे। हिन्दू जनता सम्भवतः कांग्रेस की ओर झुकेगी, और मुसल्मान लीग की ओर।

ऐसी स्थिति में इन दोनों दलों की शक्ति के अनुपात में विशेष अन्तर नहीं आएगा, और चुनाव के क्षेत्र को इतना विस्तीर्ण करने पर खर्च किया गया रुपया और शक्ति व्यर्थ जायगी। सांप्रदायिक समस्या उससे तनिक भी न सुलझेगी। कांग्रेस मुसल्मान सदस्यों के चुनाव में सांप्रदायिक आधार को मान लेने के लिए भी तैयार है, ऐसी स्थिति में तो यही होगा कि चुनाव में १० या १५ करोड़ व्यक्ति हिस्सा ले सकेंगे—पर समझौता करने में हम उतने ही असमर्थ होंगे जितने आज हैं। संघर्ष में पड़े हुए व्यक्तियों के लिए अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ा लेना समझौते की दिशा में कभी सहायक नहीं होता है। यह भी कहा जाता है कि विधान-निर्मातृ-सभा की यह कल्पना उस समय चाहे व्यवहार-संगत रही हो, जब सांप्रदायिक वैषम्य इतना तीव्र नहीं था, पर आज की स्थिति में तो वह बिल्कुल ही अव्यवहार्य है। इस संबंध में एक और बात यह कही जाती है कि विधान के निर्माण का काम अनुभवी जानकारों का है, जनता का नहीं, और इन व्यक्तियों की संख्या जितनी कम हो, उतना अच्छा है। सर मॉरिस ग्वायर ने बनारस विश्व-विद्यालय के दीक्षांत भाषण में कहा था—"(एक ऐसी छोटी सभा में) सदस्य एक दूसरे को अच्छी तरह से जान जाते हैं, दूसरों के अच्छे गुणों को पहिचानने लगते हैं, और अपनी कमियों से भी अनभिज्ञ नहीं रहते। मस्तिष्कों के संघर्षण की प्रतिक्रिया होती ही है, और कुछ समय के बाद...। एक समष्टि की भावना जन्म लेती है, और उसमें से यदि एक सामान्य इच्छा-शक्ति उत्पन्न न भी हो तो रचनात्मक निर्णयों के लिए एक सामान्य-इच्छा तो जागृत हो ही जाती है।"[1] अपने इस दीक्षान्त भाषण में विद्वान् न्यायाधीश ने यह भी बताया कि जहां कहीं व्यापक मताधिकार के आधार पर विधान-निर्मातृ सभा का चुनाव हुआ है, उसे अपने कार्य में असफलता मिली है। १७६५ के क्रान्तिकारी फ्रांस में ६०० सदस्यों की राष्ट्रीय सभा (NationalConvention)द्वारा बनाये हुए विधान ने नैपोलियन और बीस वर्षों के युद्धों का स्वागत किया; १८४८ के प्रजातन्त्रात्मक फ्रांस में ६०० सदस्यों की विधान-निर्मातृ सभा ने 'दूसरे साम्राज्य' और फ्रांस के पतन की सृष्टि की।

१—रायटर के राजनैतिक संवाददाता को १६ नवम्बर १६४५ को दिये गए एक इण्टरव्यू में प्रो० लास्की ने कहा कि यह विधान-निर्मातृ सभा (१) छोटी हो, और (२) अमरीका का विधान बनाने वाली फ़िलाडेल्फ़िया की सभा के समान अपनी बैठकें गुप्त रखे, क्योंकि यदि उसकी सारी कार्यवाही खुले अधिवेशन में हुई, और उसमें आवेशपूर्ण वाद-विवाद रहे तो उसे अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने की उम्मीद कम ही रखना चाहिए।

१८४८ की जर्मन राष्ट्रीय सभा, जिसमें ५०० सदस्य शामिल थे, अपने काम में असफल रही। १९१९ की वाइमार की सभा भी, जिसमें ४२० सदस्य उपस्थित थे, किसी स्थायी विधान की नींव नहीं डाल सकी। रूस की विधान-निर्मातृ सभा, जिसका चुनाव ४॥ करोड़ व्यक्तियों के द्वारा हुआ था, केवल एक बार मिल सकी। इसके विपरीत, जितने स्थायी शासन अब तक बने हैं, वे सब थोड़े लोगों के द्वारा बनाये गए थे, जिनका चुनाव व्यापक जनता के द्वारा नहीं, अपनी धारासभाओं अथवा सरकारों के द्वारा हुआ था। फ़िलाडेल्फ़िया की जिस सभा ने अमरीका का शासन-विधान बनाया उसमें ३० सदस्यों से अधिक ने भाग नहीं लिया। कनाडा का विधान जिन दो सभाओं में बना उसमें क्रमशः २२ और ३३ सदस्य शामिल थे। आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका का विधान क्रमशः ५० और ३० व्यक्तियों के द्वारा बनाया गया। सोवियट रूस का वर्त्तमान विधान केवल ३१ व्यक्तियों ने बनाया। इन सब सभाओं में सारी कार्यवाही गुप्त रखी गई थी।

ये सब तर्क, ऊपर से देखने से, काफ़ी प्रभावशाली दिखाई देते हैं। पर, उनका आधार सच को छिपा लेने और झूठ पर ज़ोर देने में है। अंग्रेज़ी सरकार द्वारा मानी गई विधान-निर्मातृ सभा और कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित विधान-निर्मातृ सभा में मुख्य अन्तर यह नहीं है कि एक में सदस्यों की संख्या कम और उसकी कार्यवाही गुप्त रखने पर ज़ोर दिया गया है, और कांग्रेस का विश्वास एक बहुत बड़ी अबाध, अनियंत्रित सभा में है जो हर दलील पर लड़ने और झगड़ने के लिए तत्पर हो : कांग्रेस ने न तो कहीं उस सभा की बड़ी संख्या का ज़िक्र किया है, और न उसकी कार्यवाही के गुप्त रखने से अपना विरोध प्रगट किया है। इन दोनों प्रस्तावों में मुख्य अन्तर यह है कि सरकार उसके चुनाव का आधार बहुत संकुचित रखना चाहती है, और कांग्रेस चाहती है कि उसके पीछे हर वयस्क हिंदुस्तानी का नैतिक बल हो। मौलिक अन्तर प्रजातन्त्र के सिद्धांतों में अविश्वास और उनके प्रतिपादन का है। सरकार मताधिकार के दायरे को बढ़ाने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि यदि ऐसा किया गया तो उसमें जनता की अपार शक्ति के उभड़ आने का डर है, कांग्रेस उस शक्ति को उभाड़ना, और उसके व्यापक आधार पर देश के भावी शासन-विधान को प्रस्थापित करना, चाहती है। प्रजातन्त्र में इसके अलावा दूसरा मार्ग नहीं है। यदि हमें एक प्रजातन्त्र-शासन की नींव डालना है, तो उसके निर्माण की मशीनरी भी प्रजातन्त्रात्मक ही होनी चाहिए। जिन स्थायी शासनों की गणना सर मॉरिस ग्वायर ने अपने उपर्युक्त भाषण में की है, उन सबका निर्माण प्रजातन्त्र की

शक्तियों के द्वारा हुआ। विधान-निर्मातृ सभा को चुनने के साधारणतः दो मार्ग हैं—एक सीधे चुनाव का, जिसका अवलंबन आस्ट्रेलिया, जर्मनी, आस्ट्रिया, आयर्लैंएड और मध्य और पूर्वी यूरोप के कई अन्य राज्यों में किया गया, और दूसरा, राजनैतिक इकाइयों की धारा-सभाओं के द्वारा, जैसा कि अमरीका, दक्षिण अफ्रीका आदि में हुआ। दोनों का आधार प्रजातन्त्र के सिद्धांतों में है। जिन देशों में प्रांतीय धारा-सभाओं द्वारा विधान-निर्मातृ सभा का चुनाव हुआ है, उन सबमें ये धारा-सभाएं जनता को मिले हुए व्यापक मताधिकार पर ही क़ायम थीं, हमारे देश के समान यह मताधिकार सीमित और संकुचित नहीं था। यदि आज भी हमारी प्रांतीय धारा-सभाओं के चुनाव में भाग लेने का अधिकार प्रांत के प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को मिल जाय तो मुझे पूरा विश्वास है कि कांग्रेस विधान निर्मातृ सभा के अप्रत्यक्ष चुनाव के सिद्धांत को भी मान लेगी। साथ ही, यह भी आवश्यक होगा कि देशी राज्यों से आने वाले सदस्य, उसी व्यापक आधार पर, उन राज्यों की जनता द्वारा चुने जायं। यह मान लेना कि विधान बनाने का काम केवल बहुत बड़े विद्वानों, अथवा योग्य राजनैतिक नेताओं का है, चाहे उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त न हो, एक मिथ्यात्व को प्रश्रय देना है। जब तक वे जनता द्वारा चुने हुए व्यक्ति न हों, उनके द्वारा बनाये गए विधान का मूल्य, चाहे वह विधान कितना ही वैज्ञानिक और विद्वत्तापूर्ण तरीके से क्यों न बनाया गया हो, कौड़ी बराबर भी नहीं है। उसकी मेहनत वैसे ही बेकार जायगी जैसी १६३५ के विधान बनाने वाली गोलमेज़ परिषदों, संयुक्त पार्लमेएटरी कमेटी आदि की। सप्रू-कमेटी में विद्वानों की कमी नहीं थी, पर उनके जनता द्वारा चुने गए न होने के कारण उसके सुझाव बहुत-कुछ बे-मानी से हैं। जहां तक इस विधान-निर्मातृ सभा के सदस्यों की संख्या का सवाल है, यदि वह संख्या बहुत बड़ी भी हुई, तो हमें यह बात ध्यान में रखना है कि वह अपना काम खुले अधिवेशनों में कम ही करेगी, कमेटियों के द्वारा अधिक। कभी-कभी तो प्रमुख व्यक्तियों को भी यह काम सौंप दिया जाता है।[1] विभिन्न राजनैतिक दल तो अपनी-अपनी योजनाएं इस सभाके सामने पेश करते ही हैं।[2] कमेटियों का काम इन विभिन्न योजनाओं का अध्ययन करना होगा, और इन सब कमेटियों के काम को समन्वित करने का दायित्व भी एक कमेटी पर ही रखा जा

१—जैसे जर्मनी में ह्यूगो प्रियूस को, व जेकोस्लोवाकिया में प्रो० जीरी होयत्जेल को यह काम सौंपा गया था।

२—फ़िलाडेल्फ़िया सभा के सामने रैंडोल्फ-योजना और पैटर्सन-योजना आदि रखी गईं, और कनेक्टीकट समझौते के रूप में उन्हें समन्वित किया गया।

सकता है। विधान-निर्मातृ सभा के खुले अधिवेशन में तो प्रायः यही होता है कि उसकी किसी एक बैठक में विधान-निर्माण के आधार-भूत सिद्धांतों को मान लिया जाता है, और बाद की बैठकों में केवल कमेटियों की सिफ़ारिशों पर चर्चा भर होती है। इन कामों में सभा के सदस्यों की संख्या अधिक होने से कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। सच तो यह है कि विधान की स्वीकृति का आधार जितना व्यापक होगा, उसे उतना ही अधिक स्थायित्व मिल सकेगा।

विधान-निर्मातृ सभा के बन जाने पर अपनी कार्य-पद्धति के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार उसी को होगा। वह स्वयं अपना सभापति चुनेगी, विधान के आधार-भूत सिद्धांतों का निश्चय करेगी, और वैधानिक प्रश्नों के अध्ययन के लिए विभिन्न समितियों की स्थापना करेगी। हमारे भावी विधान की रूपरेखा संघ-शासन के सिद्धांत पर बनेगी अथवा केन्द्रीभूत-शासन के, इसका निर्णय विधान-निर्मातृ सभा ही करेगी।[1] केन्द्र और प्रांतों के बीच सत्ता का बंटवारा किस प्रकार होगा, शासन के विभिन्न भागों के आपसी संबंध क्या होंगे, मताधिधिकार किन लोगों को दिया जायगा, चुनाव की पद्धति क्या होगी, अर्थनीति पर किन नियंत्रणों की सृष्टि करना आवश्यक होगा, ये सब प्रश्न ऐसे हैं जिनका निर्णय विधान-निर्मातृ सभा ही करेगी। वह विभिन्न समस्याओं के अध्ययन के लिए कमेटियां नियुक्त करेगी, संभव है उनकी रिपोर्टों में सामंजस्य लाने के लिए भी एक कमेटी नियुक्त कर दे, और उनकी रिपोर्टों पर विचार करेगी, और इस अध्ययन और अनुशीलन, विचार-विनिमय और वाद-विवाद के बाद विधान को

१—मैं समझता हूँ कि विधान-निर्मातृ-सभा के निर्माण का आधार भारतीय एकता पर ही होना चाहिए। सारा देश मिल कर उसे चुने। उसमें प्रतिनिधित्व भारतीय जनता का हो, न कि विभिन्न प्रांतों का। प्रांतीय आत्म-निर्णय के आधार पर एक संघ-शासन के निर्माण का पूरा अधिकार तो उसे होगा ही, भारतीय एकता से चलकर प्रांतीय-स्वराज्य की ओर अग्रसर होना ही हमारी परिस्थितियों के अनुकूल है भी। यदि आरम्भ में ही प्रांतों को स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई मान लिया गया, और इस आधार पर विधान-निर्मातृ सभा का चुनाव हुआ, तो उसके कार्य में अकेन्द्रीकरण और विशृंखलता के तत्वों के बहुत प्रबल बाधा बन जाने का भय है। प्रांतीय आत्म-निर्णय और, एक काफ़ी दूर तक अकेन्द्रीकरण, की आवश्यकता को मानते हुए भी हमें भारतीय एकता पर उसे तरजीह नहीं देना है। और जबकि प्रांतीय सीमाओं का पुनर्निर्माण विधान-निर्मातृ सभा का एक मुख्य कार्य होगा, तब तो वर्त्तमान प्रांतों के आधार पर उसका चुनाव करना घोड़े के आगे गाड़ी को जोड़ने के समान होगा।

अन्तिम स्वीकृति देना भी उसी के अधिकार में होगा। अपने इस कार्य में वह अन्य देशों की विधान-निर्मातृ सभाओं के अनुभवों से भी पूरा लाभ उठायगी। इस सभा के द्वारा बनाया और स्वीकृत किया गया विधान ही समस्त भारतीय जनता के लिए मान्य होगा।[1]

विधान-निर्मातृ सभा के सम्बन्ध में दो अन्य शंकाओं का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। एक तो यह माना जाता है कि जब तक देश भर में मूल-भूत सिद्धांतों के संबंध में समझौता न हो जाय, तब तक विधान-निर्मातृ सभा को अपने कार्य में सफलता मिलना असंभव ही होगा। प्रो० कूपलैण्ड के शब्दों में, "मतदाताओं की एक बहुत बड़ी संख्या राजनैतिक दलों और सादे नारों की दया पर निर्भर रहेगी। करोड़ों मत 'गांधी और पीली पेटी' या 'इस्लाम ख़तरे में' के नाम पर पड़ेंगे।...सच तो यह है कि जब कि मतदाताओं के नाम दर्ज करने और उनके मत देने के लिए बहुत बड़ी व्यवस्था करने का काम समाप्त हो जायगा तब पता यही लगेगा कि यह काम तो, बिना अधिक महनत या ख़र्च के, मौजूदा व्यवस्था के द्वारा भी किया जा सकता था। ठोस अन्तर केवल यही होगा कि मतदाताओं की संख्या बहुत बढ़ जायगी।......क्या इससे वैधानिक समाधान की प्राप्ति हो सकेगी? उसे प्राप्त करने का तो एकमात्र रास्ता समझौते का है, और लड़ने वाले नेताओं के जनता को अपने पीछे ले आने से उसमें सहायता पहुंचना संभव नहीं है।"[2] डॉ० बेनीप्रसाद ने लिखा—"जहां तक मुख्य राजनैतिक प्रश्नों के निर्णय का सवाल है, विधान-निर्मातृ सभा की स्थापना के पक्ष में दलीलें तो बहुत प्रबल हैं, परन्तु जब तक संयुक्त निर्वाचन के आधार पर पहिले से कोई समझौता नहीं हो जाता, तबतक इस पद्धति को अपनाना बहुत ही अधिक ख़तरनाक सिद्ध होगा।"[3] दूसरी बात इस संबंध में यह कही जाती है कि हमारी सांप्रदायिक समस्या को सुलझाने में भी विधान-निर्मातृ सभा के सफल होने की आशा कम ही है, और यदि सांप्रदायिक चुनाव की इजाज़त दे दी गई, जिसके लिए कांग्रेस तैयार जान पड़ती है, तब तो उससे हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य के और भी ज़्यादा बढ़ जाने का डर है। डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दों में, "विधान-

१–विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये—

एन० गांगुली : Constituent Assembly for India.

राममनोहर लोहिया : Constituent Assembly.

२–प्रो० कूपलैंड : The Constitutional Problem of India, भाग ३, पृ० ३४-३५।

३–डा० बेनीप्रसाद : Hindu Muslim Questions, पृ० १६७।

निर्मातृ सभा का काम विधान का निर्माण करना है, न कि सांप्रदायिक विषमताओं का इलाज करना।"

इन आलोचनाओं के पीछे एक ओर तो प्रजातन्त्र की शक्तियों से भय की वृत्ति है, और दूसरी ओर यह ग़लत मान्यता है कि हमारे आज के राजनैतिक दल देश की जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा, गहराई में जाकर, अपने भविष्य के संबंध में हम एकमत नहीं हैं। प्रजातन्त्र की शक्तियों को उभाड़ना सोते हुए सांप को जगाने के समान ख़तरनाक तो है, पर जिस राजनैतिक विधान की बुनियाद प्रजातन्त्र-रूपी शेषनाग के सहस्र-सहस्र फनों पर प्रस्थापित नहीं होती, विदेशी तलवार, या मशीनगन, या परमाणु बम पर रखी जाती है, वह आंधी में तिनके के समान उड़ जाया करता है। हमें तो जनता की इन शक्तियों को जाग्रत करना है, और राजसत्ता के धारा-प्रवाह को उस जाग्रति के सशक्त स्रोत से संबद्ध करना है। ऐसी स्थिति में उस शक्ति से डर कर काम कैसे चलेगा? विधान-निर्मातृ सभा के लिए जवाहरलालजी ने एक बार कहा था, "इसका अर्थ जनता के एक समूह से नहीं है, न क़ाबिल क़ानूनदानों की एक जंमात से, जो विधान को बनाने के निश्चय से इकठा हुए हों। इसका अर्थ तो एक राष्ट्र से है, जो अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए चल पड़ा हो, और जो अपने पुराने राजनैतिक, और संभवतः सामाजिक, ढांचे के ख़ोल को फाड़ फेंकना चाहता हो। इसका अर्थ है देश की जनता का, अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा, एक बड़े काम में जूझ पड़ना।" दूसरी ग़लत धारणा जो इस प्रयोग के आलोचकों के मन में है, वह यह है कि कांग्रेस और मुस्लिम-लीग, अथवा भारतीय राष्ट्रीयता और मुस्लिम-सांप्रदायिकता, का वर्त्तमान अन्तर बहुत गहरा है, अथवा देश की मुसल्मान जनता भी सांप्रदायिकता में उतनी ही रंगी हुई है जितनी मुस्लिम-लीग और उसके प्रमुख नेता। यह मानना वस्तु-स्थिति की गहराई में जाने से इन्कार करना है। सांप्रदायिक संघर्ष देश के एक बहुत छोटे तबक़े तक, शहरों की मध्य-श्रेणी के एक बड़े अंश तक, ही सीमित है। देश की जनता के सामने मुख्य प्रश्न सरकारी नौकरियां प्राप्त करने, अथवा छोटे-मोटे आर्थिक संघर्ष में पड़ने अथवा धारा-सभाओं में घुसने का नहीं है, राजनैतिक आज़ादी हासिल करने, और अपनी ग़रीबी, अधनंगापन और भुखमरापन, दूर करने का है। यह भावना, जंगल में फैल जाने वाली आग की लपटों के समान, आज देश के कोने-कोने में फैली हुई है। उसे बुझाया नहीं जा सकता, दबाया नहीं जा सकता, कुचला नहीं जा सकता। वर्त्तमान को भस्मसात करने, स्वाधीनता और आत्म-गौरव के आधार पर एक सोनहले भविष्य को निर्माण

करने के उसके निश्चय को रोका नहीं जा सकता। हमारी विधान-निर्मातृ सभा इस निश्चय का प्रतीक होगी। सांप्रदायिक संघर्ष के परे उसका स्थान है। सांप्रदायिक कलह की भावना जो आज एक धूमकेतु के समान हमारे समस्त राजनैतिक जीवन पर आक्रान्त है, देश की व्यापक जनता के संपर्क में आकर पानी के बुदबुद के समान मिट जायगी। मेरा तो निश्चित विश्वास है कि हमारी सांप्रदायिक समस्या का एकमात्र हल विधान-निर्मातृ सभा ही है।

संधि और स्थायी विधान

ऊपर इस बात की चर्चा आचुकी है कि हिन्दुस्तान का भावी शासन-विधान बनाने के जो दो तरीक़े हो सकते हैं—एक अंग्रेज़ी सरकार के द्वारा उस विधान का निर्माण और स्वीकृति, और दूसरा हिन्दुस्तान की जनता द्वारा चुनी गई विधान-पंचायत के द्वारा उसका निर्माण—उनमें से दूसरा तरीका ही अब संभव रह गया है। परन्तु, विधान-पंचायत के द्वारा इस प्रकार का विधान बन जाने के बाद भी अंग्रेज़ी सरकार के साथ एक संधि की गुंजाइश तो रह ही जाती है। आयर्लैंड का उदाहरण हमारे सामने है। अंग्रेज़ी सरकार ने १९१४ में, लॉयड जॉर्ज की प्रेरणा से, आयर्लैंण्ड के लिए एक विधान बनाया था, जिसके अनुसार उसे दो भागों में बांट देने का आयोजन था, इन दोनों भागों को समन्वित करने के लिए एक संघीय समिति बनाने का प्रस्ताव था, और रक्षा और विदेशी नीति आदि महत्त्वपूर्ण विभाग अंग्रेज़ी सरकार के नियंत्रण में ही रखने का विचार था। आयर्लैंड की जनता ने इस विधान का बहिष्कार किया, और चुनाव में भाग लेने व अंग्रेज़ी अधिकारियों की आज्ञा मानने से क़तई इन्कार कर दिया। अंग्रेज़ी सरकार ने क़ौमी आज़ादी के इस आन्दोलन को पहिले तो कुचलने की चेष्टा की, पर, जब वे उस चेष्टा में सफल न हो सके तो, १९२१ में, संधि-चर्चा आरम्भ की। अंग्रेज़ी मंत्रिमण्डल के कुछ व्यक्तियों और आयर्लैंड की प्रजातन्त्र-पार्लमेण्ट (Dail Eireann) के उतने ही सदस्यों में बातचीत हुई, और उसके परिणाम-स्वरूप एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये गए, और बाद में इंग्लैंड और आयर्लैंड दोनों देशों की पार्लमेण्टों ने उसे स्वीकार कर लिया। संभवतः यही उदाहरण अंग्रेज़ी-मन्त्रिमंडल के सामने था, जब उसने क्रिप्स-प्रस्तावों के द्वारा, हिन्दुस्तान के साथ भी इसी प्रकार की एक संधि का प्रश्न उठाया था। अंग्रेज़ी सरकार और विधान-समिति (Constitution-making body) के बीच एक संधि पर हस्ताक्षर किये जाना क्रिप्स-योजना को अमल में लाने के लिए एक आवश्यक शर्त्त मानी गई थी। इस संधि में उन सब आवश्यक बातों के शामिल किये जाने पर ज़ोर दिया गया था, जिनका

संबंध हिन्दुस्तानियों के हाथों में राजसत्ता के सौंपे जाने, और विशेषकर जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों के संरक्षण, से हो।

क्रिप्स द्वारा प्रस्तावित संधि एक बहुत ही असंतोषजनक सुझाव है: वह हिन्दुस्तान की आज़ादी पर एक प्रतिबन्ध के रूप में पेश किया गया था। उसका आधार इस विश्वास में है कि हिन्दुस्तान और इंग्लैंड सदा ही एक निकट-संबंध में बंधे रहेंगे। अल्पसंख्यक वर्गों को भी जिन संरक्षणों के दिये जाने का प्रस्ताव है, उनका आधार अंग्रेज़ी सरकार द्वारा समय-समय पर किए गये वायदों में है। आयर्लैंड के साथ की जाने वाली १९२१ की संधि का आधार भी परावलंबन की इस भावना में था, और इसी कारण वह सफल नहीं हो सकी। अगले दस वर्षों में उसमें लगातार परिवर्तन होते रहे, और १९३२ में जब डी वैलेरा के हाथ में सत्ता आई, उन्होंने इस संधि को उठा कर एक ओर रख दिया, और, व्यावहारिक दृष्टि से, आयर्लैंड को पूर्ण स्वतन्त्र बना लेने का निश्चय कर लिया। १९३७ के नये शासन-विधान के अनुसार तो आयर्लैंड ने इंग्लैंड से संबंध-विच्छेद ही कर लिया है।[1] यही बात हिन्दुस्तान के साथ की जाने वाली संधि के संबंध में कही जा सकती है। कोई भी ऐसी संधि जो हिन्दुस्तान की सार्वभौमता पर किसी प्रकार का नियन्त्रण लगाती हो, कभी स्थायी नहीं हो सकती। जहां तक अल्पसंख्यक वर्गों के संरक्षण का प्रश्न है, उसका एकमात्र रास्ता इन संरक्षणों को हमारे भावी शासन-विधान में संश्लिष्ट कर देने, पिरो देने, का है, किसी विदेशी शासन की कृपा और नीति पर वे नहीं छोड़े जा सकते। हमारे और इंग्लैंड के बीच की जाने वाली संधि में देश के आन्तरिक प्रश्नों के संबंध में कोई बात नहीं होगी। उसमें हिन्दुस्तान और इंग्लैंड के आपसी संबंधों, और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में इन संबंधों की स्थिति, का स्पष्टीकरण होगा। आन्तरिक प्रश्नों को निबटाने का सर्वाधिकार स्वयं हमें होगा—सांप्रदायिक और अल्प-संख्यक वर्गों से संबंध रखने वाले सभी प्रश्न इसी कोटि में आते हैं। इसके अलावा, हिन्दुस्तान और इंग्लैंड के कुछ आपसी व्यापारिक संबंध हो सकते हैं, जिनकी व्याख्या इस संधि में की जा सकेगी—हिन्दुस्तान अंग्रेज़ी माल की खपत के लिए कुछ सुविधाएं दे सकता है बशर्ते कि उसे इंग्लैंड से अपने औद्योगीकरण

१–विधान-वेत्ताओं में इस सम्बन्ध में मतभेद था कि युद्ध के अवसर पर आयर्लैंण्ड इंग्लैंड से अलहदा अपनी कोई नीति बना पाएगा अथवा नहीं, पर दूसरे महायुद्ध में, बड़ी कठिन परिस्थितियों के बीच, अपनी तटस्थता की रक्षा करके उसने इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में भी अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का परिचय दिया है।

में कुछ विशेष सहायता मिल सके। इसी प्रकार दृष्टिकोण अथवा स्वार्थों की सामान्यता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी हिन्दुस्तान और इंग्लैंड के बीच एक समझौते की कल्पना तो की ही जा सकती है। ये सब प्रश्न उस संधि में स्पष्ट किये जा सकेंगे।

हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के बीच की इस संधि के संबंध में दो बातें हमें अपने ध्यान में रखनी हैं। एक तो यह कि वह संधि देश की सार्वभौमता पर किसी प्रकार का नियंत्रण न हो। आन्तरिक व्यवस्था संबंधी प्रश्नों, अथवा विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा के प्रश्न, में यदि हमने किसी भी अंश में इंग्लैण्ड पर निर्भर होना स्वीकार कर लिया तो हमारी आज़ादी एक बे-मानी सी चीज़ हो जायगी। उस संधि की पहिली शर्त्त यही होगी कि वह हिन्दुस्तान के स्वार्थों को पहिला स्थान देगी, और उसका आधार हिन्दुस्तान की पूर्ण स्वतंत्रता में होगा। संघ-शासन के विभिन्न सदस्यों अथवा देश के विभिन्न धर्मावलंबियों के आपसी संबंध निश्चित करने अथवा उनके मतभेदों को सुलझाने का प्रयत्न विधान के द्वारा किया जायगा। वह एक विदेशी सरकार के साथ सन्धि का विषय नहीं है। दूसरी बात यह है कि उस संधि में संशोधन-परिवर्त्तन आदि के लिए पर्याप्त सुविधा होनी चाहिए। समय और परिस्थितियों के साथ इस प्रकार के परिवर्त्तन आवश्यक होंगे। संभव है कि आज हम प्रजातन्त्र और फ़ासिज़्म के किसी संघर्ष में इंग्लैण्ड का साथ देना मंज़ूर करलें, पर कल यदि साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड, अन्य साम्राज्यवादी देशों के साथ के हमारे पड़ोसी राष्ट्रों को, जिनके स्वार्थ हमारे अपने स्वार्थ हों, कुचलने के लिए तैयार हो जाय, तो हम उसके प्रति अपनी नीति में परिवर्त्तन करना चाहें। संधि की शर्त्तों के संबंध में यदि दोनों देशों में मतभेद हो तो उसका निर्णय करने, और उस निर्णय पर दोनों देशों को अमल करने के लिए बाध्य करने, का अधिकार किसे हो, यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए। यह अधिकार उस समय की किसी सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को ही दिया जा सकता है।

मैं समझता हूँ कि सन्धि और विधान-निर्माण के प्रश्नों को अलग-अलग रखना अत्यन्त आवश्यक है। संधि का संबंध हमारे और इंग्लैण्ड के बीच का होगा। विधान हमारे आन्तरिक प्रश्नों को सुलझाने की दिशा में एक बड़ा प्रयत्न होगा। यह भी हो सकता है कि विधान-निर्मातृ सभा पहिले विधान बना ले, और इंग्लैण्ड के साथ सन्धि के प्रश्न को उस विधान द्वारा बनने वाली सरकार पर छोड़ दे, पर यह कुछ अव्यावहारिक-सा दिखाई देता है, क्योंकि जब तक सार्वभौम-सत्ता अंग्रेज़ों के हाथों से निकल कर विधान-निर्मातृ

सभा के हाथ में नहीं आ जाती है, तब तक उसके द्वारा किसी स्थायी सरकार के बनाये जाने का प्रश्न कुछ अवास्तविक-सा लगता है, और यह सत्ता का आधार-परिवर्त्तन सन्धि के द्वारा ही संभव है। संधि के बाद ही विधान-निर्मातृ सभा को यह अधिकार प्राप्त हो जायगा कि वह देश के लिए एक शासन-विधान बना ले। विधान-निर्मातृ-सभा का वास्तविक कार्य तभी आरंभ होगा, और वह एक महान् दुस्तर कार्य होगा, इसमें तो संदेह है ही नहीं। विधान-निर्मातृ-सभा को ही यह तय करना होगा कि हमारा विधान संघ-शासन के आधार पर बने अथवा केन्द्रीभूत शासन उसका लक्ष्य हो, उसका संगठन पार्लमेण्टरी पद्धति पर हो अथवा प्रेज़ीडेंटी ढङ्ग से, उसमें सभी प्रान्तों को बराबर अधिकार हों अथवा हिन्दू-प्रांतों और मुस्लिम-प्रांतों के बीच सन्तुलन और समानता की भावना हो, शासन का आधार व्यक्ति हो अथवा संप्रदाय, व्यक्ति के अधिकारों का स्पष्ट समावेश विधान के अन्तर्गत हो अथवा उन्हें राज्यों की सदिच्छा पर छोड़ दिया जाय। इस प्रकार के सैकड़ों महत्त्वपूर्ण प्रश्न होंगे, जिन पर विधान-निर्मातृ-सभा को विचार करना होगा, और स्पष्ट निर्णय बनाने पड़ेंगे। उसे अपने इस कार्य में उस समय तक हर्गिज़ सफलता नहीं मिल सकती जब तक कि उसे देश की समग्र-जनता का समर्थन प्राप्त न हो, दूसरे शब्दों में, जब तक वह स्वयं उनके द्वारा चुनी न गई हो।

(आ) समझौते की दिशा में वैधानिक प्रयत्न

मूलभूत अधिकारों का प्रश्न

विधान-निर्मातृ सभा के सामने सबसे बड़ा प्रश्न सांप्रदायिक समझौते की दिशा में प्रयत्न करने का होगा। इसी दृष्टि से हमें मूलभूत अधिकारों के प्रश्न पर चर्चा करना है। प्रत्येक देश में व्यक्ति के कुछ मूल-भूत अधिकार होते हैं, जिनके सम्बन्ध में साधारणतः यह आवश्यक माना जाता है कि शासन के द्वारा उनकी स्वीकृति की घोषणा कर दी जाय, और उन्हें केन्द्रीय व प्रांतीय दोनों विधानों में शामिल कर लिया जाय, जहां तक इन मूलभूत अधिकारों के विधान में शामिल किये जाने का प्रश्न है, विधान-शास्त्री इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। अंग्रेज़ लेखक प्रायः उसमें अपना अविश्वास ही प्रगट करते हैं। उनका विचार है कि ये अधिकार प्रायः ऐसे होते हैं कि क़ानूनी अदालतों द्वारा उनके सम्बन्ध में निर्णय किया जाना बड़ा कठिन होता है, और यदि वे किसी निर्णय पर पहुँच भी सकीं तो उसके अमल में आने में काफ़ी दिक़्क़त पेश आती है। परन्तु अन्य देशों के विधान-शास्त्री अंग्रेज़ लेखकों के इस तर्क से प्रायः सहमत

धर्म का पालन व प्रचार करने का हक़—इस शर्त्त के साथ कि उससे सार्वजनिक व्यवस्था और नैतिकता का अतिक्रमण न होता हो।

(३) अल्पसंख्यक वर्गों और विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की संस्कृति, भाषा और लिपि का संरक्षण।

(४) क़ानून की दृष्टि में सब नागरिकों की समानता, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, और चाहे वे किसी धर्म, जाति और सम्प्रदाय के सदस्य हों।

(५) सरकारी नौकरी पाने, शक्ति अथवा प्रतिष्ठा के किसी स्थान पर नियुक्त किये जाने, और किसी भी व्यापार अथवा उद्योग को स्वीकार करने के अधिकारों के सम्बन्ध में किसी नागरिक पर उसके धर्म, जाति, सम्प्रदाय अथवा स्त्री या पुरुष होने के आधार पर सभी प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव।

(६) कुएँ, तालाब, सड़कों, शिक्षालयों और सार्वजनिक स्थानों के सम्बन्ध में, जिनकी व्यवस्था राज्य के अथवा स्थानीय कोष से की जाती हो, अथवा जो व्यक्तियों द्वारा जनता के साधारण व्यवहार के लिए निर्माण किये गए हों, सब नागरिकों के अधिकारों व कर्त्तव्यों की समानता।

(७) राज्य की ओर से सब धर्मों के सम्बन्ध में तटस्थता की नीति का पालन।

राजनैतिक संरक्षणों की समस्या

परन्तु, आज की भारतीय परिस्थिति में, केवल मूलभूत अधिकारों का विधान में सम्मिलित किया जाना काफ़ी नहीं होगा। कम-से-कम संक्रमण काल में, जिसकी अवधि दस या पन्द्रह वर्ष की हो सकती है—यह व्यवस्था कितने वर्षों तक चले, इसका स्पष्टीकरण पहिले से हो जाना आवश्यक है—यह अनिवार्य होगा कि अल्प-संख्यक वर्गों को पूर्ण रूप से आश्वस्त करने के लिए कुछ विशेष संरक्षणों की आवश्यकता हो। इन संरक्षणों में सबसे महत्त्वपूर्ण होगा—धारासभा में स्थानों का बंटवारा। आज मुसलमान हमारी आज़ादी की जंग के ख़िलाफ़ जा रहे हैं, इसका मुख्य कारण यह बताया जाता है कि उन्हें यह डर है कि प्रजातन्त्रीय संगठन के अन्तर्गत हिंदुओं के लिए धारासभा में अधिकांश स्थानों को पा लेना, और उन पर जमे रहना, आसान होगा। दूसरे शब्दों में, उन्हें यह डर है कि प्रजातन्त्र के नाम पर हिंदू-राज की स्थापना की जा सकेगी। मुस्लिम लीग प्रजातन्त्र के ख़िलाफ़ नहीं है, और न पार्लमेण्टरी संस्थाओं से ही उसे चिढ़ है। वह जिस चीज़ का विरोध करती है वह प्रजातन्त्र शासन का वह रूप है जिसने हिंदू-बहुसंख्यक कांग्रेस को अधिकांश प्रान्तों में शासन के सूत्र अपने हाथों में ले लेने की सुविधा दी। मि० जिन्ना और मुस्लिम-लीग ने बार-बार जिस बात पर ज़ोर दिया है, वह यह है कि भविष्य में इस प्रकार के शासनों

के निर्माण का वे यथाशक्ति विरोध करेंगे।

इसके विरुद्ध जो दलील दी जाती है, मैं उससे पूर्णतया परिचित हूँ। यह कहा जाता है कि जब कि देश में हिंदुओं का बहुमत है, उन्हें इस बात का पूरा अधिकार है कि वे अपनी सरकार बना सकें, परन्तु, यह बात प्रजातन्त्र की मेरी कल्पना के विरुद्ध जाती है। मैं समझता हूँ कि प्रजातन्त्र का अर्थ केवल यही नहीं है कि उसमें बहुसंख्यक वर्ग का शासन हो। मैं तो समझता हूँ कि प्रजातन्त्र जनता की ऐसी सरकार का नाम है जो समग्र जनता के हित को दृष्टि में रखते हुए काम करती हो। ऐसी स्थिति में, यदि मुसल्मानों को सचमुच यह डर है कि राज्य-शासन में हिंदुओं की प्रधानता होजाने से उनकी संस्कृति को ख़तरा है, तो इस डर को दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए, और उस प्रयत्न की दिशा में धारा-सभा में मुसल्मानों को अपनी संख्या के अनुपात से कुछ अधिक स्थान देना भी आवश्यक हो तो वैसा करना चाहिए। हमारे वैधानिक इतिहास में यह कोई नई बात नहीं है। अब भी वर्ग विशेषों के लिए धारासभा में कुछ स्थान सुरक्षित रखने और उन्हें संख्या के अनुपात से कुछ अधिक स्थान देने की पद्धति हमारे विधान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है ही। इस स्थिति के सम्बन्ध में हम अपना खेद प्रगट कर सकते हैं, पर उससे जल्दी छुटकारा पाने की हमें आशा नहीं है। १९३२ के सांप्रदायिक निर्णय के अनुसार मुसल्मानों को ब्रिटिश भारत में ३३.३ प्रतिशत स्थान दिये गए हैं, और पंजाब और बंगाल की धारासभाओं में, जहां उनकी संख्या वैसे ही अधिक है, बहुमत बना लेने की सुविधा दी गई है। जहां तक केन्द्रीय धारासभा का संबंध है, मुसल्मान स्थानों के वर्तमान अनुपात को और भी बढ़ाया जा सकता है। कुछ दिनों पहिले भारत-सरकार के भूतपूर्व सूचना-मन्त्री सर सुल्तानअहमद ने यह सुझाव सामने रखा था कि सवर्ण हिंदुओं और मुसल्मानों की संख्या बराबर कर दी जाय, और उनमें से प्रत्येक को ४० प्रतिशत स्थान दिये जायं, और २० प्रतिशत स्थानों को एक ओर दलित जातियों और दूसरी ओर ईसाई, सिख, पारसी, एंग्लो-इण्डियन आदि में बराबर-बराबर बांट दिया जाय। इस प्रस्ताव को अमल में लाने का अर्थ होगा कि सवर्ण हिंदुओं की संख्या देश की आबादी का ६०.३७ प्रतिशत होते हुए भी धारा-सभा में उन्हें केवल ४० प्रतिशत स्थान प्राप्त होंगे, और मुसल्मानों की संख्या लगभग २४ प्रतिशत होते हुए भी उन्हें ४० प्रतिशत स्थान मिल सकेंगे। इसमें हिंदुओं से त्याग की अपेक्षा तो की ही गई है, पर मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि इससे हिंदुओं के हितों और स्वार्थों पर धक्का लगेगा। हिंदुओं की संख्या मुसल्मानों से किसी प्रकार कम तो होगी नहीं। यदि अपने स्वार्थों की

रक्षा में वे कटिबद्ध रहें—और जहां तक बड़े हिंदू स्वार्थों का सम्बन्ध होगा; कोई कारण दिखाई नहीं देता कि वे इस प्रकार से कटिबद्ध क्यों नहीं होंगे, अपनी मांग के न्यायपूर्ण होने की अवस्था में अन्य अल्पसंख्यक वर्गों के सहयोग की भी वे अपेक्षा कर ही सकते हैं—तो वे अपना बहुमत बना सकेंगे, यह सच है कि वह बहुमत वैसा सशक्त नहीं होगा जैसा साधारण स्थिति में होगा। इसी प्रकार मुसलमान भी किसी भी न्यायपूर्ण मांग के लिए यदि हिंदुओं के समर्थन की अपेक्षा न भी रखें तो अल्प-संख्यक वर्गों का समर्थन तो प्राप्त कर ही सकेंगे। डॉ० बेनीप्रसाद ने सप्रू कमेटी को पेश की गई अपनी विज्ञप्ति में दलित वर्ग को छोड़कर अन्य अल्पसंख्यकों की संख्या में कुछ कमी करके सवर्ण हिंदुओं की संख्या को कुछ बढ़ानेका सुझाव सामने रखा था। उनके मतानुसार सवर्ण हिंदुओं को ४३, मुसलमानों को ४०, दलित जातियों को १० और दूसरे अल्पसंख्यक वर्गों को ७ प्रतिशत स्थान दिये जाने चाहिएं। सप्रू-कमेटी ने (दलित जातियों को छोड़ कर) हिंदुओं और मुसल्मानों को—'उनकी आबादी के अनुपात में बहुत बड़े अन्तर के होतें हुए भी'—बराबर स्थान देने का प्रस्ताव किया है।

सांप्रदायिक चुनाव का प्रश्न

परन्तु, सप्रू कमेटी ने हिंदू और मुसलमान सदस्यों की संख्या में बराबरी के इस सिद्धांत को बिना शर्त्त के नहीं मान लिया है। उसने अपने इस प्रस्ताव की स्वीकृति के लिए यह शर्त्त आवश्यक मानी है कि मुसल्मान सांप्रदायिक चुनाव के सिद्धांत को छोड़ने के लिए तैयार हो जायं। "कमेटी अपने इस मत पर ज़ोर देना चाहती है," प्रस्तावों में कहा गया है "कि यदि उसकी यह सिफ़ारिश ज्यों की त्यों न मानी गई तो हिंदू-समाज को भी यह अधिकार होगा कि वह न सिर्फ़ प्रतिनिधित्व के संबंध में समानता के इस प्रस्ताव को अस्वीकार ही कर दे, बल्कि सांप्रदायिक समझौते (Communal Award) के दोहराए जाने पर भी ज़ोर दे!" जहां तक सांप्रदायिक चुनाव का प्रश्न है, उसके अशुभ परिणामों के सम्बंध में मतभेद की बिलकुल गुंजाइश नहीं है। भारतीय राजनैतिक जीवन को उसने ज़हर से सींचा है। हमारे सांप्रदायिक वैमनस्य की पहिली ज़िम्मेदारी उस पर है। यदि अंग्रेज़ी राज्य की समाप्ति पर भी किसी अस्थायी अथवा स्थायी विधान में उन्हें रखा गया तो वह अंग्रेज़ी राज्य की सबसे बुरी विरासत होगी। परन्तु जहां तक आज की मुस्लिम विचार-धारा का सम्बन्ध है, वह सांप्रदायिक चुनाव के उसूल से जकड़ी हुई है। क्रिप्स-प्रस्तावों को अस्वीकार करते समय भी मुस्लिम-लीग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह सांप्रदायिक चुनाव को 'मुसल्मानों के सच्चे प्रतिनिधियों के चुने जाने का एक-मात्र सही रास्ता' मानती है। जब तक

अल्प-संख्यक वर्गों की सहमति हमें प्राप्त न हो सके, तब तक सांप्रदायिक चुनाव के सिद्धान्त को जड़ से उखाड़ फेंकना शायद संभव न हो। इसके अलावा, समान-प्रतिनिधित्व के सिद्धांत में यदि कोई अच्छाई है तो किसी अव्यावहारिक शर्त के बिना ही उसे अमल में क्यों नहीं लाया जाय। परन्तु सांप्रदायिक चुनाव के सिद्धांत में कुछ संशोधन करना तो आवश्यक होगा ही। यदि मुसलमानों के दृष्टिकोण से यह आवश्यक समझा जाता है कि धारासभाओं के मुसलमान प्रतिनिधि ऐसे हों जो मुस्लिम-समाज का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकें, तो राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह देखना भी आवश्यक है कि वे देश के व्यापक हितों के शत्रु न हों। सच तो यह है कि हमें इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच एक समन्वय की स्थापना करना है। इलाहाबाद के एकता-सम्मेलन में मौ० मुहम्मदअली द्वारा रखे गए प्रस्तावों के ढंग पर किसी समझौते पर पहुंचा जा सकता है। उनका प्रस्ताव था कि "धारासभा में मुसल्मान उम्मीदवारों में से जिन्हें अपने समाज के कम-से-कम ३० प्रतिशत मत प्राप्त हों, केवल वही उम्मीदवार चुना जाय तो संयुक्त-निर्वाचन में सबसे अधिक मत प्राप्त कर सके। यदि कोई भी उम्मीदवार ऐसा न हो जिसने अपने समाज द्वारा दिये गए मतों का ३० प्रतिशत प्राप्त किया हो तो उन दो सदस्यों में से जिन्हें अपने समाज में सबसे अधिक मत मिले हों वह सदस्य चुना हुआ घोषित किया जाये जिसे संयुक्त निर्वाचन द्वारा दिये गए मतों का अधिकांश प्राप्त हो।" किसी भी दशा में, सांप्रदायिक चुनाव के आधार पर चुने गए किसी भी मुसल्मान अथवा अन्य सदस्य के लिए धारासभा में स्थान पाने के लिए यह आवश्यक माना जाना चाहिए कि वह दूसरे सम्प्रदायों द्वारा व्यक्त किये गए मतों का एक निश्चित प्रतिशत—२० या २५—भी प्राप्त कर सके।

'बाह्य' और 'व्यक्तिगत' तत्त्वों का निराकरण

अब तक अल्पसंख्यक वर्गों के संरक्षण का मुख्य आधार गवर्नर अथवा गवर्नर जनरल माना जाता था। १९३५ के विधान ने इस सम्बन्ध में इन लोगों के हाथों में बहुत बड़ी शक्तियां दे डाली थीं। सच तो यह है कि अब तक तो ये लोग ही सांप्रदायिक संरक्षणों की समस्त योजना की धुरी के रूप में रहे हैं। उनका ही यह काम रहा है कि वे यह देखें कि केन्द्रीय व प्रांतीय शासन में अल्प-संख्यक वर्गों को उचित स्थान मिल रहे हैं अथवा नहीं। अल्पसंख्यक वर्गों के शैक्षिक और सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा का दायित्व भी उन्हीं पर रहा है। क्रिप्स-प्रस्तावों तक में अल्पसंख्यक वर्गों का पक्ष लेकर शासन में हस्तक्षेप करने के अंग्रेज़ी सरकार के अधिकार को अक्षुण्ण रखा गया है। इन प्रस्तावों में

हिंदुस्तान और इंग्लैण्ड के बीच जिस सन्धि की कल्पना की गई है, उसमें जहां उन सब आवश्यक विषयों की चर्चा है "जो अंग्रेज़ों के हाथ से भारतीयों के हाथ में पूर्ण सत्ता के सौंपे जाने से सम्बन्ध रखते हों," यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि "उसमें जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए व्यवस्था" होगी। परन्तु, जहां तक किसी ऐसे विधान का सम्बन्ध है, जिसका आधार हिंदुस्तान की आज़ादी पर रखा गया हो, उसमें इस प्रकारके 'व्यक्तिगत' और 'बाहरी' तत्वों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। गवर्नर और गवर्नर-जनरल के विशेष अधिकारों को ख़त्म कर देना होगा। यदि संक्रमण-काल में इन अफ़सरों को रखना ज़रूरी भी समझा गया तो उनका स्थान शासन के वैधानिक अध्यक्ष से अधिक दायित्वपूर्ण नहीं होगा।

संरक्षणों के इन 'बाह्य' और 'व्यक्तिगत' तत्वों के निराकरण का अर्थ होगा उनके स्थान में कुछ वैधानिक तजवीज़ों की सृष्टि करना। इनमें से एक तजवीज़ यह हो सकती है कि सांप्रदायिक प्रश्नों सम्बन्धी निर्णय धारासभा के बहुमत पर न छोड़े जायं, किंतु उनके लिए एक निश्चित अनुपात में उस सम्प्रदाय के सदस्यों का, जिससे वह सम्बन्ध रखते हों, समर्थन आवश्यक माना जाना चाहिए। कांग्रेस के विधान में एक ऐसी धारा थी, जो १६२१ के संशोधन में निकाल दी गई, जिसके अनुसार उसके अधिवेशन में किसी ऐसे विषय पर चर्चा नहीं की जा सकती थी और न प्रस्ताव लिए जा सकते थे जिस पर मुसल्मान अथवा हिन्दू सदस्यों का ७५ प्रतिशत एतराज़ कर रहा हो—एतराज़ करने वाले सदस्यों की संख्या का कुल सभा का कम-से-कम चतुर्थांश होना भी आवश्यक था। मुस्लिम-लीग ने भी अपनी १६२६ की मांगों में इस बात पर ज़ोर दिया था कि, "केन्द्रीय अथवा प्रांतीय किसी भी धारा-सभा में साम्प्रदायिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाला कोई क़ानून, प्रस्ताव, सुझाव अथवा संशोधन उस समय तक पेश न किया जा सके, न उस पर वादविवाद हो, और न वह स्वीकार किया जाय, जब तक उसे हिन्दू अथवा मुसल्मान जिस समाज से उसका सम्बन्ध हो उसके तीन-चौथाई सदस्यों का समर्थन प्राप्त न हो जाय।" यदि यह सुझाव मान्य न समझा जाय तो 'स्कॉच-वोट' के ढङ्ग पर हम अपने यहां कोई नियम बना सकते हैं।[1] हम अपने देश में भी इस प्रकार

१—'स्कॉच वोट' का अर्थ है कि जब कभी हाउस ऑफ़ कामन्स के सामने कोई ऐसा प्रश्न होता है जिसका सम्बन्ध केवल स्कॉटलैंड से हो, तब उस पर केवल उसी प्रदेश के निवासी-सदस्यों को अपनी सम्मति व्यक्त करने व मत देने का अधिकार होता है।

की एक परम्परा स्थापित कर सकते हैं जिसके अनुसार यह आवश्यक माना जाय कि किसी भी सम्प्रदाय के व्यक्तिगत क़ानून अथवा संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों के निर्णय का अधिकार उसी सम्प्रदाय के सदस्यों को होगा। इस काम के लिए उन्हें एक 'स्टैंडिंग-कमेटी' के रूप में मान लिया जाय। फिर भी यह निर्णय करने की कठिनाई तो रहेगी ही कि जिस क़ानून अथवा प्रस्ताव पर बहस की जा रही है वह क्या वास्तव में एक सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध रखता है। इस सम्बन्ध में डॉ० बेनीप्रसाद के इस सुझाव पर अमल किया जा सकता है कि यह निर्णय नीचे के चेम्बर के अध्यक्ष पर छोड़ दिया जाय, और वह अपने इस निर्णय तक पहुँचने के लिए धारासभा की उस समिति की सलाह ले ले जो सांप्रदायिक सद्भावना की स्थापना के उद्देश्य से ही बनाई गई हो।

सांप्रदायिक-सद्भावना समिति

यहीं पर सांप्रदायिक-सद्भावना-समिति (Board of Conciliation) अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य संस्था के संगठन के प्रश्न को भी ले लें। यह समिति एक सलाहकारी समिति (advisory body) होगी, और उसका काम धारा-सभा अथवा सरकार के द्वारा उठाये गए प्रश्नों पर सलाह देने का होगा। परन्तु, इसके अलावा और भी कई बड़े कामों को वह अपने हाथ में ले सकती है। वह समाज-शास्त्र के विस्तृत अध्ययन का एक बहुत बड़ा केन्द्र बन सकती है, और, देश की सांप्रदायिक मनोवृत्ति के विकास और गतिविधि पर अपनी दृष्टि रखते हुए, स्वयं भी धारासभा और सरकार के सामने अपने सुझाव रख सकती है। वैधानिक दृष्टि से इस सम्बन्ध में हमें यह निश्चय करना होगा कि इस समिति का संगठन किस प्रकार किया जाय। इस संगठन की कई शक्लें हो सकती हैं। एक तरीक़ा यह हो सकता है कि धारा-सभा के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों को उसमें ले लिया जाय—इस संबंध में भी दो मार्ग हमारे सामने होंगे, एक तो यह कि इन सदस्यों को विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधित्व के अनुपात में लिया जाय, और दूसरा यह कि प्रत्येक सम्प्रदाय में से चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या बराबर हो। सांप्रदायिक-सद्भावना समिति में कुछ ऐसे सदस्यों को लेना भी आवश्यक होगा जो धारासभाओं अथवा स्वयं समिति के द्वारा धारासभा के बाहर से लिये जा सकें। सप्रू-कमेटी ने इस सम्बन्ध में यह प्रस्ताव उपस्थित किया है कि प्रत्येक धारासभा में इस प्रकार की एक अल्पसंख्यक समिति (Minorities Commission) नियुक्त की जाय, जिसमें प्रत्येक ऐसे सम्प्रदाय का, जिसे धारासभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, एक प्रतिनिधि हो (यह आवश्यक न माना जाय कि वह उस सम्प्रदाय का सदस्य

भी हो) और जिसका चुनाव धारासभा के सदस्यों द्वारा तो हो पर वह स्वयं धारासभा का सदस्य न हो। मैं सप्रू-कमेटी के इस सुझाव से सहमत नहीं हूँ कि इस अल्प-संख्यक समिति में एक भी सदस्य ऐसा न हो जो धारासभा का सदस्य भी हो : यह प्रतिबंध कुछ अनावश्यक-सा प्रतीत होता है। यह संभव है कि यदि इस शर्त्त को कड़ा बना दिया गया तो उक्त समिति की निष्पक्षता और अ-राजनैतिकता में लोगों का विश्वास बढ़ जाय। शेष बातों में, सप्रू-कमेटी के प्रस्तावों को ज्यों-का-त्यों मान लेना वांछनीय जान पड़ता है। केन्द्रीय और प्रांतीय धारासभाओं में सांप्रदायिक-सद्भावना समिति अथवा अल्पसंख्यक समिति आदि की स्थापना के अलावा यह भी आवश्यक दिखाई देता है कि शहरों, और गांवों में भी, कुछ सद्भावना-समितियों (Goodwill Committees) की स्थापना की जाय। मैं समझता हूँ कि इन समितियों में जहां कुछ सदस्य सरकार द्वारा चुने गए हों, कुछ ऐसे भी होने चाहिएं जो जनता के सीधे प्रतिनिधि माने जा सकें—इन सभाओं के अध्यक्ष की नियुक्ति, कम-से-कम प्रारम्भिक काल में, सरकार द्वारा किया जाना ही वांछनीय जान पड़ता है।

सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व

सरकारी नौकरियों में अल्पसंख्यक वर्गों के लिए कुछ स्थान निश्चित करने की जो परम्परा बन गई है, उसे छोड़ने का, संभव है, अभी समय नहीं आया है, यह परम्परा चाहे कितनी ही ग़लत क्यों न हो। इस सम्बन्ध में वर्त्तमान व्यवस्था जारी रखी जा सकती है—साथ ही यह भी निश्चित हो जाना चाहिए कि कितने वर्षों तक, १० या १५ वर्ष से अधिक उसे क़ायम रखना अवांछनीय होगा—परन्तु, एंग्लो-इंडियनों को आज जो भारी प्रतिनिधित्व मिला हुआ है उसमें कमी करना तो आवश्यक होगा ही। वर्त्तमान व्यवस्था, अथवा उसके आधारभूत सिद्धांत, को कुछ दिनों तक जारी रखने का अर्थ यह हर्गिज़ नहीं होना चाहिए कि शासन में किसी प्रकार की अयोग्यता को प्रोत्साहन दिया जाय। यों तो सैद्धांतिक दृष्टि से इस प्रकार की किसी व्यवस्था को मानना ही एक बड़ी ग़ल्ती है, शासन की योग्यता पर उसका बुरा प्रभाव पड़ना एक और भी भयानक बात होगी। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से, यह आवश्यक हो सकता है कि, सांप्रदायिक चुनाव के समान, सांप्रदायिक आधार पर नौकरियों के बंटवारे को भी, एक निश्चित काल के लिए जारी रखा जाय। शासन के क्षेत्र में, जहां तक हो सके, हमें उसे राजनीति के प्रभाव से मुक्त करने (de-politicization) का प्रयत्न करना है। संयुक्त राज्य में मुक्तकिरण की यह प्रवृत्ति अपने पूरे ज़ोर पर है, और पिछले वर्षों में इंग्लैण्ड में भी वैसा करने का प्रयत्न किया गया

है।[1] डॉ० बेनीप्रसाद का मत है कि "दिन प्रतिदिन की शासन-व्यवस्था, जहांतक संभव हो उस सीमा तक, राजनैतिक दलों के हाथ से निकालकर विशेषज्ञों की स्वतंत्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र समितियोंके हाथों में सौंप दी जाय, जैसे पब्लिक सर्विस कमीशन, रेलवे ऑथोरिटी, नेशनल इन्वेस्टमेंट बोर्ड, ब्रॉडकास्टिंग कार्पोरेशन, इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड आदि-आदि, तो उससे पार्लमेंटरी ढंगका शासन न केवल सरल होजाता है, उसमें शुद्धता और कुशलता भी आजाती है।"[2]

कार्यकारिणी का निर्माण

इसके बाद, कार्यकारिणी के निर्माण का महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस सम्बन्ध में पार्लमेण्टरी और अन्य पद्धतियों में से चुन लेने का सवाल भी पैदा होता है। हमारे देश में पार्लमेण्टरी ढंग के शासन की अनुपयुक्तता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। हमारे सामने यह दलील रखी जाती है कि पार्लमेण्टरी पद्धति के सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता एक ही राजनैतिक दल के हाथ में न रहे, परन्तु विरोधी दल भी इतने प्रबल हों कि, आवश्यकता पड़ने पर, वे शासन के सूत्र अपने हाथ में ले सकें। ऐसे देश में जहां राजनैतिक दलों का संगठन ही सांप्रदायिकता के आधार पर हो, और जहां एक धर्म के मानने वालों की संख्या देश की आबादी का दो-तिहाई हो, एक ही राजनैतिक दल और एक ही धर्म के मानने वालों का प्रभुत्व होने की संभावना है, और उसमें यह डर है कि अल्पसंख्यकों को राजनैतिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए अवसर नहीं मिलेगा। जहां बहुसंख्यक वर्ग को यह भय रहता है कि यदि उसके कार्य लोकमत के विरुद्ध हुए तो दूसरे अल्पसंख्यक वर्ग के सशक्त बन जाने की संभावना है, और वैसी स्थिति में सत्ता उसके हाथ से निकल कर दूसरे दल के हाथ में जा सकती है, वहां उसके कार्य में ज़िम्मेदारी की भावना बढ़ जाती है, परन्तु यदि उसे यह विश्वास रहा कि बहुमत सदैव उसके साथ ही रहेगा, तो यह स्वाभाविक है कि उसके कार्यों में यह भावना बहुत प्रमुख न रहेगी। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि पार्लमेण्टरी ढंग की शासन-पद्धति तो इंग्लैण्डकी अपनी उपज है, उसे हिन्दुस्तानके लिए ज्यों-का-त्यों अपना लेना भी शायद ठीक नहीं होगा। लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, "अंग्रेज़ी विधान, जिसकी हम एक सूक्ष्म और जटिल शासन-तंत्र के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण के

१-अमेरिका में इस प्रवृत्ति के विकास के विशद अध्ययन के लिए देखिए विलौबी द्वारा लिखित Principles of Public Administration। इंग्लैंड में सेंट्रल इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड और असिस्टेंस-बोर्ड इस प्रवृत्ति के अच्छे उदाहरण हैं। २-Communal Settlement, पृ० ३६।

रूप में प्रशंसा करते हैं, यदि किसी दूसरे देश में प्रयोग में लाया गया तो कठिनाइयों और ख़तरों से भरा हुआ प्रमाणित होगा।......उसकी सफलता का मुख्य कारण समझौते की वह भावना है जिसकी कोई लेखक व्याख्या नहीं कर सकता और वह मनोवृत्ति है जिसके बनने में सदियां लगी हैं।" हिंदुस्तान में समझौते की वैसी भावना और वैसी मनोवृत्ति का सचमुच ही विकास नहीं हो सका है, पर, संयुक्त-निर्वाचित समिति (Joint Select Committee) ने अपनी रिपोर्ट में जो चित्र खींचा है, वह भी बड़ा अतिशयोक्तिपूर्ण है। उसका विश्वास था कि "हिंदुस्तानमें कोई भी राजनैतिक दल ऐसा नहीं है जिसे सच्चे अर्थों में यह नाम दिया जा सके, न किसी प्रकार का विकास-शील राजनैतिक लोकमत ही है......। उनके स्थान पर हमारे सामने आता है हिंदू और मुसल्मान का आपसी विरोध, और ये दो धर्मों का ही नहीं दो सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं; इनके अलावा भी अनेकों स्वतन्त्र और स्वयं संपूर्ण अल्पसंख्यक-वर्ग हैं, जो सब अपने भविष्य के संबंध में चिन्ताग्रस्त हैं, और बहुसंख्यक वर्ग के, और आपस में एक दूसरे के, प्रति बेहद अविश्वास-शील हैं; और इसके अलावा जातियों का कठोर और अमिट विभाजन है, जो स्वयं प्रजातन्त्र के सभी उसूलों के ख़िलाफ़ जाता है।"

यह विश्लेषण वस्तुस्थिति को अपने सही रूप में पाठक के सामने रहीं रखता। हमारे देश में राजनैतिक दलों का आधार एक सीमा तक अवश्य सांप्रदायिक है, पर सबसे बड़े, सशक्त और व्यापक राजनैतिक दल, कांग्रेस, का सङ्गठन जिस आधार पर किया गया है, वह शुद्ध राजनैतिक आधार है। अन्य राजनैतिक दलों में केवल मुस्लिम-लीग की अपनी हस्ती है, पर उसका आधार भी सांप्रदायिक तो परिस्थितियों के कारण ही है, मुख्यतः प्रतिक्रियावादी है। प्रगति की दिशा में मुस्लिम-समाज के पिछड़े हुए होनेके कारण प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने सांप्रदायिकता का जामा पहिन लिया है, पर, इस ख़ोल को चीरकर मुस्लिम-समाज के प्रगतिशील तत्त्व भी अब बाहर आरहे हैं, और पिछले कुछ महीनों में तो उनका संगठन भी दृढ़ होता गया है। कांग्रेस के भीतर विभिन्न राजनैतिक विचार-धाराओं के दिन-प्रति-दिन अधिक स्पष्ट होते जाने से भी इस विचार को पुष्टि मिलती है कि कांग्रेस द्वारा उसके मुख्य उद्देश्य, भारतीय स्वाधीनता, की प्राप्ति के बाद उसकी सत्ता ही समाप्त होजाय, और उसके भस्मावशेषों में से अनेकों फ़िनिक्स, राजनैतिक दल, जन्म ग्रहण कर लें। मेरा विश्वास है कि हमारे देश में तेज़ी के साथ ऐसी परिस्थितियों का निर्माण और विकास होरहा है, जिनमें पार्लमेण्टरी ढंग का शासन सफलता के साथ प्रयोग में लाया जा सकेगा। मैं यह जानता हूं

कि किसी भी सुसंगठित अल्पसंख्यक वर्ग का विरोध ऐसे शासन के लिए ख़तरनाक सिद्ध हो सकता है, और मुस्लिम-समाज की स्थिति तो अल्पसंख्यक वर्ग से कहीं अधिक महत्त्व की है, पर साथ ही मेरा यह विश्वास भी है कि भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति मुस्लिम-लीग का वर्त्तमान दृष्टिकोण मुस्लिम लोकमत को अभिव्यक्ति नहीं करता, और, देर से या जल्दी, बहुत सम्भव है कि जल्दी ही, मुस्लिम-लीग को या तो इस लोकमत के सामने झुकना पड़ेगा या उसे अपनी स्थिति को ही ख़त्म करने के लिए तैयार रहना चाहिए। पाकिस्तान के जिन रङ्गीन बादलों पर वह आज सवार है, सचाई की किरणों के कुछ तेज़ होते ही उनका घुल जाना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त, हम न तो यह भूल सकते हैं कि हमारी राजनैतिक विचार-धाराओं का विकास बहुत कुछ अंग्रेज़ी राजनैतिक विचारों, सिद्धांतों और कल्पनाओं के सम्पर्क में हुआ है, और न यह कि पिछले ८५ वर्षों में हमारा समस्त राजनैतिक शिक्षण भी अंग्रेज़ी शासन-संस्थाओं में ही हुआ है। इस लंबे संपर्क का हमारे विचारों पर जो प्रभाव पड़ा है, उसे बिल्कुल मिटाया नहीं जा सकता। भविष्य के निर्माण के प्रयत्नों में हम भूतकाल से बिल्कुल सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकते, पर साथ ही इसका अर्थ यह भी नहीं है कि यदि हम शासन के मूलभूत सिद्धांतों में इंग्लैण्ड का अनुकरण करना निश्चित करें तो उसके सङ्गठन में, परिस्थितियों की विभिन्नता के अनुसार, काफ़ी बड़े परिवर्त्तन करने के लिए भी तैयार न रहें।

कुछ लोगों का मत है कि प्रजातन्त्र शासन के सिद्धांत को मानते हुए भी हम अपनी कार्यकारिणी का सङ्गठन संयुक्त राज्य अमरीका के आधार पर कर सकते हैं, यानी उसके अध्यक्ष का चुनाव सीधे जनता के द्वारा कर लिया जाय, उसकी कार्य-अवधि निश्चित कर दी जाय, उसे धारासभा से बिल्कुल स्वतन्त्र बना दिया जाय, और उसे यह अधिकार दे दिया जाय कि वह अपने साथियों की नियुक्ति स्वयं ही कर ले और वे उत्तरदायी भी केवल उसी के प्रति हों। परन्तु ये लोग भूल जाते हैं कि इस पद्धति पर चलने का परिणाम यह हुआ है कि अमरीका में कार्यकारिणी और धारासभा के बीच एक निरन्तर सङ्घर्ष चलता रहा है, और इसी कारण संसार के किसी अन्य देश ने इस पद्धति को नहीं अपनाया है। अन्य विधान-शास्त्रियों का मत है कि स्विज़रलैण्ड की पद्धति हमारे लिए अधिक उपयुक्त होगी। स्विज़रलैण्ड में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का चुनाव इस दृष्टि से किया जाता है कि उसमें सभी राजनैतिक दलों और देश के विभिन्न प्रदेशों का प्रतिनिधित्व हो, और यह चुनाव धारासभा के दोनों विभागों के सभी सदस्यों की एक मिली-जुली सभा के द्वारा किया जाता है। इस संबंध में भी कुछ आवश्यक बातें ऐसी

हैं जिन्हें हम अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। पहिली बात तो यह है कि यह नहीं कहा जा सकता कि एक शासन-पद्धति जो एक छोटे तटस्थ देश में सफल हो सकी, और जो उस देश की विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज है, हिंदुस्तान जैसे बड़े देश में भी सफल हो जायगी। दूसरी बात यह है कि स्विज़रलैण्ड के ढंग की कार्यकारिणी का निर्माण जिस देश में भी हुआ—प्रशा, बैवेरिया, सैक्सनी, और आयर्लैण्ड के प्रयोग इसके उदाहरण हैं—वहीं उसे असफलता मिली। तीसरी बात यह है कि इस पद्धति को अपना लेने का अर्थ यह होगा कि हमारे देश में वैधानिक विरोध नाम की चीज़ बिल्कुल ख़त्म हो जायगी, और उसका परिणाम यह होगा कि राजनैतिक दलों के नेताओं के हाथों में बहुत अधिक शक्ति केन्द्रित हो जायगी। इन परिस्थितियों में, स्विज़रलैण्ड का उदाहरण भी, सम्भव है, हमारे देश के लिए उपयुक्त सिद्ध न हो।

कार्यकारिणी-सभा के निर्माण के सम्बन्ध में एक अन्य सुझाव यह भी है कि उसका सम्बन्ध जनता द्वारा सीधे चुनी हुई किसी धारासभा से न होकर ३० या ४० व्यक्तियों की एक ऐसी सभा से हो जिसका चुनाव प्रांतीय धारासभाओं द्वारा इस आधार पर किया गया हो कि उसमें देश के प्रत्येक स्वार्थ का प्रतिनिधित्व हो पर किसी एक स्वार्थ को बहुमत प्राप्त न हो। कार्यकारिणी-सभा इस बड़ी सभा से गवर्नर-जनरल या प्रधान-मन्त्री द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए चुन ली जाय। उसके चुनाव में इस बात का भी पूरा खयाल रखा जाय कि उसमें सभी प्रमुख दलों और देशी राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हों, और साथ ही देश के प्रत्येक भाग का भी उसमें प्रतिनिधित्व हो सके। कार्यकारिणी के सदस्य एक निश्चित अवधि के लिए चुने जांय, और जहां तक उनके उत्तरदायित्व का प्रश्न है वे बड़ी सभा, फ़ेडरल कौंसिल, के प्रति नहीं बल्कि गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी रहें। उनके लिए नीति-संबंधी सभी आवश्यक प्रश्नों पर फ़ेडरल कौंसिल से सलाह-मशविरा करते रहना तो आवश्यक होगा ही। इस योजना के समर्थकों का विश्वास है कि इसके द्वारा (१) प्रत्येक राजनैतिक दल को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकेगा पर साथ ही किसी एक राजनैतिक दल को इतना प्रभुत्व भी नहीं मिलेगा कि अल्प-संख्यक वर्गों और देशी राज्यों को उससे डर हो, (२) फ़ेडरल कौंसिल के सदस्यों की संख्या सीमित होने के कारण उसमें उत्तरदायित्व की भावना का पूरा विकास हो सकेगा, और इससे कार्यकारिणी और धारा-सभा के आपसी संबंधों के दृढ़ होने में सहायता मिलेगी, और (३) इस प्रकार की कार्यकारिणी में जनमत का कम-से-कम उतना प्रतिनिधित्व तो होगा ही जिससे धारासभा को संतुष्ट रखा जा सके।

इस योजना के पक्ष में यह बात तो अवश्य कही जा सकती है कि उसमें प्रतिनिधित्व का आधार सांप्रदायिक नहीं, भौगोलिक रखा गया है, पर कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनके कारण उसे मान लेना कठिन हो जाता है। पहिली बात तो यह है कि उसमें एक ऐसी कार्यकारिणी की कल्पना की गई है, जो अडिग और अविचल है : इस प्रकार की सभा से उत्तरदायित्व की बहुत अधिक आशा नहीं रखी जा सकती। दूसरी बात यह है कि वह राजनैतिक दलों पर इतना अधिक निर्भर रहेगी कि यह सम्भव है कि वास्तविक सत्ता जनता के हाथ से निकल कर राजनैतिक दलोंके कुछ बड़े नेताओं के हाथों में केन्द्रित हो जाय; इसके साथ ही यह प्रश्न भी विचारणीय है ही कि विभिन्न, और परस्पर-विरोधी, राजनैतिक दलों का एक साथ प्रतिनिधित्व करते हुए यह सभा कब तक अपना स्थायित्व बनाये रह सकेगी। इस प्रकार की कार्यकारिणी को सफलता प्राप्त करने के लिए आज से एक बिल्कुल विभिन्न वातावरण की अपेक्षा होगी, जबकि हमारे राजनैतिक दल अपनी शक्ति बढ़ाने की ग़रज़ से नहीं पर देश की समृद्धि और उन्नति को ही दृष्टि में रख कर काम करने की क्षमता पैदा कर लेंगे। इसके अलावा, इस प्रकार की कार्यकारिणी केन्द्र में यदि सफल भी हो सकी, तो यह सम्भव है कि बहुत से प्रांतों में उपयुक्त सिद्ध न हो सके। किसी भी स्थिति में, यह तो सम्भव है ही कि केन्द्र व प्रांतों की कार्यकारिणी समितियां अपने निर्माण की पद्धति में एक-दूसरे से भिन्न हों, अथवा एक प्रांत की कार्यकारिणी-सभा का रूप दूसरे प्रांत की कार्यकारिणी से जुदा हो। जिन प्रांतों में अल्प-संख्यक वर्गों की संख्या कम है वहां पार्लमेण्टरी ढङ्ग का शासन सफल हो सकता है, परन्तु जहां साम्प्रदायिक विषमताएं बहुत गहरी हैं, वहां अन्य पद्धतियां प्रयोग में लाई जा सकती हैं।

मैं समझता हूं कि यदि इस योजना पर अमल किया गया तो देश की एकता की दृष्टि से यह प्रयोग महंगा सिद्ध होगा, और साथ में कई अन्य जटिलताएं पैदा हो जायंगी। यदि हमें देश में एक सच्चे संघ-शासन की स्थापना करना है, तो प्रांतीय शासन की रूप-रेखा में भी समानता की रक्षा करनी होगी। परिस्थितियों में छोटे-बड़े अन्तर के बावजूद भी, मेरा विश्वास है, यदि कोई शासन-पद्धति सभी प्रांतों में अपनाई जा सकती है तो वह पार्लमेण्टरी पद्धति है। उसकी सफलता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा हमारे राजनैतिक दलों के निर्माण का सांप्रदायिक आधार है, पर जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है, वह आधार तेज़ी से बदल रहा है। विचार-धाराओं की विभाजन-रेखाएं अब सांप्रदायिक कम और आर्थिक तथा राजनैतिक अधिक होती जारही हैं। इसके साथ ही, यदि धारा-सभाओं में मुसल्मानों का प्रतिनिधित्व और अधिक

बढ़ा दिया गया , सांप्रदायिक चुनाव की पद्धति में कुछ संशोधन-परिवर्त्तन हुए, और सांप्रदायिक-सद्भावना समिति अथवा अल्पसंख्यक-समिति जैसी संस्थाएं बन गईं तो यह कार्य और भी अधिक वेग से चल सकेगा। परन्तु जब तक वातावरण वैसा शुद्ध नहीं बन जाता, पर केवल उसी समय तक, मिश्रित मन्त्रि-मण्डल बनाने का प्रयोग भी किया जा सकता है। पार्लमेंटरी पद्धति में, विशेष अवसरों पर, इस प्रकार के मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनाने की व्यवस्था तो है ही। परन्तु मिश्रित मन्त्रिमण्डल को ही एक आदर्श मान लेना एक ग़लत बात होगी। यदि मिश्रित-मन्त्रिमण्डल बनाना आवश्यक हुआ तो मैं यह पसन्द करूंगा कि उसमें विभिन्न राजनैतिक दलों का प्रतिनिधित्व हो, विभिन्न धर्मों अथवा जातियों का नहीं। इस संबंध में सप्रू-कमेटी के सुझावों से मैं सहमत नहीं हूं। यदि विभिन्न सांप्रदायिक वर्गों को प्रतिनिधित्व दिया गया तो उससे सांप्रदायिक वैम-नस्य के बहुत अधिक बढ़ जाने का डर है, पर यदि विभिन्न राजनैतिक दलों को प्रतिनिधित्व मिला तो उनका सांप्रदायिक आधार धीरे-धीरे नष्ट होता जायगा, और वे देश के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मिलजुल कर विचार और निर्णय कर सकेंगे। इस प्रकार देश में एक स्वस्थ वातावरण का निर्माण होगा। ज्यों ही राजनैतिक दलों के रूप में परिवर्त्तन होगा, और उनका सङ्गठन आर्थिक और राजनैतिक विचार-धाराओं के आधार पर होने लगेगा, हमारी कार्यकारिणी, आप ही आप, सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व करने के स्थान पर देश के आर्थिक और राजनैतिक विचार-धाराओं की अभिव्यक्ति का साधन बन जायगी। तभी वह सच्चे अर्थोंमें—जिन अर्थों में इस शब्द का प्रयोग अन्य देशों, इंग्लैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, यूनान आदि में होता है—एक मिश्रित मन्त्रिमण्डल कहला सकेगी। इस मिश्रित मन्त्रि-मण्डल का प्रचार-मन्त्री किसी ऐसे व्यक्ति को ही बनाया जाना चाहिए जो उन राजनैतिक दलों में, जो धारासभा के चुनाव में भाग ले रहे हों, सबसे बड़े दल का नेता हो, और वह, अपने समस्त मन्त्रिमण्डल के साथ, धारासभा के प्रति उत्तर-दायी हो। यह सुझाव कि प्रधान मन्त्री और उप-प्रधान मन्त्री विभिन्न जातियों के हों, अथवा बारी-बारी से हिंदू और मुसलमान हों, विशेष महत्व नहीं रखता। कार्यकारिणी का धारा-सभाओं के दोनों भागों के एक मिले-जुले अधिवेशन के द्वारा चुने जाने का जो तरीक़ा स्विज़रलैण्ड में प्रचलित है, वह भी भारतीय परि-स्थितियों में अव्यावहारिक ही प्रतीत होता है।

सांस्कृतिक अधिकार

परन्तु कोई भी भारतीय शासन-विधान उस समय तक संपूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक उसमें देश के प्रमुख अल्प-संख्यक वर्गों के सांस्कृतिक अधि-

कारों के संरक्षण की पूरी व्यवस्था न हो। हमारे देश की परिस्थितियों में तो इन सांस्कृतिक अधिकारों के संरक्षण पर अधिक-से-अधिक ज़ोर देना आवश्यक होगा। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि धर्म, संस्कृति और भाषा, सार्वजनिक सभा करने, समिति-संगठन आदि बनाने, अपने विचारों को, सार्वजनिक व्यवस्था और नैतिकता की सीमा में, व्यक्त करने, क़ानून और राजनैतिक अधिकारों की दृष्टि में समानता, आदि के संबंध में अल्पसंख्यक वर्गों को पूरे अधिकार होने चाहिएं। परन्तु, देश के सांप्रदायिक वैमनस्य को देखते हुए इन अधिकारों की और भी विस्तृत व्याख्या कर देना आवश्यक होगा। इस सम्बन्ध में पिछले महायुद्ध के बाद मध्य-यूरोप के देशों में बनने वाले विधानों से हमें मार्ग-प्रदर्शन मिल सकता है। अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों की दृष्टि से पोलैण्ड और ज़ेको-स्लोवाकिया के शासन-विधानों से हम विशेष सहायता की अपेक्षा कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में पोलैण्ड के विधान की ११०-११६ धारायें और ज़ेकोस्लोवाकिया के विधान की १२८-१ और १३०-१३२ धारायें विशेष उपयोगी सिद्ध होंगी। इन धाराओं का सम्बन्ध निम्न चार बातों से है—

(१) शिक्षा-सम्बन्धी सुविधायें देना, व अल्पसंख्यक वर्गों की भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयोग में लाना;

(२) सार्वजनिक धन का शिक्षा और दान आदि में उचित वितरण, और अल्पसंख्यक वर्गों को दान सम्बन्धी शैक्षिक, सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं की स्थापना, व्यवस्था और नियंत्रण का अधिकार देना।

(३) कौटुंबिक क़ानून और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा आदि के सम्बन्ध में उच्च-जातियों की परम्पराओं की रक्षा का आश्वासन। और—

(४) जिन सड़कों, रास्तों, जलाशयों आदि की स्थापना व व्यवस्था सार्व-जनिक व्यवहार के लिए की गई हो, उन्हें काम में लाने की सुविधा प्रत्येक नाग-रिक को, चाहे वह किसी धर्म, जाति अथवा संप्रदाय का हो, पहुंचाने की व्यवस्था।

हमारे देश की परिस्थितियों को देखते हुए, मैं समझता हूं, दो बातों पर विशेष रूप से जोर देना चाहिए—(१) अल्पसंख्यक वर्गों को इस बात का पूरा आश्वा-सन दे दिया जाय कि उनके लिए इस प्रकार की शिक्षा के संबंध में पूरी सुविधा दी जायगी जिससे उनके सांस्कृतिक व्यक्तित्व की रक्षा हो सके, और (२) उनकी भाषा और साहित्य के संरक्षण की दिशा में भी राज्य के द्वारा पूरा प्रयत्न किया जायगा। जेकोस्लोवाकिया के विधान की धारा १३१ में यह कहा गया है कि देश के जिस प्रदेश में भी नागरिकों का एक अंश जेकोस्लोवाक-भाषा के अलावा किसी अन्य भाषा का प्रयोग करता हो, वहां उन नागरिकों के बच्चों को राज्य

के द्वारा उनकी अपनी भाषा में ही शिक्षा की व्यवस्था की जायगी। हमारे देश में भी इस प्रकार के संरक्षण की बड़ी आवश्यकता है, विशेषकर आज जब हम यह देख रहे हैं कि एक ओर तो मुसलमानों को यह डर है कि देश में उनकी भाषा (उर्दू) को जड़-मूल से ही उखाड़ फेंकने का प्रयत्न चल रहा है, और दूसरी ओर हिन्दू इस बात से चिन्तित हैं कि राष्ट्रीयता की वेगवती धारा में उनकी अपनी सदियों से इकट्ठा की गई निधि (हिन्दी) बही जारही है। इस समस्या का निबटारा इसी प्रकार के उपाय द्वारा हो सकेगा। मुसलमान और दूसरे लोग जिनकी मातृभाषा उर्दू है अपनी भाषा और साहित्य के विकास की पूरी सुविधा पा सकेंगे। और सरकारी अधिकारियों अथवा अफसरों द्वारा कोई प्रयत्न इस प्रकार का नहीं किया जायगा जिससे यह कहा जा सके कि उर्दू भाषा को निरुत्साहित किया जारहा है, अथवा फ़ारसी और अरबी के उन शब्दोंके स्थान पर जो उसके अङ्ग होगए हैं, संस्कृत के शब्दों को भर कर उसकी जड़ खोदने का ही प्रयत्न किया जा रहा है। इसी प्रकार, दूसरे प्रांतों में जहां जनसाधारण की मातृभाषा हिन्दी है, उन्हें अपनी भाषा और संस्कृति के विकासकी पूरी सुविधा होगी। सभी स्कूलों में दोनों भाषाओं की शिक्षा का प्रबन्ध होगा। जहां मुसलमानों की संख्या बहुत कम है, वहां भी यदि वे चाहें तो उर्दू की शिक्षा का प्रबंध करना आवश्यक होगा।

इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है, वह यह है कि हम इन मूलभूत अधिकारों के संरक्षण का दायित्व देश की सबसे बड़ी वैधानिक अदलत पर छोड़ें, अथवा लीग ऑफ नेशन्स या वर्ल्ड सिक्यूरिटी कांफ्रेंस जैसी किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था पर। जैसा कि सभी जानते हैं, पहिले महायुद्ध के बाद यूरोपीय देशों की अल्पसंख्यक-संधियों का संरक्षण राष्ट्र-सङ्घ(League of Nations)को सौंपा गया था। यह कहना कठिन है कि इस प्रकार के प्रस्ताव के प्रति मुसलमानों की क्या भावना होगी, परन्तु मेरा अनुमान है कि इस काम के लिए यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण किया गया, अथवा किसी वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संस्था पर इसका दायित्व सौंपा गया तो इससे स्थिति के बहुत अधिक विषम और जटिल होजाने का डर है। मुझे इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण, निरीक्षण अथवा निर्णय में तनिक भी विश्वास नहीं है। संसार के सभी देश आज शक्ति की राजनीति (Power politics) के इतने अधिक दबाव में हैं कि किसी से भी निःस्वार्थता, निष्पक्षता अथवा ईमानदारी की आशा करना कठिन है। आज की परिस्थिति में इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के लिए गुंजाइश नहीं रह गई है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हिन्दुस्तान अन्य

देशों से निकटतम संपर्क स्थापित नहीं करेगा। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपनी आन्तरिक समस्याओं के निबटारे के लिए भी अन्य देशों का मुंह ताकता रहे। चाहे यह काम कठिन हो या आसान, उसे निबटाना तो स्वयं हमें ही है। इसी कारण, मेरा विश्वास है कि इन सांस्कृतिक स्वत्वों के संरक्षण का दायित्व जिस वैधानिक संस्था को हो, वह शुद्ध भारतीय हो। मैं समझता हूं कि हमारे देश की सबसे बड़ी वैधानिक अदालत इस काम को अच्छी तरह कर सकेगी।

अल्पसंख्यक सन्धियों का प्रयोग यूरोपमें असफल हुआ है, यह भी हम भूल नहीं सकते। मूलभूत अधिकारोंकी एक सूची बना लेने और उसे विधानमें शामिल कर लेनेसे ही काम नहीं चल जायगा। उससे अधिक आवश्यक तो यह होगा कि एक सद्भावनापूर्ण ढंगसे उन्हें क्रियात्मक रूप दिया जाय। दो ऐसी आवश्यक बातें हैं, इन मूलभूत अधिकारों की सूची बनाने और क्रियात्मक रूप देने में जिनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। इन बातों की ओर लॉसेन-क़ान्फ्रेंस में इस्मत पाशा ने ज़ोरदार शब्दों में, हमारा ध्यान आकर्षित किया था। इस्मतपाशा के शब्दों में, इन दो बातों में से एक तो बाहरी राजनैतिक तत्त्व है, जिसकी अभिव्यक्ति अल्पसंख्यक वर्गों की रक्षा के बहाने से विदेशी राज्यों के द्वारा देश के आन्तरिक प्रबंध में हस्तक्षेप करने की भावना में होती है, और दूसरा भीतरी राजनैतिक तत्त्व है, जिसकी अभिव्यक्ति अल्पसंख्यक वर्गों द्वारा ही अपने स्वतन्त्र राज्य बना लेने की इच्छा में होती है। ये दोनों तत्त्व एक-दूसरे में गुंथे-मिले हैं। देश के आन्तरिक प्रबंध में हस्तक्षेप करने के लिए उत्सुक विदेशी शक्तियां अल्पसंख्यक वर्गों को राज्य के विरुद्ध उकसाती रहती हैं, और जब उनका असन्तोष किसी आंदोलन के रूप में प्रकट होता है, तब उनके बचाव के बहाने से वह बीच में कूद पड़ती हैं, पर उनका वास्तविक उद्देश्य सदा ही राज्य की शक्ति को कम करना होता है। जेकोस्लोवाकिया में १९३८ और १९३९ में जो कुछ हुआ, उससे इस्मत पाशा द्वारा १५ वर्ष पहिले कहे गये शब्दों का पूरा समर्थन मिलता है। सूडेटान-जर्मनों को जेकोस्लोवाक-सरकार के विरुद्ध भड़काने का काम नाजियों द्वारा ही किया गया था। जर्मनी की नात्सी सरकार द्वारा दी गई प्रेरणा का ही यह परिणाम था कि उन्होंने सरकार के विरुद्ध बग़ावत की; परन्तु इस बग़ावत से जर्मनी की नात्सी सरकार को जेकोस्लोवाकिया की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप का, बाद में उसे हड़प जाने का, मौक़ा मिल गया। हमारी अल्पसंख्यक समस्या का संरक्षण किसी विदेशी शक्ति के हाथों में दे देने का भी यही परिणाम हो सकता है। किसी भी देश से हम पूर्ण निष्पक्षता की अपेक्षा नहीं कर सकते। यह निश्चित है

कि हमें इंगलैण्ड को भी अल्पसंख्यक वर्गों की रक्षा के नाम पर अपने आन्तरिक प्रश्नों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने के अधिकार से वंचित करना है। क्रिप्स-प्रस्ताव की हमारी अस्वीकृति का एक सबसे बड़ा कारण यही था कि उसमें हमारे जातीय और सांप्रदायिक अल्पसंख्यक वर्गों की रक्षा के नाम पर ब्रिटेन को हिंदुस्तान के भावी शासन-विधान में दखल देने का अधिकार दिया गया था।

सप्रू-कमेटी भी मूलभूत अधिकारों के शासन-विधान में सम्मिलित किये जाने के पक्ष में है। उसका मत है कि हमारे भावी-विधान में व्यक्ति के राजनैतिक और नागरिक दोनों प्रकार के अधिकारों का पूरा संरक्षण होना चाहिए, धार्मिक सहिष्णुता का पूर्ण आश्वासन होना चाहिए, जिसमें धार्मिक विश्वासों, परम्पराओं और संस्थाओं में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन शामिल होगा, और सब जातियों की भाषा और संस्कृति के बचाव का आश्वासन भी होना चाहिए। सप्रू-कमेटी यदि उन अधिकारों की विस्तृत व्याख्या कर देती, जो अल्पसंख्यक वर्गों और विशेष कर भारतीय मुसल्मानों, को दिये जाने चाहिएं तो अधिक अच्छा होता, परन्तु जान पड़ता है, उसने इस प्रश्न पर मानवी दृष्टिकोण से अधिक विचार किया है, सांप्रदायिक दृष्टिकोण से कम। अन्त में, एक यह प्रश्न रह जाता है कि इन संरक्षणों को क्रियात्मक रूप कैसे दिया जाय। सप्रू-कमेटी ने अल्पसंख्यक समितियों (Minorities Commissions) के बनाये जाने का विचार उपस्थित किया है, परन्तु इस प्रकार की अल्पसंख्यक समितियों का काम केवल सलाह देना हो सकता है। जहां तक अल्पसंख्यक वर्गों के मूलभूत सांस्कृतिक संरक्षणों को क्रियात्मक-रूप देने का प्रश्न है, यह काम सङ्घ-शासन के न्याय-विभाग के सिपुर्द ही सौंपा जाना चाहिए। सङ्घीय न्यायालय (Federal Judiciary) ही मूलभूत अधिकारों की रक्षा और सांप्रदायिक समझौते की स्थापना का दायित्व अपने ऊपर ले सकता है, और वही उन सब झगड़ों को निबटा सकता है जो मूलभूत अधिकारों को कार्यान्वित करने के संबंध में समय-समय पर केन्द्रीय-शासन व विभिन्न इकाइयों के बीच पैदा हों।

: १३ :

सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के पथ पर

शिक्षा और समाज-सुधार

वैधानिक योजनाएं और राजनैतिक समझौते हिन्दुस्तान में रहनेवाली विभिन्न जातियों के आपसी संबंधों को अच्छा बनाने की दिशा में एक बड़ी सहायता पहुंचा सकते हैं। वे प्रजातन्त्र के प्रयोग की सफलता के लिए एक अच्छे वातावरण का निर्माण भी कर सकते हैं, पर वे काफ़ी नहीं हैं। संभव है कि वे वर्त्तमान की समस्याओं को सुलझा सकें, पर भविष्य के निर्माण में वे बहुत दूर तक नहीं जा सकते। उसके लिए देश में सद्भावना, शान्ति और समझौते का एक स्थायी वातावरण बनाना पड़ेगा। हमें यह देखना होगा कि हम केवल 'जनता का राज्य' ही कायम नहीं कर रहे हैं, परन्तु एक ऐसा राज्य स्थापित कर रहे हैं जो सचमुच जनता के लिए है। हमें यह देखना होगा कि देश का बहुमत सत्ता के मद में बह नहीं जाता, और अल्पसंख्यक वर्ग अपनी हीनता का ऐसा विकृत विश्वास अपने में विकसित नहीं कर लेते, जो उन्हें नृशंस बना दे।

देश में इसी प्रकार के वातावरण की स्थापना के लिए हमें शिक्षा के प्रश्न को अपने हाथ में लेना होगा। सच तो यह है कि प्रजातन्त्र का समस्त भविष्य शिक्षा पर ही निर्भर रहता है : शिक्षा की आधार-भित्ति के बिना प्रजातन्त्र का प्रासाद क्षण में ढह जायगा। देश में आज शिक्षा की दशा क्या है ? समस्त जनता का १० प्रतिशत भी पढ़ा लिखा नहीं है। यह १५० वर्षों के अंग्रेज़ी शासन का वरदान (या अभिशाप) है ! जिस शासन के अन्तर्गत यह संभव हो उसे अधिक दिनों तक क़ायम रखने का अधिकार नहीं है। उसके स्थान पर किसी ऐसे शासन की स्थापना आवश्यक है, जो आधुनिक विचार-धाराओं और परिस्थितियों से अधिक निकट संपर्क में हो। शिक्षा-प्रसार के बिना मताधिकार को बढ़ा देना, जैसा हमारे देश में होता रहा है, बेमानी-सा, बल्कि ख़तरनाक, है। उससे तो यही होगा, जैसा हमारे देश में आज हो भी रहा है, कि शक्ति ऐसे नेताओं के हाथ में चली जायगी जो, अपनी संकीर्ण राजनैतिक दलों के लाभ को दृष्टि में रखते हुए, जनता की भावनाओं को ग़लत दिशा में उभाड़ने की चेष्टा करेंगे। प्रजातन्त्र में प्रत्येक वयस्क पुरुष या स्त्री को मत देने का अधिकार तो दिया ही जाना चाहिए, परन्तु शिक्षा का प्रसार उससे भी अधिक तेज़ी के साथ होना चाहिए।

प्रजातन्त्र का वास्तविक आधार शिक्षा ही है। जनता में जबतक शिक्षाका प्रचार न होगा, उसमें यह क़ाबलियत नहीं आ सकती कि वह देश में बड़े-बड़े राजनैतिक प्रश्नों को सुलझा सके, जिनके सुलझाने का दायित्व एक प्रजातन्त्र-राज्य में उस पर है। परन्तु, शिक्षा का अर्थ केवल पढ़ना-लिखना आ जाना या गणित का थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर लेना नहीं है। शिक्षा का अर्थ कहीं अधिक व्यापक है। केवल यह नियम बना देना कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य होगा, काफ़ी नहीं है। यह देखना भी ज़रूरी होगा कि शिक्षा किस ढंग की हो। शिक्षा यदि व्यक्ति में सहिष्णुता और समवेदना की भावना का विकास नहीं कर पाती, और उसमें दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण को समझने की क्षमता पैदा नहीं करती तो उसे व्यर्थ ही मानना चाहिए। प्रजातन्त्र में शिक्षा का अर्थ होता है कि एक ऐसी समझदारी की भावना का विकास जो हमें सहानुभूति के साथ यह जान लेने की क्षमता दे कि दूसरे व्यक्ति यदि ग़लत राय भी रखते हैं,तो उनके इस प्रकारकी ग़लत राय बना लेनेके क्या कारण हैं,और, साथ ही हममें यह प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर दे कि उस ग़लत राय में सचाई का जो थोड़ा-बहुत अंश भी हो उसे हम सही रूप में समझ सकें। इस प्रकार की समझदारी उसी समय पैदा की जा सकती है जब कि जनता में सही ढंग की शिक्षा के प्रचार की व्यवस्था हो।

प्रजातन्त्र में किस प्रकार की शिक्षा आवश्यक है, इस सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लें। पहिला अन्तर जो हमें प्रजातन्त्र-देशों व तानाशाही देशों की शिक्षा में मिलता है वह यह है कि प्रजातन्त्र देशों में विवेक बुद्धि के विकास पर ज़ोर दिया जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप मतों की विभिन्नता सामने आती है, और दूसरे के दृष्टिकोण को सहानुभूति के साथ समझने की क्षमता भी पैदा होती है, जिससे सहिष्णुता की भावना का विकास होता है, विभिन्नताओं के बीच समानता के सूत्र को खोज निकालने की प्रवृत्ति बढ़ती है, तानाशाही देशों में, इसके बिल्कुल विपरीत, शिक्षा का ज़ोर कट्टरता के विकास, सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति और असहिष्णुता के आधार पर प्रस्थापित समानता की भावना की अभिवृद्धि पर रहता है। एक दूसरी विशेषता जो हमें तानाशाही देशों की शिक्षा में मिलती है, यह है कि उसमें शिक्षा के शारीरिक पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया जाता है, और उसके मनोवैज्ञानिक, भावना-शील और सांस्कृतिक पक्ष की उपेक्षा की जाती है। हिटलर ने जो आदर्श अपने देश के युवकों के सामने रखा था वह यह था कि उन्हें शिकारी कुत्ते की तरह तेज़, चमड़े की तरह सख्त, और फ़ौलाद की तरह मज़बूत होना चाहिए। शारीरिक शिक्षा को उपेक्षा की दृष्टि से

नहीं देखना चाहिए, पर उसे ही शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य मान लेना स्पष्टतः ग़लत होगा। प्रजातन्त्र में शिक्षा का मुख्य लक्ष्य विवेक रहता है, क्योंकि उसका विकास शरीर के विकास की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक है। शिक्षा में किन्हीं निश्चित आदर्शों पर भी ज़ोर नहीं दिया जाना चाहिए। विद्यार्थियों से यह अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि वे अच्छे नाज़ी, या अच्छे कम्यूनिस्ट, या अच्छे प्रजातन्त्र-वादी भी, बनें। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि उनमें मानवी गुणों का विकास हो सके। वह व्यक्ति को एक अच्छा मनुष्य बना दे, एक ऐसा मनुष्य जिसके अपने विचार हों, और जो उन विचारों को निर्भयता के साथ अभिव्यक्त कर सके, पर साथ ही जिसमें दूसरे मनुष्य के दृष्टिकोण को समझने की प्रवृत्ति और क्षमता भी हो।

आजकल प्रायः प्रत्येक देश में समाज-विज्ञान (Sociology) के अध्ययन पर विशेष ज़ोर दिया जा रहा है। शिक्षा के दृष्टिकोण में आज सर्वत्र एक आमूल-परिवर्त्तन होरहा है। सभी जगह शिक्षा को मनुष्य के सामाजिक जीवन से संबद्ध करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। हमारे देश में भी भूगोल, अर्थ-शास्त्र, इतिहास, राजनीति आदि विषयों को मानव के दृष्टिकोण से अध्ययन करने की आवश्यकता है। समाज-विज्ञान के समुचित अध्ययन से ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किये गये प्रचार या सामूहिक भावुकता के आक्रमणों से बुद्धि और इच्छा को बचाया जा सकता है, समाज-विज्ञान ही व्यक्ति को समाज की परिधि में अपना उचित स्थान पा लेने में सहायक हो सकता है, समाज-विज्ञान की शिक्षा को व्यापक बनाने के साथ ही एक दूसरा आवश्यक काम यह होगा कि हमारे शिक्षा-लयों में अधिक-से-अधिक विद्यार्थियों और वयस्कों को विभिन्न धर्मों, साहित्यों, कलाओं और संस्कृति के अन्य विभागों के तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा दी जाय। डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दों में, "एक समुदाय के सदस्यों द्वारा दूसरे समु-दायों के सिद्धांतों और आदर्शों की जानकारी से एक-दूसरे को समझने में बड़ी सहायता मिलेगी, और आधुनिक सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन से भारतीय विद्यालय न केवल उदार शिक्षा के केन्द्र बन जायंगे, पर वे विचार-क्षेत्र में भी शक्तिशाली आंदोलनों को जन्म देंगे। इसका प्रभाव धर्म, राजनीति और जीवन के प्रत्येक विभाग को उदार-चेता बनाने की दिशा में पड़ेगा। इससे नागरिक की भावना के दृढ़ बनने में भी सहायता मिलेगी।"[1] सामाजिक शास्त्रों के अलावा, उतना ही ज़ोर कल्पना-प्रसूत साहित्य और ललित कलाओं के अध्ययन पर भी दिया जाना चाहिए। कथा-साहित्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उससे

१—बेनीप्रसाद : Hindu-Muslim Questions पृ० १०४ :

हमें अपने साथियों को सहानुभूति के साथ समझने में सहायता मिलती है, परन्तु एकता की जिस भावना का जन्म वाद्य अथवा मौखिक सङ्गीत की सह-साधना में होता है वह किसी अन्य साधन के द्वारा सम्भव नहीं है। प्रसिद्ध लेखक लेनार्ड के शब्दों में, "सङ्गीत-प्रेम राजनैतिक मतभेद और सामयिक श्रेणीभेद को चीरता हुआ व्यक्ति को उनसे ऊपर उठा ले जाता है। यदि वे लोग जो राजनीति में एक-दूसरे के विरोधी हैं, एक ही सङ्गीत-मंडली में, एक साथ बैख़ और हैण्डेल के गीतों को दोहराएं तो उनमें सहिष्णुता और पारस्परिक सहानुभूति की वह भावना जो शासन की प्रजातन्त्रात्मक पद्धति को सुरक्षित रखने के लिए नितांत आवश्यक है, अधिक गहरी होगी, और सुदृढ़ बनेगी।"¹

प्रजातन्त्र की एक दूसरी बड़ी आवश्यकता समाज-सुधार की भावना का विकसित होना है। शिक्षा और समाज-सुधार का आन्दोलन, दोनों साथ-साथ, बढ़ते रहना चाहिए, क्योंकि यदि शिक्षा के साथ-साथ सबके सामने बराबर अवसर, और प्रत्येक व्यक्ति के सामने अधिक-से-अधिक अवसर, उपस्थित नहीं होजाते तो इसका परिणाम सम्भवतः सामाजिक अराजकता हो। शिक्षा में एक आमूल परिवर्त्तन के साथ-साथ हमारी सामाजिक संस्थाओं के पुनर्निर्माण की आवश्यकता भी है। हम अपने को एक विचित्र परिस्थिति में डाल लेंगे, यदि हम एक ओर तो नये ढंग की शिक्षा के विकास में जुट पड़ें, और दूसरी ओर अपने पुराने रीति-रिवाजों और समाज के मध्यकालीन ढांचे को भी ज्यों-का-त्यों रखने की चेष्टा करें। भारतीय नारी की वर्त्तमान स्थिति में एक बड़े सुधार की आवश्यकता है। अस्पृश्यता का कलंक हमारे देश से मिट ही जाना चाहिए। मज़दूरों के लिए अच्छे मकान, बढ़ी हुई तनख्वाहों और काम करने की परिस्थितियों में आमूल-सुधार की ज़रूरत भी है ही। जात-पांत की व्यवस्था को या तो पुनर्जन्म लेना पड़ेगा, या नष्ट होना पड़ेगा। जब तक कि आज से कहीं अधिक अच्छे ढंग की शिक्षा के सार्वजनिक और व्यापक प्रचार के साथ-साथ समाज-सुधार का एक इन्क़िलाबी आन्दोलन खड़ा नहीं होजाता, हमारे देश में प्रजातन्त्र की जड़ें सदा खोखली ही रहेंगी।

शिक्षा और आर्थिक पुनर्निर्माण

परन्तु हिंदुस्तान का सबसे बड़ा शाप तो गरीबी है। एक काफ़ी लंबे अर्से तक हमारी शिक्षा और समाज-सुधार की समस्त प्रवृत्तियों का लक्ष्य इस ग़रीबी को दूर करना होगा। शिक्षा और समाज-सुधार की प्रवृत्ति के अभाव का मुख्य कारण ग़रीबी है, और जब तक इन प्रवृत्तियों का समुचित विकास नहीं होजाता,

१—लेनार्ड : Democracy, पृ० ८३ :

ग़रीबी का दूर होना असंभव है। एक भयानक चक्र बन गया है, जिसके तोड़ने की ज़रूरत है, और वह तोड़ा उसी समय जा सकेगा, जब चारों ओर से उस पर एक साथ आक्रमण हो। हमारा देश कृषि-प्रधान माना जाता है, पर हमारे देश के ८० प्रतिशत व्यक्ति गांवों में रहते हैं, और उनमें से ६० प्रतिशत का जीवन-निर्वाह कृषि के द्वारा होता है। पर कृषि के हमारे साधन पुराने और दक़ियानूसी हैं। ज़मीन का एक बड़ा हिस्सा बेकार पड़ा हुआ है, जो थोड़ी-सी मेहनत से उपजाऊ बनाया जा सकता है, और जो हिस्सा आज जोता जा रहा है, वह भी, यदि कृषि के वैज्ञानिक साधन काम में लाये जायं तो आज से कई गुना अधिक फ़सल पैदा कर सकता है। इन साधनों के अपनाये जाने पर आज क्यों ज़ोर नहीं दिया जारहा है, अंग्रेज़ी शासन के पहिले हिन्दुस्तानी केवल खेती पर ही नहीं रहते थे, उद्योग-धंधों में भी आगे बढ़े हुए थे। हिंदुस्तान के केवल जुलाहे ही एशिया, अफ्रीका और यूरोप, तीन महाद्वीपों की कपड़े की अधिकांश ज़रूरत को पूरा करते थे। अंग्रेज़ी शासन में हमारे उद्योग-धंधों का अंत होगया, पर आज जब अंग्रेज़ी शासन का अन्त समीप है, तब इन उद्योग-धंधों को पुन-र्जीवित करना होगा, ज्यों-का-त्यों नहीं पर विज्ञान के नये आविष्कारों को ध्यान में रखते हुए। औद्योगीकरण के भी कई स्तर होंगे, कुछ बड़े पैमाने पर, कुछ साधा-रण और कुछ गांवों के झोंपड़ों में बिखरा हुआ। यह सब करने के लिए नये ज्ञान और विज्ञान से परिचित होने की आवश्यकता होगी। विदेशों में अपने चुने हुए विद्यार्थियों को भेजना होगा। औद्योगीकरण के इस पुनर्निर्माण को अपनी ग्राम-सुधार की देश-व्यापी योजनाओं से भी संबद्ध करना होगा। देश के उद्योग-धंधों की कमी के कारण ज़मीन पर जो बहुत अधिक बोझा होगया है उसे कम करना होगा। जनता के एक बहुत बड़े अंश को खेती से हटाकर औद्यो-गीकरण में लेना होगा। देश की समृद्धि और जनता के सुख को एक सूत्र में पिरो देना होगा। हमें अपना उद्देश्य यह रखना होगा कि देश का कोई वयस्क और स्वस्थ मनुष्य बेरोज़गार न रहे।

शिक्षा और समाज-सुधार की प्रवृत्तियों के द्वारा देश के धन और समृद्धि को तो बढ़ाया जा सकता है, पर जब तक सही शिक्षा और वास्तविक समाज-सुधार न हो, तब तक देश में आर्थिक समानता की स्थापना नहीं की जा सकती, और बिना इस आर्थिक समानता के देश के धन और समृद्धि का बढ़ाया जाना केवल व्यर्थ ही नहीं अहितकर भी सिद्ध होगा। हमारे मुख्य उद्देश्य यह नहीं हैं कि हमारे यहां के अमीर अधिक अमीर बन जायं, और गरीब अपनी गरीबी में ही सब्र करना सीखें। पूंजीवाद को जितना बल मिलेगा, प्रजातन्त्र उतना ही

ख़तरे में पड़ेगा। जनता को केवल अपने राजनैतिक स्वत्वों के लिए ही नहीं, अपनी आर्थिक समानता की रक्षा के लिए सतत जागरूक रहना पड़ेगा। आज़ादी चाहे वह राजनैतिक हो या आर्थिक, सतत, प्रतिक्षण, प्रतिपल जागृत रहने में ही क़ायम रखी जा सकती है। इस कारण हमारी शिक्षा और समाज में समानता की स्थापना करने के सभी प्रयत्नों और आंदोलनों के लिए आर्थिक प्रश्नों से अपना सीधा सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक होगा। शिक्षा की कल्पना यदि हम दो विभिन्न—साधारण और विशेष-क्षेत्रों में करें, तो यह कहा जा सकता है कि हमारी साधारण शिक्षा का ज़ोर समाज-सुधार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने पर होगा, हमारे विशेष शिक्षा पाये हुए विद्यार्थी अपना समस्त ज्ञान आर्थिक पुनर्निर्माण की दिशा में लगा देंगे। विज्ञान ने हमारे जीवन के मूल्यों में आमूल-परिवर्तन कर दिया है। हमारी औद्योगिक, कृषि-सम्बन्धी और सांस्कृतिक प्रगति, और हमारे देश का बचाव तक, आज विज्ञान पर ही निर्भर है। ऐसी दशा में, वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए राज्य की ओर से अच्छे-से-अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए। वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा ही इस देश के राशि-राशि प्राकृतिक साधनों से पूरा लाभ उठा सकेंगे, और पानी के बहाव में बंधी हुई अपार विद्युत-शक्ति को भी मुक्त करके उससे अपने सुख और-समृद्धि को बढ़ाने का काम ले सकेंगे।

सामाजिक समानता की सृष्टि

शिक्षा के व्यापक प्रचार, समाज-सुधार की प्रवृत्ति के विकास और आर्थिक समानता की स्थापना, के परिणाम-स्वरूप ही हम देश में ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकेंगे, जिसमें सामाजिक समानता की भावना बढ़ और फैल सके। जब देश में काम बढ़ेगा, तब समाज के विभिन्न अंगों के लिए एक दूसरे से मिलजुल कर काम करने के मौक़े भी बढ़ेंगे, और मिलने-जुलने से ही एक-दूसरे को समझा, और एक-दूसरे के प्रति स्नेह और आदर की भावना को बढ़ाया जा सकता है। मिल-जुल कर काम करने के मौके जितने अधिक मिलते हैं, मेल-जोल उतना ही अधिक बढ़ता है। एक कारख़ाने में काम करने वाले व्यक्ति अपने को धर्म अथवा जाति के आधार पर विभिन्न वर्गों में नहीं बांटते, आर्थिक स्वार्थ ही उनकी दलबन्दी की मुख्य प्रेरणा का काम देते हैं। हिन्दू पूंजीपति जो मज़दूर की गाढ़ी कमाई पर मौज उड़ाता है, हिन्दू-मज़दूर की दृष्टि में उतना ही हेय और पतित है, जितना मुसलमान मज़दूर की। देश के आर्थिक विकास के साथ सहकारी समितियों आदि की भी अधिक संख्या में स्थापना होगी। जैसे-जैसे उनकी संख्या बढ़ेगी, और एक बड़ी मात्रा में देश के विभिन्न वर्गों के सदस्य

उसमें भाग लेंगे, उनमें पारस्परिक सहयोग की भावना का विकास पाना भी सहज स्वाभाविक होगा।

सच तो यह है कि ग़रीबी और ग़रीबी की यन्त्रणाएं ज्यों-ज्यों कम होती जायंगी, सामाजिक सहयोग की भावना बढ़ेगी : भूखा आदमी तो रोटी के एक कौर के लिए भी प्राण लेने या देने के लिए तैयार होजाता है, पर जिसके पास पेट भर रखने के लिए हो वह छोटी बातों पर झगड़ा नहीं किया करता। आज के हमारे सांप्रदायिक वैमनस्य की जड़ में यह आर्थिक बेबसी है। किसान, छोटे दुकानदार, सरकारी नौकर, सभी के लिए आज का मुख्य प्रश्न रोटी का संघर्ष है और आज हमारे स्नायु इतने दुर्बल होगए हैं, और हमारी विवेक बुद्धि इतनी कुंठित, कि जहां हमें रोटी के छिन जाने का झूठ-मूठ का भय भी होजाता है, हम बौखला से जाते हैं और वांछित-अवांछित सभी प्रकार के वर्गों के करने के लिए उद्यत होजाते हैं। यदि हमारे देश में रोज़गार का क्षेत्र इतना संकुचित न होता, और हमारे मध्यम वर्ग को, जिसके हाथ में प्रायः देशों का नेतृत्व रहा करता है, सरकारी नौकरी पर इतना निर्भर नहीं रहना पड़ता, तो मुझे पूरा विश्वास है कि, हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों का इतिहास आज से बिल्कुल दूसरा होता। आज हम देश-व्यापी अथवा स्थानीय किसी भी प्रकार की राजनीति को लें, हमें आसानी से यह देख सकेंगे कि हमारे अधिकांश राजनैतिक सङ्घर्षों का मूल-कारण आर्थिक ही है। यदि मुसल्मान किसानों को हिंदू ज़मींदार के आश्रित न रहना पड़े, या हिंदू साहूकार से क़र्ज़ न लेना पड़े, इसी प्रकार यदि हिंदुओं के साधारण आर्थिक स्वत्व किसी मुसल्मान के आर्थिक स्वत्वों की बलि पर ही निर्भर न हों, तो यह निश्चित है कि देश में एक विभिन्न वातावरण की सृष्टि हो सकेगी। यह एक निःसंदिग्ध तथ्य है कि जब देश में नये औद्योगिक और व्यवसायिक धंधे निकल आयंगे, और वैज्ञानिक साधनों के आलंबन से पुराने धंधे भी एक नया जन्म ले लेंगे, हमारे समाज का वर्तमान रूप बिल्कुल ही बदल जायगा। इन आर्थिक प्रवृत्तियों का एक सीधा प्रभाव तो यह होगा कि देश का वह मध्य-कालीन सामन्तशाही वर्ग, ज़मींदार आदि जो ग्रामीण जीवन में हिन्दू और मुसल्मानों को एक साथ रखने की क्षमता खो चुके हैं, अपना महत्व खो देंगे और एक ओर तो मध्यमवर्ग की शक्ति और संख्या दोनों का विस्तार होगा, और दूसरी ओर निम्न-श्रेणी की स्थिति आज से कहीं अधिक अच्छी होगी। मध्यमवर्ग बेरोज़गारी के उस आतङ्क से सर्वथा मुक्त होगा, जो आज के सांप्रदायिक मतभेदों की जड़ में है, और निम्न-वर्ग या तो राज्य की सुव्यवस्था के परिणाम-स्वरूप या एक बड़ी क्रांति के द्वारा, अपनी स्थिति ऐसी बना लेगा कि उसे भी अपनी दैनिक

आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर न रहना होगा। वैसी दशा में सांप्रदायिक गलतफहमियां अपने आप मिट जायंगी, क्योंकि हम में से हर एक की दृष्टि भूतकाल के भग्नावशेषों पर नहीं भविष्य के सुनहले स्वप्नों पर होगी।

राष्ट्रभाषा की समस्या

किसी भी देश के राष्ट्रीय जीवन में भाषा का स्थान बड़े महत्व का है। भाषाहमारे विचारों का साधन है, उसके द्वारा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य तक न केवल अपनी दैनिक और साधारण आवश्यकताओं को ही प्रदर्शित कर सकता है परन्तु उनकी अनुभूति की गहराई, कल्पना की उड़ान और भावों की उदारता उसी में मूर्त्त-रूप धारण कर लेती है। भाषा, इस प्रकार, राष्ट्र-जीवन के साथ गुंथी हुई है। वह उस जीवन का प्रतीक भी है, भाषा के उत्थान-पतन में हम राष्ट्रीय-जीवन के उत्थान-पतन की कहानियां पढ़ सकते हैं। राष्ट्रीय-जीवन जब कभी ऊंची उड़ान लेता है भाषा अपने आप शुद्ध, प्रखर अर्थवाहिनी बन जाती है, राष्ट्रों के पतन के साथ भाषा का तेज नष्ट होता जाता है। ऐसी तेजहीन भाषा का सहारा लेकर साहित्य पनप नहीं पाता, और राष्ट्रीय-जीवन दिन प्रतिदिन शुष्क होता चला जाता है।

हम यदि किसी देश की सच्ची स्थिति जानना चाहें तो उसकी भाषा को बारीकी से देखें। महाकवि मिल्टन के शब्दों में, "किसी देश के शब्द यदि कुरूप और बेढंगे हैं, और उनका उच्चारण अशुद्ध है, तो वे इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उस देश के रहने वाले सुस्त, काहिल और निकम्मे हैं, जिनके दिमाग़ किसी भी प्रकार की ग़ुलामी के लिए तैयार हैं।" इसी प्रकार यदि हम किसी देश को अपनी भाषा के प्रति सतर्क, और उससे उन्नतिशील बनाने में तत्पर पाते हैं तो, यह निश्चित है कि उसकी सभ्यता कम-से-कम पतन की ओर झुकी नहीं है, और उसका भविष्य किसी प्रकार से चिन्तनीय नहीं है। जवाहरलालजी के शब्दों में, "जीवित भाषा नवचेतना से अनुप्राणित, सशक्त, परिवर्तनशील और सतत प्रगतिशील होती है, और उन लोगों के जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, जो उसे बोलते और लिखते हैं।"

किसी बढ़ते हुए देश के लिए तो भाषा का प्रश्न एक बहुत ही आवश्यक प्रश्न है। भाषा की एकता राष्ट्रीयता को सुदृढ़ बनाने वाले ज़रूरी तत्वों में से एक है। बिना एक राष्ट्रभाषा के, जिसमें समस्त देश के सामान्य जीवन की अभिव्यक्ति हो और जिसे देश का एक अधिकांश भाग समझ सके, किसी राष्ट्र का आगे बढ़ना कठिन बात है। राष्ट्र में भाषाओं का जितना बाहुल्य होगा, एक दूसरे में जितना अन्तर होगा, राष्ट्रीयता की भावना के सबल बनाने में उतनी-ही कठिनाई होगी। यह भी एक कारण है कि हमारी राष्ट्रीयता की समस्या इतनी

जटिल बन गई है। हमारा देश एक महाद्वीप के समान है, जिसमें दर्जनों भाषाएं बोली जाती हैं, और उनके सैकड़ों रूपान्तर हैं। उत्तर भारत में ही हिंदी और उर्दू के अलावा बंगला, मराठी और गुजराती हैं। दक्षिण में तामिल, तेलगू, मलयालम आदि हैं। इनके अलावा उड़िया, आसामी, पंजाबी और पश्तो हैं। भाषाओं की इस विविधता के कारण एक ही संदेश एक साथ देश के कोने-कोने तक पहुंचाया जाना एक असंभव काम है। दक्षिण भारत की भाषाओं को उत्तर भारत की किसी साधारण सभा में प्रयोग में नहीं लाया जा सकता, और हिंदी वालों के लिए गुजराती, मराठी अथवा बंगला समझना बहुत आसान काम नहीं है। बंगाली गुजरात के किसी प्रदेश में अपनी भाषा से काम नहीं चला सकता। और केवल मराठी जानने वाले के लिए किसी भी मराठी-इतर प्रदेश में समझा जाना असंभव है।

भाषाओं की इस विविधता और दूरी के कारण ही अंग्रेज़ी ने हमारे राष्ट्रीय-जीवन में इतना प्रमुख स्थान ले लिया है। एक काफ़ी लंबे समय तक हमारे शिक्षित-वर्ग ने उससे राष्ट्र-भाषा का ही काम लिया है। पंजाबी इसके द्वारा एक शिक्षित मनुष्य पर, चाहे वह बंगाली हो अथवा मद्रासी, अपनी भावनाएं प्रगट कर सकता है। हमारी राष्ट्रीय चेतना का भी वह एक आवश्यक माध्यम रही है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की थर्रा देने वाली वक्तृताएं, महामना गोखले के अध्ययनपूर्ण भाषण, गांधीजी की प्रमुख विचार धाराएं और जवाहरलाल के अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के विश्लेषण हमें अंग्रेज़ी में प्राप्त रहे हैं। आज भी राष्ट्रीय महासभा तक की कार्यवाही प्रधानतः अंग्रेज़ी में होती है। पर, यह शुभ लक्षण नहीं है। अंग्रेज़ों के सांस्कृतिक गुलाम बने रह कर राजनैतिक मुक्ति की कल्पना करना एक हास्यास्पद बात है, क्योंकि वैसी दशा में हमारी शासन-व्यवस्था चाहे कितनी ही सुगठित और स्वतन्त्र क्यों न हो, हम बच्चे के समान अंग्रेज़ी-संस्कृति के अंचल में लिपटे रहेंगे। हमारी दशा उस क़ैदी के समान होगी, जिसके पैरों की बेड़ियां खोल दी जाती हैं, पर जो निष्क्रियता की एक लम्बी आदत से अपने चलने की शक्ति को खो बैठा हो। एक राष्ट्र-भाषा को हम पालें, और अपने उल्लास, आकांक्षाओं और स्वप्नों से उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें, तो स्वतन्त्रता हमारे दरवाजे पर आयगी और कहेगी, "मुझे स्वीकार करो"।

देश में भाषाओं की इतनी विविधता होते हुए भी राष्ट्रभाषा का सवाल ऊपर से आसान दिखाई देता है, इस संबंध में अब विशेष मतभेद नहीं रह गया है कि हमारी राष्ट्र-भाषा वही हो सकती है जो उत्तर-भारत के अधिकांश भागों में बोली जाती है, और जो संस्कृत और फ़ारसी-अरबी के शब्दों के अनुपात से हिंदी

अथवा उर्दू के नाम से प्रख्यात है, और इसी अनुपात के आधार पर देवनागरी अथवा अरबी लिपि में लिखी जाती है। बंगला वालों की ओर से उत्तर-भारत की भाषा का राष्ट्र-भाषा के पद के इस दावे का विरोध भी हुआ, जो कुछ अंशों में अब भी मौजूद है, पर उसका आधार मजबूत नहीं था। बंगला वालों का कहना था कि क्योंकि उनका साहित्य श्रेष्ठ है, और हिन्दी ने बंकिम, रवीन्द्र-नाथ, शरत् चटर्जी जैसे साहित्यकार पैदा नहीं किये, इसलिए बंगला को राष्ट्र-भाषा का पद मिलना चाहिए। पर, राष्ट्र भाषा के निर्णय के लिए साहित्य की ऊंचाई का मापदण्ड उपयुक्त नहीं है। यों तो मराठी और गुजराती वाले भी हिन्दी-साहित्य से आगे बढ़े होने का दावा, कुछ दिनों पहिले तक तो, कर ही सकते थे। और, यदि साहित्य की ऊंचाई से राष्ट्र-भाषा का निश्चय होता हो तो हम बंगला को क्यों लें, फ्रैंच को क्यों न लें? राष्ट्र-भाषा तो वही भाषा हो सकती है जिसे देश के अधिकांश लोग आसानी से समझ सकें, सीख सकें और सिखा सकें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि हम भारतीय भाषाओं में से किसे राष्ट्रभाषा के लिए चुनें। वह तो हिंदी अथवा हिंदुस्तानी (उसे उर्दू भी कह सकते हैं) है ही। प्रश्न यह है कि उसका कौन-सा रूप राष्ट्रभाषा के लिए उपयुक्त है। पंजाब से लेकर बिहार तक और काश्मीर से मध्य-प्रांत के सुदूर कोने तक इसी भाषा के कई रूप (shades) बोलचाल की भाषा के प्रयोग में आते हैं। लाहौर के सर्वसाधारण की भाषा में फ़ारसी और अरबी के शब्द अधिक संख्या में पाये जाते हैं, दिल्ली की भाषा पर फ़ारसी और अरबी का रंग है तो, पर बहुत गहरा नहीं। कानपुर की भाषा में संस्कृत के शब्द मिल गये हैं, और इलाहाबाद और बनारस आदि में तो भाषा बहुत अधिक संस्कृतमयी होजाती है।

मैं बोलचाल की भाषा की बात कर रहा हूं; साहित्य की भाषा की नहीं। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है—और भाषा की समस्या के साथ हमें उसे भी सुलझा लेना है—कि हमारे यहां जनसाधारण की भाषा और साहित्य की भाषा के बीच एक बड़ी गहरी खाई पैदा होगई है, जो दिन-पर-दिन अधिक चौड़ी होती जारही है। साहित्य के लिए उत्तर-भारत में दो अलग-अलग भाषाएं बन गई हैं। वे हैं उर्दू और हिन्दी! उनके अलग-अलग और एक-दूसरे को कहीं स्पर्श न करने वाले (Exclusive) दायरे बन गए हैं। इन दायरों में ही उनका विकास भी तेज़ी के साथ होरहा है, एक के साहित्यकार अपनी प्रेरणा अरब और ईरान के साहित्य और जीवन से प्राप्त करते हैं, और दूसरी के, अपनी

भाषा को फ़ारसी और अरबी के प्रभाव से सर्वथा मुक्त बनाने, और उसे संस्कृत-मयी बनाने पर तुले हुए हैं। यह बात मैं उर्दू और हिन्दी दोनों साहित्यों की मुख्य धाराओं के लिए कह रहा हूं। दोनों भाषाओं के लेखकों में एक दल ऐसा भी है जिसने इस (Puritanical) और (Seporist) आन्दोलन के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ ऊंची की है।

हिंदी बनाम उर्दू

हिंदी और उर्दू मूलतः एक ही भाषा हैं, यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी सचाई से इनकार नहीं किया जा सकता। भाषाओं का सम्बन्ध जानने के लिए हमें तीन बातों पर नज़र रखना चाहिए—(१) शब्दों के उच्चारण की पद्धति, (२) वाक्य-रचना, और (३) शब्द-कोष। इन तीनों में से पहिली दो बातें मुख्य हैं। इनमें भी वाक्य रचना भाषा का मुख्य आधार होता है, जो प्रायः अपरिवर्त्तनीय रहता है; शब्दों के उच्चारण की पद्धति में, एक लम्बे काल में थोड़ा-बहुत अन्तर आ जाता है, परन्तु शब्दकोष तो प्रायः सांस्कृतिक परिवर्त्तन के प्रत्येक झोंके के साथ बदलता रहता है। काव्य-रचना की पद्धति अपने-आप से गठी हुई रहने के कारण अपरिवर्त्तनीय है, पर शब्द न तो इस प्रकार के किसी नियम का ही पालन करते हैं, न वे दूसरे से बहुत ज़्यादा मिलजुल कर रहते हैं। उनमें से हर एक की अपनी अलग स्थिति है। उनके बदलते रहने से भाषा नहीं बदला करती। राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के साथ-साथ भी कभी शब्दों में बड़ा परिवर्त्तन होजाता है। पहिले महायुद्ध में इस प्रकार शब्दों का बहुत अधिक प्रत्यावर्त्तन हुआ है। अंग्रेज़ी शब्दों का बहिष्कार हुआ; फ्रांस की रूढ़ि-पसन्द भाषा ने अपनी दोनों बाहें फैला कर अंग्रेज़ी शब्दों का स्वागत किया। रूसी लोगों ने अपने शहरों के नाम तक से जर्मनी का 'बर्ग' हटा कर अपने देश का 'ग्राड' रखा—इसी प्रकार सेंट पीटर्स बर्ग पैटरोग्राड बना, और पीटर-वंश के पतन पर लेनिनग्राड।

इन नियमों के आधार पर यदि हम हिंदी और उर्दू की जांच करें तो हम देखेंगे कि दोनों भाषाओं का उच्चारण प्रायः एकसा है, और व्याकरण भी मूलतः एक ही है। इस दृष्टि से उर्दू और हिंदी एक-दूसरे के बहुत नज़दीक हैं, और संस्कृति, बृजभाषा, अवधी, फ़ारसी और अरबी से काफ़ी दूर। अब रही शब्दों के चुनाव की बात। भाषा में कुछ शब्द ऐसे रहते हैं जो जन-साधारण में प्रचलित हों, कुछ बाहर से उधार लिए जाते हैं, और कुछ दूसरे शब्दों को मिला-जुलाकर अपने बना लिए जाते हैं। उर्दू और हिंदी दोनों में जन-साधारण में प्रचलित जो शब्द पाए जाते हैं, वे एक ही हैं; बाहर से लिए जाने वाले शब्दों

में ज़रूर काफ़ी अंतर है, और बढ़ता जा रहा है। उर्दू फ़ारसी और अरबी से अपने शब्द चुनती है, हिंदी संस्कृत से और कभी-कभी संस्कृत से निकली हुई अन्य प्रांतीय भाषाओं से भी। इसलिए उनके रूप में इतना अधिक अन्तर होगया है।

इस अन्तर को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। उर्दू और हिन्दी मूलतः एक भाषा होते हुए भी, और उनमें आज देश की किसी भी दूसरी भाषा के मुक़ाबिले में आपस में बहुत अधिक साम्य होते हुए भी, अलहदा-अलहदा भाषाएं बन गई हैं। हिंदी जानने वालों के लिए उर्दू का समझना मुश्किल काम है। लिपि की भिन्नता के कारण पढ़ना तो दूर की बात है, पर सुनकर भी उसके समझने में आप कल्पना से ही काम ले सकते हैं, और उस कल्पना को अधिक सतर्क बनाकर तो आप गुजराती, मराठी और बंगला समझने का प्रयास भी कर ही सकते हैं। इसी प्रकार उर्दू के समर्थक मित्र, जिनमें मुसलमानों की संख्या ज़्यादा है, हमारी आज की हिंदी समझने में अपने को बिल्कुल असमर्थ पाते हैं। बोलचाल की भाषा समझना उतना कठिन नहीं, पर साहित्य की भाषा एक-दूसरे से विभिन्न हैं; क्रिया, क्रियापद, सर्वनाम आदि को छोड़ दीजिये तो उनमें कहीं साम्य नहीं मिलेगा। नीचे के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी—

"इसमें कोई कलाम नहीं कि इक़बाल बहुत बलन्द पाया शायर अज़ीमुल मर्त्तबात मुफ़ाकिर थे। बाज़ हज़रात को शायद इस बात के तस्लीम करने में पशोपेश हो कि वह उलूमे-रूहानी के मुअल्लम और असरारे बातिनी के हकीक भी थे। और उन्हें रूहानियत की गहराइयां मालूम और रमूज़े-मरत्फ़ी से बखूबी आगाही थी।"

इसके मुक़ाबिले में आज की हिन्दी का एक उदाहरण देखिए :—

"हिन्दी-कविता की नीहारिका, सम्प्रति, अपने प्रेमियों के तरुण-उत्साह के तीव्र-ताप से प्रगति या साहित्याकाश में अत्यन्त वेग से घूम रही है। समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक-पिण्ड उससे टूट पड़ते हैं, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश संग्रहीत नहीं कर पाये हैं कि अपनी ही ज्योति में अपने लिए नियमित पंथ खोज सकें, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गतिविधि पर निश्चित-सिद्धांत निर्धारित कर लें। ऐसी दशा में कहा नहीं जा सकता कि यह अस्तव्यस्त केन्द्र-परिधि- हीनद्रवित-वाष्प-पिण्ड निकट भविष्य में किस स्वस्थ स्वरूप में फलीभूत होगा, कैसा आकार-प्रकार ग्रहण करेगा।"

प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति अमरनाथ झा के शब्दों में × × उर्दू का

सारा वातावरण और प्रतिभा विदेशी हैं, भारतीय नहीं। इसका प्रमाण यह है कि एक हिन्दू भी, जो हिन्दू दन्तकथाओं और पुराणों पर, हिन्दू-धर्म के वातावरण में पला होता है, उर्दू लिखते समय नौशेरवां, हातिम, शीरीं, लैला, मजनूं, यूसुफ़ की चर्चा करेगा और कभी भूलकर भी युधिष्ठिर, भीम, सावित्री, दमयन्ती, कृष्णा और दूसरे चरित्रों की, जिससे वह बचपन से परिचित रहा है, चर्चा नहीं करेगा। ×× फरहंगे आसफ़िया में, जो हैदराबाद में तैयार किया गया उर्दू का एक नया शब्दकोष है, ७००० अरबी के शब्द हैं, ६५०० फारसी के; और सिर्फ ५०० संस्कृत के। उर्दू कविता के लिए जिन छन्दों का प्रयोग होता है, वे हिंदुस्तानी नहीं, ईरानी हैं। उर्दू के बहुवचन भी भारतीय पद्धति के अनुसार नहीं हैं, फ़ारसी के नियमों का पालन करते हैं। ×× पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी लेखकों की प्रवृत्ति अपनी भाषा को कृत्रिम, संकुचित और आडम्बरमयी बनाने की ओर रहा है। वे संस्कृत के अपरिचित, कठिन और क्लिष्ट शब्दों को प्रयोग में ला रहे हैं। वे प्राचीन हिन्दी काव्यों और गायकों की सादा शैली का त्याग करते जा रहे हैं। वे भाषा को जनता से, जिसके बीच वह पैदा हुई है, दूर लेते जा रहे हैं। सीधे-सादे ग्रामीण जो सूरदास, कबीर और तुलसीदास को समझते हैं, निराला सुमित्रानन्दन पन्त, और जयशंकर 'प्रसाद' की भाषा को नहीं समझते।"

यही हमारी आज की भाषा की समस्या है। साहित्य की भाषा जनता की भाषा से दूर जा पड़ी है। मुसल्मानों ने हिन्दुओं से अलहदा अपनी एक भाषा बना ली है, और हिन्दू मुसल्मानों से हट कर अपनी अलग भाषा के विकास-परिवर्द्धन में व्यस्त हैं। इन अशुभ दायरों को तोड़ना है। मैं इस बात को मानने के लिए तैयार हूं कि साहित्य की भाषा और जनता की भाषा में कुछ अन्तर ज़रूर होगा। श्री के० एम० मुंशी लिखते हैं : "प्रत्येक भाषा के दो रूप होते हैं : एक से हमारी दैनिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति होती है, और दूसरा हमारी कल्पना की उड़ान और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए है। पहिला रूप ऐसा होना चाहिए जिसे सब लोग आसानी से समझ सकें, और दूसरा रूप भी ऐसा होना चाहिए कि, उसमें कल्पना की उड़ान अपने को अभिव्यक्त और घोषित कर सके। ×× ऊंचे दर्जे का साहित्य और उसकी भाषा जनसाधारण की संपत्ति नहीं हो सकती, वह उनके बाहर की चीज़ है। हरएक कारीगर ताजमहल नहीं बना सके, न ताजमहल हरएक ग्रामीण के लिए, रहने का उचित स्थान ही है।"

यह प्रवृत्ति साहित्य के लिए चाहे शुभ हो, पर राष्ट्रीय जीवन का उससे कल्याण नहीं हो सकता—वह साहित्यकार को राष्ट्रीय जीवन से अलहदा काट लेने का प्रोत्साहन देती है। एक ग़ुलाम राष्ट्र के लिए वह लाभदायक नहीं है। उसके

लिए तो साहित्य में क्रान्ति का संदेश हो और वह संदेश गांवों के कोने-कोने तक पहुंच सके। आज हमें साहित्य में कालिदास की ज़रूरत नहीं है, जो एक रोमांस के वातावरण में शकुन्तला जैसे पात्रों की सृष्टि करे, हमें तो गोर्की चाहिए जो मां जैसी चीज़ हमें दे सके। हमारे बीच कालिदास और भवभूति आज हों भी तो उनकी कल्पना की उड़ान की प्रशंसा कराने का समय आज हमारे पास नहीं है, आज़ादी की अपनी इस लड़ाई के बाद शायद हमें उसके लिए फ़ुरसत हो, आज के विश्व-संघर्ष में शायद वह भी संभव न हो सके। हमें आज साहित्यकार को जनता के संपर्क में ले आना है। जवाहरलालजी लिखते हैं—"आज संस्कृति का आधार अधिक व्यापक होना चाहिए, और वही भाषा का जो संस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन है, आधार होगा।" आज के युग के सबसे बड़े कलाकार रोमां रोलां ने एक बार लिखा था, "जीवन-कला वही है जो मानवता के निकट संपर्क में हो।" रोमां रोलां लिखते हैं, "यह एक अच्छी प्रसिद्धि है, जो अपने को जीवन से काट कर, और अन्य मनुष्यों से भिन्न बन कर, प्राप्त की जाती है! इस प्रकार के सब कलाकारों का नाश हो। हम तो जीवन के साथ रहेंगे, पृथ्वी के स्तनों से दुग्ध-पान करेंगे, और जनसाधारण में जो गहराई और पवित्रता है उसे स्वीकार करेंगे।" कल्पना की उड़ान आकाश की ऊंचाई का स्पर्श करे, पर उसका आधार पृथ्वी पर हो। कलाकार की कल्पना इन्द्र-धनुष के रंगों के समान ज़मीन को छूती हुई आकाश की ओर उठे।

यह है समस्या का एक अंग। दूसरा अंग कृत्रिमता की उन दीवारों को, जो उर्दू और हिन्दी के बीच चिन दी गई हैं, तोड़ फेंकना है। एक ही प्रदेश के हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग भाषाओं में सोचें, अलग-अलग संस्कृतियों से अपनी प्रेरणा प्राप्त करें, उनके विचार जुदा-जुदा हों, उनकी अभिव्यक्ति का ढंग भिन्न हो, यह असह्य है, और यदि इसे जारी रखा गया तो हमारे देश का भविष्य नितांत अंधकारमय है। मैं मानता हूं—और ऊपर की विवेचना में इसकी बहुत स्पष्ट स्वीकृति है—कि आज उर्दू और हिन्दी दो अलग-अलग भाषाएं बन गई हैं, और उनके साहित्य, और उन साहित्यों की मूल-प्रेरणा एक-दूसरे से भिन्न है, पर यदि हमारी राष्ट्रीयता को जीना है, और विकास पाना है तो शीघ्र ही मौजूदा उर्दू और हिन्दी के साहित्य इतिहास के संग्रहालयों में पहुंचा देनी चाहिए, और जन-साधारण में से एक सामान्य भाषा को चुन कर, उसमें नई कल्पना की उड़ान और नये भावों के प्रवेश से, एक नये साहित्य का निर्माण करना पड़ेगा, जो शुद्ध हिंदू अथवा मुस्लिम-संस्कृति का एकान्त प्रतिनिधि न होकर उत्तर-भारत के हिन्दू और मुसलमान दोनों के अन्यान्य उल्लास-आकांक्षा और स्वप्नों को

प्रतीक बन सके, जिसमें हमारे भूत-काल की सिद्धियों का संदेश, और भविष्य के आदर्शों की झलक हो ।

समाधान की दिशा

इन दोनों भाषाओं के समन्वय से यदि एक राष्ट्रभाषा की सृष्टि की जाय तो उससे उर्दू वालों को यह डर है कि उर्दू भाषा के विकास को क्षति पहुंचेगी। यह डर बिल्कुल काल्पनिक है। इसके पीछे ग़लतफ़हमी के अलावा कुछ नहीं है। यह सच है कि उर्दू हिंदी के समान ही, राष्ट्र-भाषा के लिए एक पोषक-धारा (Feeder) का काम करेगी। पर इससे उसका विकास रुकेगा नहीं। उर्दू के बिना जैसे राष्ट्र-भाषा की कल्पना करना कठिन है, वैसे ही बिना अपने को राष्ट्र-भाषा के संपर्क में रखे उर्दू अपना विकास भी नहीं कर सकती। वह केवल फ़ारसी और अरबी पर अवलंबित रह कर पनप नहीं सकती। इस ज़मीन में उसकी पैदाइश हुई है, इसीसे उसे अपनी जड़ों को सींचना होगा। बिना इस जीवन-शक्ति को ग्रहण किये वह सूख और मुरझा जायगी। आज उर्दू का साहित्य उस वेग से आगे नहीं बढ़ रहा है जैसे बंगला, मराठी, गुजराती और हिन्दी आगे बढ़ रहे हैं, इसका कारण यही है कि उसने अपने को देश के जीवन से अलहदा कर लिया है। हम लोग जो उर्दू को एक Prodigal Son की तरह, राष्ट्र-भाषा के विस्तृत कुटुम्ब में लौटा ले आना चाहते हैं, उर्दू के लाभ के लिए भी उतने ही चिंतित हैं, जितने राष्ट्र के; क्योंकि हम जानते हैं कि उर्दू को नुकसान पहुंचा कर राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता।

उर्दू एक अलग भाषा बन गई है और एक काफी लंबे अर्से तक अलग भाषा के रूप में उसका विकास होगा। उसे मिटाने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह हमारे लिए मुस्लिम देशों से संपर्क का एक बड़ा अच्छा माध्यम बन सकेगी। इस्लाम की संस्कृति में जो सर्वश्रेष्ठ है, उर्दू के द्वारा हम उसे बड़ी आसानी से पा सकेंगे। इस रूप की और तत्वों के बिना—मैं न तो राष्ट्र-भाषा के विकास की ही कोई कल्पना कर सकता हूं, न राष्ट्र के उत्थान की—उर्दू ही हमें अरब-ईरान और तुर्की की संस्कृति और भाषा के संपर्क में रख सकेगी।

सच पूछा जाय तो हिन्दी और उर्दू का आपस में कोई झगड़ा नहीं है—वह तो कुछ ग़लतफ़हमियों के कारण कुछ थोड़े से अर्से के लिए पैदा हो गया है, जिसका मिट जाना ज़रूरी ही नहीं स्वाभाविक भी होगा। गांधीजी ने इस संबंध में लिखा था, "असली प्रतिस्पर्धा तो हिन्दी और उर्दू में नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ी में है। वही करारा मुक़ाबला है। मैं तो उसके लिए निश्चय ही बड़ा ही चिन्तित हूं। हिंदी-उर्दू विवाद का कोई आधार नहीं है।

× × हिन्दुस्तानी को मूर्त-रूप देने के लिए हिन्दी और उर्दू को उसकी पोषक भाषाएं समझना चाहिए। × × हिन्दी ज्यादातर हिन्दुओं में और उर्दू मुसल्मानों में महदूद रहेगी। × × कोई वजह नहीं कि इन दो बहनों में प्रतिस्पर्धा हो। हां, प्रेम-भरी प्रतिस्पर्धा तो हमेशा ही होनी चाहिए। × × मौलवी साहब अब्दुल हक़ के योग्यतापूर्ण नेतृत्व में उस्मानियां यूनिवर्सिटी उर्दू की बड़ी सेवा कर रही है। यूनिवर्सिटी में उर्दू का एक बहुत बड़ा कोष है। इसकी भी किताबें उर्दू में तैयार की गई हैं, और तैयार की जा रही हैं। और चूंकि उस यूनिवर्सिटी में ईमानदारी के साथ उर्दू में शिक्षा दी जा रही है, इसलिए उसकी तरक्क़ी होनी ही चाहिए। अकारण तास्सुब की वजह से अगर आज हिंदी-भाषी हिन्दू वहां के बढ़ते हुए साहित्य से लाभ न उठायें तो यह उनका कसूर है। × × मुसलमान अगर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और नागरी-प्रचारिणी सभा के विनम्र परिश्रम के फलों का उपयोग न करें, तो यह उनका कसूर है। × × यह मैं जानता हूं कि ऐसे भी कुछ लोग हैं जो इस बात का सपना देख रहे हैं कि यहां ख़ाली उर्दू या ख़ाली हिंदी ही रहेगी। लेकिन मेरा खयाल है कि यह अपवित्र सपना है, और सदा सपना ही रहेगा। इस्लाम की अपनी ख़ास संस्कृति है, इसी तरह हिंदू-धर्म की भी अपनी संस्कृति है। भावी भारत में इन दोनों संस्कृतियों का पूर्ण और सुखद सम्मिश्रण रहेगा। जब वह शुभ दिन आयेगा, तब हिंदू-मुसलमानों की सामान्य भाषा हिंदुस्तानी होगी। लेकिन उर्दू फिर भी अरबी-फारसी शब्दों की बहुलता के साथ फूलती-फलती रहेगी और हिंदी अपने संस्कृत शब्दों के भारी भण्डार के साथ फूले-फलेगी। शिबली ने जिस भाषा में लिखा है वह मर नहीं सकती। लेकिन उन दोनों की अच्छाइयां हिंदुस्तानी जबान में बिलकुल घुलमिल जायंगी।" गांधीजी के ये शब्द उर्दू-वालों के लिए उनके तमाम शक और शुबह को दूर कर देने वाले होने चाहिएं।

और, मैं तो समझता हूँ, राष्ट्रभाषा का एक प्रमुख आधार बन जाने से उर्दू का महत्व बढ़ेगा ही। जहाँ तक 'टेकनिकल' शब्दों का सवाल है अरबी और संस्कृत दोनों इस क्षेत्र में धनी हैं। एक सामान्य राष्ट्र-भाषा दोनों में से किसी एक पर ही पूर्णतः निर्भर नहीं रह सकती। यदि अरबी को एक विदेशी भाषा मान कर हम उसकी अवहेलना करें तो संस्कृत भी तो जन-साधारण में कभी भी प्रचलित नहीं है और कोई भी जो बोलचाल की हिंदी से परिचित है इस बात को जानता है कि जितने संस्कृत के शब्द इस भाषा में आये हैं वे सब धीरे-धीरे काफी परिवर्त्तित होते गये हैं और इसका कारण यही था कि उनका

मुसल्मानों के द्वारा नहीं, जनसाधारण के द्वारा भी आसानी से उच्चारण नहीं किया जा सकता था। ग्राम और वर्ष जैसे छोटे-छोटे शब्द भी गाँव और बरस बन गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तानी केवल संस्कृत पर निर्भर नहीं रह सकती।

सच तो यह है कि संस्कृत उसका मुख्य आधार तक न हो सकेगी। जो लोग बोलचाल के साधारण शब्दों का प्रयोग उनके मूल संस्कृत रूप में करने लगे हैं, वे चाहे कुछ चाहते हों, पर यह स्पष्ट है कि एक जीवित, जनसाधारण में प्रचलित भाषा के प्रचार की चिंता उन्हें नहीं है। गांधीजी भी हिंदुस्तानी में संस्कृत पक्ष को प्रधानता देना जरूरी नहीं समझते। आदिल साहिब के एक पत्र का उत्तर देते हुए श्रीयुत मुन्शी ने लिखा था कि "गुजराती, महाराष्ट्री, बंगाली और केरलों ने अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियां बनाली हैं, जिनमें शुद्ध उर्दू तत्वों का प्रायः प्रभाव है। यदि हम हिंदी को स्वीकार करते हैं तो स्वभावतः ही हम संस्कृतमयी हिंदी को स्वीकार करेंगे।" इसके सम्बन्ध में गांधीजी ने लिखा है, "पहली बात तो यह है कि मैं निश्चित रूप से यह कह सकता हूं कि गुजराती मराठी और बंगला सभी भाषाओं में फ़ारसी के शब्द भी काफ़ी संख्या में हैं, और मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूं कि गुजरात और बंगाल के हिंदुओं को एक-दूसरे के तथा मुसल्मानों के सम्पर्क में आने के लिए अपनी भाषा को संस्कृतमयी बनाना ज़रूरी हो। इसके अलावा हमें शुद्ध उर्दू तत्वों से कोई वास्ता नहीं है, हमें तो उत्तर भारत की जीवित भाषा और उसके मुहावरों से मतलब है। यदि इस जीवित भाषा को राष्ट्र-भाषा का आधार बना लिया जाय तो उसमें मुसल्मान अच्छी तरह हमसे सहयोग कर सकते हैं। संस्कृत की ओर लौट जाने का मतलब यह होगा कि हम उनकी हिंदी, बंगला और गुजराती के प्रति कीगई सेवाओं को भुला देना चाहते हैं। इस प्रकार की शर्तों पर सहयोग की मांग करना आत्म-हत्या में सहयोग की मांग से कम नहीं है।"

जवाहरलालजी लिखते हैं, "हमें इस नये जीवन का, जो हिंदी और उर्दू दोनों के क्षेत्रों में प्रवाहशील है, स्वागत ही करना चाहिए, यद्यपि वह कुछ समय तक के लिए खाई को अधिक चौड़ा बना देगा। हिंदी और उर्दू दोनों ही आज अपने को आधुनिक वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक, व्यापारिक और कभी-कभी, सांस्कृतिक विचारों की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति के अनुपयुक्त पाती हैं और इसीलिए अपने को आधुनिक समाज की ज़रूरतों को पूरा करने के योग्य बना रही हैं और इसमें उन्हें सफलता भी मिली है।

× × हिंदी और उर्दू एक-दूसरे के प्रति द्वेष क्यों रखें? हम तो अपनी भाषा जितनी अधिक होसके धनी बनाना चाहते हैं और यह उस समय तक संभव

नहीं है जब तक हम हिंदी और उर्दू शब्दों को अपने वातावरण के उपयुक्त न होने के कारण कुचलने की कोशिश करते रहेंगे। हमें तो दोनों की ज़रूरत है और दोनों को ही मंजूर करना होगा। हमें इस बात को समझ लेना चाहिए कि हिंदी के विकास का अर्थ उर्दू का विकास भी है और उर्दू के विकास से हिंदी की वृद्धि होगी। दोनों का एक-दूसरे पर बड़ा शक्तिशाली प्रभाव पड़ेगा और दोनों के शब्द-कोष तथा विचारों में वृद्धि होगी।"

यह मुमकिन है कि बहुत दूर जाकर उर्दू अपनी स्वतन्त्र स्थिति को क़ायम न रख सके और एक विकसित राष्ट्र-भाषा में अपने को रंग दे, पर यह तभी संभव है जब राष्ट्रभाषा उर्दू के समस्त सौन्दर्य और वैभव को आत्मसात् करने की क्षमता रखती हो। उस समय उर्दू अपना काम कर चुकी होगी। मैं मानता हूं कि उर्दू ने हिंदुस्तान में इस्लाम की संस्कृति की रक्षा करने का महान् कार्य किया है; वह उस संस्कृति से इतनी निकटता से हिलमिल गई है कि जब तक उस संस्कृति को मिटा नहीं दिया जाता या पूरा अपना नहीं लिया जाता उर्दू को मिटाया नहीं जा सकता। इस्लाम से हमने पहले बहुत कुछ सीखा है, आज भी बहुत-कुछ सीखना बाकी है। मैं तो समझता हूं कि हमें एक बहुत बड़ी निधि देने के लिए ही मुस्लिम संस्कृति की एक अलग धारा आज हिंदुस्तान में मौजूद है। जिस दिन हम उसे मुक्त हृदय से भारतवर्ष की भावी संस्कृति में मिला सकेंगे, उस दिन उसकी अलहदा स्थिति अनावश्यक हो जायगी। मेरे मन में इस संबंध में तनिक भी संदेह नहीं है कि वह दिन दूर नहीं है। हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों के संपर्क से एक महान संस्कृति को जन्म लेना है। इस महान् समन्वय की दिशा में काम करने वाली संस्कृतियां इतनी ज़बर्दस्त हैं कि वे व्यक्तियों द्वारा रोकी नहीं जा सकतीं।

राष्ट्र-भाषा के विकास से प्रांतीय भाषाओं को तो और भी कम ख़तरा है। उर्दू के समान वे हिंदी की ही रूपांतर नहीं हैं। उनका विकास हिंदी से स्वतन्त्र रूप से हुआ है, और उस विकास के पीछे बहुत बड़े कारण काम करते रहे हैं। भारतवर्ष इतना बड़ा देश है कि उसमें सर्वत्र एक ही भाषा का व्यवहार असम्भव है। उसमें तो एक-दूसरे से मिली-जुली अनेक भाषाएं होंगी, सदा रही भी हैं। उनका मिटाया जाना श्रेयस्कर नहीं; उनकी समृद्धि राष्ट्र की समृद्धि है, पर इस अनेकता में लाभ तभी है जब उसके पीछे भारतीय संस्कृति की एकता के सूत्र को देश और पकड़ सके। श्री मुंशी के शब्दों में, "भारत का साहित्य एक है क्योंकि उसके संस्कार कुछ अलग-अलग नहीं हैं। जिस तरह आकाश के अनगिनती तारे गिनने की उतावली में अज्ञानी लोग उनकी ताल पर सधी हुई चाल की परीक्षा नहीं कर सकते, उसी तरह विशाल अन्तर, विभिन्न लिपियों और भाषाओं के भेद

की वजह से भारतीय साहित्य की असली एकता को भी नहीं देख सकते।"

राष्ट्र-भाषा में हम इस राष्ट्रीय एकता की एक दिव्य झांकी देखेंगे, परन्तु भारतीय संस्कृति का बहुमुखी विकास तब भी रुकेगा नहीं, राष्ट्र-भाषा के निकट संपर्क से, और उसका माध्यम लेकर अन्य प्रांतीय भाषाओं के संपर्क से, उसे प्रोत्साहन ही मिलेगा। संस्कृति आपसी सम्पर्कों में ही आगे बढ़ा करती है। राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में श्री मुंशी ने ठीक ही लिखा है, "यह भाषा तो पढ़े-लिखों की सौतेली मां है। इन भाषाओं को बोलने वालों का जीवन-व्यवहार उनकी मातृभाषा द्वारा ही होगा। उनकी साहित्य-प्रवृत्ति उन्हींकी भाषा के द्वारा विकसित होगी। पर जैसे-जैसे राष्ट्र-भाव बढ़ता जायगा, जैसे-जैसे विज्ञान हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों को एक दूसरे के पास लाता जायगा, जैसे-जैसे सारे देश के संस्कार और जीवन एक-धार होते जायंगे, वैसे-वैसे यह भाषा जीवन-तत्व को प्राप्त करेगी। पर, जहां तक दृष्टि पहुंचती है, वहां तक प्रांतों की देश-भाषाओं का स्थान यह कभी नहीं ले सकती।"

पर, सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इस भाषा के विकास से हिंदी भी आज कुछ सशंकित-सी दिखाई देती है। हिंदी में एक ऐसा दल जोर पकड़ता जारहा है जो समझता है कि हिंदुस्तानी का स्वागत करने से हिंदी का सर्वनाश होजायगा, और हिंदू-संस्कृति ख़त्म हो जायगी। हिंदू-संस्कृति इतनी निःशक्त नहीं। पांच सौ वर्षों के मुस्लिम-शासन में वह ख़त्म नहीं हो सकी तो फ़ारसी अरबी के कुछ प्रचलित शब्दों को अपनाने से वह मिट नहीं जायगी। रहा हिंदी के सौंदर्य का सवाल। सो, मैं तो समझता हूं कि हिंदुस्तानी के रूप में उसका सौंदर्य निखरेगा ही, वह प्रौढ़ और धनी बनेगी, सारे हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक वैभव की छलछलाती हुई धाराएं उसके किनारे पर उछलेंगी, और उसके चरणों में अपनी विनम्र भेंट चढ़ाएंगी, और उससे प्रेरणा प्राप्त कर अपने प्रांतों के सांस्कृतिक जीवन के पुनर्निर्माण में व्यस्त होंगी।

साहित्य का परिवर्तित दृष्टिकोण

आज हमें अपने साहित्य के दृष्टिकोण को भी बदलना है—और उसके साथ-साथ भाषा का रूप अपने आप ही बदलता जायगा। उस सब साहित्य को हम ख़ैरबाद कहें, जिसमें परियों के क़िस्से और राजाओं की कहानियां हैं। हमें कलाकार के मानसिक क्षितिज को अधिक व्यापक बनाना होगा। जब तक उसकी सहानुभूति अधिक-से-अधिक व्यापक न होगी, उसको कला में गहराई और स्थायित्व न पा सकेंगे। प्रजातन्त्र और साम्यवाद के इस युग में ऊंचे साहित्य और जन-साधारण के साहित्य की बीच को दीवारों को गिरा देना होगा। हिन्दी

उनको हिन्दुस्तानी में ले लेना चाहिए और उनके अलावा भी नये लफ्ज़ों का बहिष्कार इसलिए ही नहीं होना चाहिए कि वह किसी ख़ास ज़बान से लिये गए हैं, बल्कि इसमें यह देखना चाहिए कि वह कहां तक जल्द लोगों में चल गए हैं या चल जायंगे।" मैं इससे पूर्णतः सहमत हूं।

हां, इस बात पर अलग से ज़ोर देने की ज़रूरत भी है कि फ़ारसी और अरबी से जो शब्द लिये जायं वे हिन्दुस्तानी के व्याकरण का नियंत्रण मानें। दूसरी भाषाओं के शब्द तो अपने आप ढल जाते हैं, पर उर्दू की वाक्य-रचना प्रायः हिन्दुस्तानी से मिलती-जुलती होने के कारण उससे आने वाले शब्द कभी कभी अपने उलझे हुए रूप में आ जाते हैं। 'सल्तनते बरतानियां' हिन्दुस्तानी नहीं है, 'ब्रिटेन की सल्तनत' हो सकता है। हिन्दुस्तानी में हम 'आब' नहीं ले सकते क्योंकि हमारा पानी अच्छा-खासा है, यद्यपि एक विशेष अर्थ में, जैसे 'मोती की आब' में हम उसे स्वीकार कर सकते हैं, पर आबे-हयात हर्गिज़ नहीं।

४. हमें प्रांतीय भाषाओं से भी शब्द लेने पड़ेंगे। यह सच है कि उर्दू को छोड़ कर दूसरी प्रांतीय भाषाओं का आधार या तो संस्कृत रहा है या संस्कृत का उन पर काफ़ी प्रभाव रहा है, और इस कारण लिपि और वाक्य-रचना के क्रिया, क्रियापद आदि को हटा दिया जाय तो उनका शब्द भण्डार बहुत कुछ हिन्दी से मिलता-जुलता है, पर फिर भी कई सौ वर्षों के स्वतन्त्र विकास में उन्होंने बहुत-से नये शब्द गढ़े हैं या आसपास से प्राप्त किये हैं। उनमें से बहुत से शब्दों की ज़रूरत हमें अपनी राष्ट्र-भाषा को धनी बनाने में होगी।

गुजरातियों ने आंख की कोमलता प्रगट करने के लिए एक बड़ा अच्छा शब्द 'अंखड़ली' बना लिया है। Summing-up के लिए हिन्दीमें कोई अच्छा शब्द नहीं है—परिशिष्ट, उपसंहार आदि में वह बात नहीं है, मराठी के 'समारोप' से बड़े मज़े में काम चल सकता है।

५. इस सब के बाद भी विदेशी भाषाओं—विशेषकर अंग्रेज़ी—पर हमें निर्भर रहना ही होगा। अंग्रेज़ों के साथ 'रेल' आई है, उसके ठहरने के लिए 'स्टेशन' बने हैं, जिन पर 'प्लैट-फॉर्म' हैं, कौंसिलें हैं, एसेंबली हैं, और भी बहुत-अनगिनत लफ्ज़ हैं, इन सब को अंग्रेज़ों के साथ जहाज़ पर लाद कर वापिस भेजना भी हम क्यों चाहें? ये सब तो हमारे अपने बन ही गए हैं, पर अभी तो हम पश्चिम के संपर्क में ग़ुलाम और मालिक के संबंध में ही आये हैं, इसलिए कुछ मामूली ज़रूरतों की चीज़ें हमें उनसे मिल गई९, जिनके लिए हम उन्हें धन्यवाद दें और खुश रहें, पर एक आज़ाद हिन्दुस्तान—वह जब कभी भी आये, और मैं समझता हूं, जल्दी ही आयेगा—पश्चिम के नज़दीक बराबरी से बैठेगा, और

तत्र जहां हम उसे बहुत कुछ देंगे, वहां बहुत कुछ सीखेंगे भी। पश्चिम के विज्ञान को चाहे वह राजनैतिक हो, चाहे आर्थिक या सांस्कृतिक, हमें निकट से अध्ययन करना ही पड़ेगा।

विज्ञान के क्षेत्र में तो हम जितने ज़्यादा शब्द पश्चिम से ले सकें, हमें सुभीता रहेगा। भाषा का अन्तर होते हुए भी प्रायः सभी यूरोपियन देश, विज्ञान के क्षेत्र में, एक दूसरे से मिलते-जुलते शब्दों का प्रयोग ही करते हैं।

ऊपर दिये गए सुझाव भाषा की शुद्धता के समर्थकों को ज़रूर चौंका देंगे। वह कहेंगे कि इस तरह से तो हमारी भाषा खिचड़ी बन जायगी, और ऐसी खिचड़ी भाषा में साहित्य का विकसित होना भी असंभव होगा। भाषा में ऊपर से स्वेच्छाचारी दीखने वाले परिवर्तनों से उन्हें डर है कि उनकी संस्कृति भी ख़तरे में पड़ जायगी। उर्दू और हिन्दी दोनों में भाषा की शुद्धता के समर्थकों का जो दल है उन्हें यही डर है। वे अपनी छोटी-छोटी, संकुचित, साम्प्रदायिक या प्रांतीय संस्कृतियों को, जो vested interest की तरह बन गई हैं, क़ायम रखना चाहते हैं। वे इस ग़लतफ़हमी के शिकार हैं कि भाषा और संस्कृति एक दूसरे में ऐसी गुंथी हुई हैं कि उन्हें अलहदा नहीं किया जा सकता। मुसल्मान उर्दू को भारतीय इस्लाम का प्रतीक मानते हैं और उसे इस्लाम के सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करने वाली दूसरी भाषाओं—फ़ारसी, अरबी आदि—के निकटतम संपर्क में ले जाना चाहते हैं। वह समझते हैं कि उसे सादा बनाने से उनकी संस्कृति को धक्का लगेगा। उधर, हिन्दू दिन-पर-दिन हिन्दी को अपनी संस्कृति का द्वार-रक्षक बनाने में प्रयत्नशील हैं। परन्तु बारीकी से देखा जाय तो संस्कृति और भाषा ऐसी अविच्छिन्न नहीं हैं, जैसा कि उन्हें मान लिया गया है। यूरोप में कुछ अंशों तक सांस्कृतिक एकता के मौजूद होते हुए भी प्रायः प्रत्येक देश की भाषा अलहदा है, बल्कि छोटे-छोटे देशों में भी कई भाषाएं प्रचलित हैं। स्वीज़रलैंड में चार भाषाएं हैं, कनाडा और दक्षिण अफ्रीका में सरकारी काम-काज में भी, दो भाषाएं काम में आती हैं। हमारे पड़ोसी अफ़ग़ानिस्तान में, संस्कृति की एकता के बावजूद भी, दो भाषाएं प्रचलित हैं।

संस्कृति को यदि हम उसके संकुचित रूप में न लें तो जैसे उसकी रक्षा के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि एक गोत्र में ही शादी की जाय, वैसे ही भाषा को अपने में ही सीमित और शुद्ध रखना उसकी संस्कारिता की दृष्टि से बहुत आवश्यक नहीं है। समाज और भाषा दोनों ही क्षेत्रों में इस प्रकार के आंदोलन उदारता के द्योतक नहीं हैं, और उनसे किसी का लाभ नहीं हो सकता। भाषा में कट्टरता से काम नहीं चला करता। ऐसा किया गया तो उसकी निर्मल स्वच्छ-धारा

कट्टरता की मरुस्थली में ही छितर कर नष्ट हो जायगी। संस्कृत के साथ तो हुआ भी ऐसा ही। भाषाएं, और संस्कृतियां भी, विविध संपर्कों का परिणाम ही हुआ करती हैं। किसी में बाहरी प्रभाव ज़्यादा होता है, किसी में कम। संस्कृत आर्यों की शुद्ध वाणी नहीं है, उसमें द्राविड़ शब्द भी प्रचुर-मात्रा में हैं। अरबी, यूनानी, फ़ारसी और इबरानी लफ्ज़ों का मजमूआ है। और हिन्दी ही कहां की शुद्ध भाषा है ? उसने जहां एक ओर संस्कृत से अपनी जड़ों को सींचा है, वहां फ़ारसी और अरबी की झड़ी में भी उसकी शाखें लहलहा उठी हैं और उसके पत्तों ने अपनी नसों में एक नये जीवन का अनुभव किया है। अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन आदि दुनिया की सभी सभ्य भाषाओं का यही हाल है। दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेने से कोई भाषा बिगड़ती नहीं, धनवान ही होती है, सशक्त बनती है। उन शब्दों को निकाल दिया जाय तो वह कमज़ोर होकर लड़खड़ाने लगेगी। भाषा में बेढंगापन तो तब आता है जब लिखने वाला अनमेल शब्दों को एक दूसरे में गूंथने की भद्दी कोशिश करता है। मेल वहीं अच्छा लगता है, जहां एकरसता हो, जहां सभी स्वर मिलकर एक लय बनाते हों।

सच पूछा जाय तो, न तो भाषा ही स्थिर होती है, और न संस्कृति ही। दोनों में निरंतर परिवर्त्तन चलते रहते हैं। हवा के हर झोंके के साथ कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन होता रहता है। आज तो हमारा राष्ट्र और भी गहरे परिवर्त्तनों में से गुज़र रहा है। हमारी संस्कृति पर पश्चिम की प्रतिक्रिया, और पश्चिम के प्रति हमारा विद्रोह, दोनों एक साथ ही, जंगल की आग के समान, तेज़ी से अपनी लपटें ऊंची किये आगे बढ़ रहे हैं। हमारे सामने आज विनाश भी है, और निर्माण भी, टुकड़े कर देने वाली प्रवृत्तियां हैं और उनकी तेज़ धारों के पीछे एकता की मज़बूत फ़ौलाद भी। इन सब प्रवृत्तियों का हमारी भाषा और संस्कृति पर निरंतर प्रभाव पड़ता जा रहा है। हम में से जो समझदार हैं वे एक बड़ी मशीन के छोटे-छोटे पहियों से,जिनमें से कुछ एक ओर घूम रहे हों,और कुछ दूसरी ओर, अपनी नज़र हटाकर मशीन के उस बड़े पहिये पर नज़र जमा सकते हैं जो उसकी गति का निर्देश करता है, और उसे और भी तेज़ी के साथ आगे की ओर घुमा सकते हैं।

भाषा के संबंध में देशी और विदेशी का सवाल भी नहीं उठना चाहिए। डा० ज़ाकिर हुसैन के शब्दों में, "बाहर से कुछ हवायें ऐसी आती हैं जिन से ज़िन्दगी की खेती मुर्झा जाती है, तो कुछ ऐसी भी आती हैं जिनसे मुर्झाई खेती लहलहाने लगती है। दोनों को एक जानना और उनके फ़र्क को न समझना बड़ी ही भूल और नादानी है। × × क्या वह लफ्ज, जिनका चलन इस वक़्त

हमारी हिन्दुस्तानी ज़बान में है, बस बातचीत करने और क़िस्से कहानियां लिखने के आगे और काम भी दे सकते हैं ? दुनिया रोज़ आगे बढ़ रही है, नित नयी चीजें बन रही हैं, नित नयी बातें कहनी होती हैं, नये-नये ख्याल फैलते हैं। इन नई चीज़ों, नये ख्यालों के लिए नये लफ्ज़, चाहिएं। क्या हम यह ठान लें कि हम जो लफ्ज़ बरत रहे हैं, बस उन्हीं से काम चलायें, उन्हीं को हेरफेर कर नई बातें कहने की कोशिश करें, या नये लफ्ज़ गढ़ें या और कहीं से उधार लें ? मैं समझता हूं कि ज़बान को बन्द कर देने का हक़ किसी को नहीं। नयी बातें कहनी होंगी, तो नये लफ्ज चाहिये ही होंगे।" पर शर्त्त यही है कि ये लफ्ज़ चाहे जहां से आयें, अनमेल या बेजोड़ न हों। ऐसे हों कि खप जायं।

एक संगठित योजना की आवश्यकता

इस बात के लिए एक बाक़ायदा कोशिश (planned effort) की ज़रूरत होगी। हिन्दी, उर्दू और देश की दूसरी भाषाओं के विद्वानों को अपना सहयोग, बिना किसी संकोच और मानसिक झिझक के, एक दूसरे को देना होगा। एक केन्द्रीय संस्था की भी ज़रूरत होगी ही, जो सारे काम की दिशा निर्देश करेगी। अभी तक इस दिशा में जो हुआ है, वह बहुत थोड़ा है। इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकाडेमी का क्षेत्र मर्यादित—केवल हिन्दी और उर्दू को एक दूसरे के नज़दीक लाने का—था। वह उसमें भी सफल नहीं हुई। उसकी किताबें और त्रैमासिक पत्रिका तक आज भी इन दो ज़बानों में अलहदा-अलहदा छपती हैं। उसने उर्दू और हिन्दी में थोड़ा-सा साहित्य भले ही दिया हो, पर हिन्दुस्तानी जैसी कोई चीज़ पैदा नहीं की। उसकी असफलता का मुख्य कारण यह था कि उसने ऊपर से खींचतान कर इन दोनों भाषाओं को एक दूसरे से मिलाना चाहा। सरकारी सहारा पाकर यह प्रयत्न एकाडेमी के उत्साही प्रधान मन्त्री डा० ताराचन्द के हाथों में किसी स्कूलमास्टर के आपस में लड़ने वाले दो उद्धत लड़कों का सिर एक दूसरे से टकरा देने के समान हो गया। इसे एके के अलावा कुछ भी नाम दिया जा सकता है। एकाडेमी ने हिन्दी और उर्दू को उनके स्रोत, जनसाधारण की भाषा, तक ले जाने का कोई प्रयत्न नहीं किया और केवल यही इन दोनों भाषाओं को एक दूसरे के नज़दीक लाने का सच्चा प्रयत्न हो सकता था। बिहार उर्दू कमेटी की मीटिंग के सम्बन्ध में अगस्त १६३७ में जब राजेन्द्र बाबू और मौलवी अब्दुलहक़ मिले तब उन्होंने एक सम्मिलित योजना तैयार की जिसमें उर्दू और हिन्दी के विद्वानों के सहयोग से हिन्दुस्तानी लफ्ज़ों का एक मूल कोष तैयार करने की बात थी। इस आधार पर एक हिन्दुस्तानी कमेटी का निर्माण हुआ; पर जहां तक मैं जानता हूं, उसने

में जनता रूपी जो सूत्र इन दोनों भाषाओं को जोड़ता है उस तक पहुंचने का कोई प्रयत्न नहीं किया। ऊपर जिन प्रयत्नों का ज़िक्र किया गया है, वे सब हिंदी और उर्दू से ही संबंध रखते हैं, अन्य प्रान्तीय भाषाओं से उन्हें कोई सरोकार नहीं।

इस दिशा में एक बड़ा प्रयत्न भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना थी। यह परिषद्, १९३५ में इन्दौर में क़ायम हुई थी, और दो या तीन साल काफ़ी ज़ोरदार काम करने के बाद ख़त्म हो गई। इसका उद्देश्य विभिन्न प्रान्तों में साहित्य का आधार लेकर जो सांस्कृतिक एकता विकास पा रही है, उस पर ज़ोर देना था। इसका प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक विकास था : भाषा गौण थी। पर भाषा के दलदल में ही एक प्रकार से इस संस्था की अन्त्येष्टि हुई। इसका विश्वास संस्कृत प्रधान भाषा में था—आर्य संस्कृति के पुनरोत्थान की जो धारा हमारे हिन्दू जीवन में काम कर रही है, यह उससे अपने को अलहदा काट नहीं सकी। इसीसे मुसल्मानों में इसके संबंध में ग़लतफ़हमियां हुईं। मुसल्मानों के विरोध में समस्त राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता के लिए काम करने वाली यह संस्था जीवित नहीं रह सकती थी। इसलिए उसे ख़त्म हो जाना पड़ा। श्रीयुत मुंशी ने कहीं लिखा था कि देश इस प्रकार के महान प्रयत्न के लिए तैयार नहीं था। वह अपने समय के बहुत पहिले हाथ में ले लिया गया था। मैं तो मानता हूं कि समय के मुख्य सूत्र, शुद्ध राष्ट्रीयता, को जिसमें हिन्दू और मुसल्मान दोनों हंसी-खुशी से हिस्सा ले सकें न पकड़ पाने के कारण ही इस संस्था का अंत हुआ।

जो विद्वान राष्ट्र-भाषा के विकास के इस संगठित प्रयत्न में भाग लें उन्हें राजनीति और संप्रदायवाद से दूर हटकर, और छोटी-छोटी संस्कृतियों, तहज़ीबों के झूठे मोह से अपने को मुक्त करके, ही आगे आना होगा। यह प्रयत्न तो सांस्कृतिक समन्वय का प्रयत्न होगा, जिसमें प्रत्येक छोटी संस्कृति को कुछ देना होगा, और बहुत कुछ पाकर वह अपने को समृद्ध भी बना सकेगी। राष्ट्रीयता में उनका कट्टर-विश्वास होना चाहिए। इसके अलावा किसी अन्य देवता में उनकी श्रद्धा न हो। इस कमेटी के जो सदस्य हों वे वज़नदार तो हों ही, पर यह मानते हों कि हिंदुस्तान की क़िस्मत में हिंदू और मुसल्मान दोनों समाज ताने और बाने के समान एक-दूसरे में उलझे हुए हैं, और उन्हें देश में दूर-दूर तक फैले हुए उन करोड़ों ग़रीबकिसान और मज़दूरों को—चाहे वे हिंदू हों या मुसल्मान—भाषा के द्वारा एक-दूसरे के और भी नज़दीक गूंथ देना ही उनका उद्देश्य है। गांधीजी ने लिखा था, "हमारे ज़माने की हिंदुस्तानी तहज़ीब अभी बन रही है। हममें से कई इस बात में प्रयत्नशील हैं कि सब संस्कृतियों के, जो आज एक-

दूसरे से संघर्ष करती दिखाई देती हैं, मेल से एक नयी संस्कृति पैदा की जाय। कोई भी संस्कृति जो अपने को अलहदा काट लेना चाहती है ज़िन्दा नहीं रह सकती। हिंदुस्तान में आज शुद्ध आर्य-संस्कृति नाम की कोई चीज़ नहीं है।" नई संस्कृति और उसके मूल-तत्वों—इसमें जो लोग विश्वास करते हों, उन्हीं को इस कमेटी में काम करना चाहिए।

काम की दिशा

यह कमेटी क्या करेगी? इस प्रश्न का उत्तर मेरे बूते के बाहर की बात हो सकती है। शायद वह हिन्दुस्तानी का एक कोष तो तैयार करेगी ही। कोष के सम्बन्ध में कई योजनाएं सामने आई हैं। इनमें से दो योजनाओं की एक संक्षिप्त रूपरेखा यहां दी जाती है—क्योंकि ये दो विभिन्न मनोवृत्तियों की द्योतक हैं। एक का विश्वास भाषा के classical grandeur में है, दूसरी उसे जन-साधारण के सम्पर्क में ले जाना चाहती है। एक के प्रवर्त्तक अंजुमने तरक्क़ी-ए-उर्दू के अध्यक्ष मौलवी अब्दुल हक़ हैं; और दूसरी के मोहम्मददीन तासीर। मौलवी अब्दुलहक़ चाहते हैं कि एक ऐसा कोष तैयार किया जाय जिसमें एक ओर तो फ़ारसी, अरबी और उर्दू के वे शब्द हों जो हिन्दी भाषा में प्रचलित होगए हैं, और दूसरी ओर संस्कृत और हिन्दी के वे सब शब्द हों जिन्हें उर्दू ने अपना लिया है: इस कोष को हिन्दी और उर्दू के लेखकों के एक प्रतिनिधि मण्डल के सामने पेश किया जाय, और उनकी स्वीकृति के बाद इसे, एक सामान्य भाषा के भावी विकास के आधार के रूप में, प्रकाशित कर दिया जाय। मौलवी साहिब चाहते हैं कि कोष के प्रकाशित होजाने के बाद भी यह कमेटी काम करती रहे, और समय-समय पर उक्त कोष में हिन्दी और उर्दू के ऐसे शब्द और मुहावरे जोड़ती रहे जिनसे भाषा के विकास और नये विचारों की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती हो। मोहम्मददीन तासीर का सुझाव है कि इस कमेटी में केवल नये दृष्टिकोण के लेखक और भाषा के विद्वान हों, और वे पहिले ऐसे मूल (basic) शब्दों की एक लिस्ट बनालें जो हमारे काम-काज के लिए बिल्कुल ज़रूरी हों। तब हिन्दुस्तान के मुख्तलिफ़ हिस्सों से तीन उर्दू जानने वाले ऐसे सदस्य, जो हिन्दी बिल्कुल भी न जानते हों, परन्तु, अपने गांवों की भाषा से खूब परिचित हों, फ़ारसी के अलावा ऐसे सब शब्दों की सूची बनावें जिन्हें वे समझ सकते हों, और इसी प्रकार से हिन्दी जानने वाले सदस्य संस्कृत के अलावा शब्दों की सूची बनावें। तब इन सूचियों का मुक़ाबिला 'बेसिक' शब्दों की लिस्ट से किया जाय। जहां मूल-भावों को व्यक्त करने के लिए हिन्दी अथवा उर्दू में शब्द न हों, वहां उसके लिए दोनों भाषाओं से शब्द ले लिये

जायं। इस प्रकार एक 'बेसिक' कोष तैयार होगा, जिसका विकास बाद में ग्रामीण साहित्य की भाषा से व ऊंचे साहित्य की भाषा से शब्दों को लेकर किया जा सकता है। बाद में 'टेकनिकल' बातों और राजनैतिक विचार-धाराओं को व्यक्त करने वाले शब्दों का एक संग्रह तैयार किया जा सकता है, लेकिन तरीक़ा वही होना चाहिए; यानी दोनों भाषाओं के शब्दों को लिया जाय, उनका जन-साधारण के प्रयोग में आने वाले शब्दों से मुक़ाबिला किया जाय, और यदि वहां उसके लिए उपयुक्त शब्द न मिले, तब हिंदी और उर्दू दोनों शब्दों को रख लिया जाय। राजेन्द्र बाबू शायद इन दोनों योजनाओं का समन्वय कर देना चाहते थे, जब कि उन्होंने यह सुझाव उपस्थित किया कि इस कोष में संस्कृत, फ़ारसी और अरबी के उन शब्दों का अर्थ दिया जाना चाहिए जो हिन्दुस्तानी में प्रयोग में आते हैं और इनमें से २ या ३ हज़ार अधिक प्रचलित और सुगम शब्दों को छांट लेना चाहिए और स्कूल और कॉलेज की शिक्षा में उन्हें ही व्यवहार में लाना चाहिए।

'बेसिक' हिन्दुस्तानी का आंदोलन

'बेसिक' हिंदुस्तानी के आंदोलन को बहुत बड़ा समर्थन जवाहरलालजी के द्वारा मिला है। जवाहरलाल जी बेसिक अंग्रेज़ी के आन्दोलन से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। बेसिक अंग्रेज़ी में, वैज्ञानिक, टेकनिकल और व्यापारिक शब्दों को छोड़कर, एक हज़ार से कुछ कम शब्द हैं। इन्हें सीख कर साधारण बोल-चाल की अंग्रेज़ी में प्रवेश किया जा सकता है। हिन्दुस्तानी में भी यदि इस प्रकार के एक हज़ार शब्द चुन लिये जायं, उसके व्याकरण को सादा बना दिया जाय, तो देश भर में इसका प्रचार बड़ी आसानी से हो सकता है। ये शब्द आंख मींचकर उठा लेने से काम नहीं चलेगा। अंग्रेज़ी के समान इस काम में भी एक बड़ी संख्या में विद्वानों को जुट जाना पड़ेगा, और ऐसे शब्दों को ही चुनना पड़ेगा जो अधिक-से-अधिक प्रचलित हों। बेसिक हिन्दुस्तानी के बन जाने से राष्ट्र-भाषा के प्रचार के रास्ते में बड़ी सहूलियत हो जायगी।

मैं समझता हूं कि यह काम दो या इससे भी ज़्यादा मंज़िलों में होगा। पहिला काम तो हिन्दी और उर्दू के बीच समन्वय स्थापित करने का है। इसके लिए हिन्दी और उर्दू के राष्ट्रीय, प्रगतिशील (प्रगतिवादी हों यह ज़रूरी नहीं) और हो सके तो तरुण (जिनके पास प्रतिभा के साथ काम की शक्ति और समय भी हो) साहित्यिकों की एक कमेटी बना देना चाहिए। इस कमेटी में भाषा के विभागों की दृष्टि से प्रांतीय प्रतिनिधित्व होना चाहिए, उर्दू के प्रतिनिधि लाहौर, दिल्ली और हैदराबाद से लिये जायं, हिन्दी के बिहार, पूर्वी यू० पी०, पश्चिमी

यू० पी० और मध्य भारत से (जिसमें राजस्थान और मध्य-प्रांत दोनों शामिल हों) लिए जायं। ये सातों व्यक्ति ऐसे होने चाहिएं जिनका संपर्क गांवों से हो, और जो अपने आस-पास के गांवों की भाषा जानते हों। ये लोग मिलकर हिन्दुस्तानी की एक बेसिक, काम-चलाऊ डिक्शनरी तैयार करें जिसे सीखकर वह हिन्दुस्तानी भी, जिसकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है, हिन्दी में अपनी दैनिक ज़रूरतों को व्यक्त कर सके। पर यह काम यहीं रुक नहीं जाना चाहिए। एक आगे बढ़ता हुआ राष्ट्र, जिसके सामने नयी कल्पनाएं हैं और नये सपने जिसकी आंखों में जगमगा रहे हों, नयी आकांक्षाएं जिसके प्राणों को उद्वेलित करती हों, एक हज़ार शब्दों में अपने जीवन की ऊंचाई और गहराई व्यक्त नहीं कर सकता। बेसिक अंग्रेज़ी का आन्दोलन भी, मैं समझता हूं, बहुत सफल नहीं हो पाया है। यह बेसिक हिन्दुस्तानी हमारे स्कूल के छोटे दर्जों के लिए और देश भर के उन लोगों के लिए जो राष्ट्र-भाषा के पढ़ने में ज़्यादा वक्त नहीं दे सकते हैं, निहायत ज़रूरी है, पर वह हमारे काम का—जो राष्ट्र-भाषा का पुनर्निर्माण करने का है, केवल पाया हो सकता है। इसके बाद इस कमेटी में दूसरे प्रांतों की भाषाओं के प्रतिनिधियों को लेना होगा। तीन प्रतिनिधि बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र से लिये जायंगे, चार दक्षिण भारत से। ये लोग मिल कर एक हज़ार ऐसे शब्द चुनेंगे जो हमारे दैनिक जीवन में भी काम में आते हैं और समस्त प्रांतीय भाषाओं में सामान्य-रूप से जिनका प्रयोग होता है।

यह हुई काम की दूसरी मंज़िल। इस मंज़िल पर पहुंचते-पहुंचते काम का दायरा बहुत ज़्यादा बढ़ जायगा। अब इन विद्वानों को इस प्रकार की बेसिक हिन्दुस्तानी में, जो केवल हिन्दी और उर्दू की ही सामान्य-भूमि का स्पर्श न करती होगी, परन्तु देश की समस्त भाषाओं का आधार होगी, जनता को पत्र पत्रिकाओं और पुस्तकों द्वारा शिक्षित करना होगा।

इसके साथ ही उन्हें विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के कुछ अन्य विद्वानों को शामिल करके कई छोटी-छोटी कमेटियां बना देनी पड़ेंगी, जो इन शास्त्रों के (technical) शब्दों की डिक्शनरियां तैयार करेंगी। इस बड़ी कमेटी का समर्थन पाकर ही वे प्रकाशित की जा सकेंगी, और यह कोशिश करना पड़ेगी कि इन कोषों को सब प्रांतीय भाषाओं वाले मान लें। संभव है कि इन कोषों में बहुत अधिक विदेशी शब्दों को रखना पड़े।

इस सारे काम में हमें किसानों, मज़दूरों और कारीगरों के संपर्क में तो रहना ही होगा। परन्तु, हमें भाषा की संस्कारिता पर भी बराबर नज़र रखना होगी। भाषा सादा बने, पर उसकी अभिव्यक्ति को भी खूब व्यापक बनाना

होगा । श्री मुन्शी के शब्दों में "हरएक भाषा के दो रूप होते हैं, एक रूप तो जीवन में व्यवहार के लिए होता है, और दूसरा कल्पना के विलास और विचार को व्यक्त करने के लिए। भाषा का पहिला रूप ऐसा होना चाहिए, जो सबके लिए सुलभ हो, और दूसरा रूप भी ऐसा हो जो विचार और उड़ान को व्यक्त करे और घोषित करे ।" हमारी राष्ट्र-भाषा को इतना व्यापक होना होगा, उसमें इतनी लोच होगी कि एक ओर तो वह लोक-साहित्य के काम आ सके, और दूसरी ओर शिष्ट-साहित्य के लिए सुगम-साध्य हो, एक ओर उसमें गांव वाला अपनी दैनिक आवश्यकता व्यक्त कर सके और दूसरी ओर बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक अपनी मानसिक खोज की कथा उसके द्वारा दूसरों तक पहुंचा सके । किसी भी प्रथम श्रेणी की भाषा में यह लोच elasticity होना ज़रूरी है। इन सबके होते हुए भी हमारी आज की भाषा का जो आधार सौंदर्य और संस्कारिता है, वह वैसी ही अक्षुण्ण रहनी चाहिए । यह काम को कठिन ज़रूर बना देगा, पर बड़े काम आसान कब होते हैं ?

परिशिष्ट

कांग्रेस की कार्य-समिति द्वारा ११ दिसम्बर १९४५ को स्वीकृत चुनाव उद्घोषणा-पत्र के कुछ आवश्यक प्रश्न नीचे दिये जा रहे हैं:—

"कांग्रेस ने भारतवर्ष के प्रत्येक नागरिक के लिए—चाहे वह पुरुष हो या स्त्री—समान अधिकार का समर्थन किया है। उसने सब सम्प्रदायों और धार्मिक दलों में एकता और पारस्परिक सहिष्णुता की भावना देखनी चाही है। उसकी सदा यह इच्छा रही है कि लोगों को समन्वित रूप से अपनी व्यक्तिगत इच्छा और प्रेरणा के अनुकूल विकास प्राप्त करने का पूर्ण अवसर मिले। साथ-ही-साथ, वह यह भी चाहती रही है कि देश के प्रत्येक दल और घटक को राष्ट्र की बृहत्तर सीमा के भीतर रह कर अपने निजी जीवन और संस्कृति की उन्नति करने की स्वतन्त्रता है। इस सम्बन्ध में उसने यह भी कहा है कि इस प्रकार के घटकों और प्रांतों की स्थापना जहां तक हो सके, भाषा और संस्कृति के आधार पर होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, कांग्रेस ने उन सब व्यक्तियों के अधिकारों का समर्थन किया है, जो सामाजिक अत्याचार और अन्याय के शिकार रहे हैं, और कहा है कि समान अधिकार में रुकावट डालने वाले सभी प्रतिबन्ध उन पर से हटा दिये जाने चाहिएं।

"कांग्रेस ने सदा एक ऐसे स्वतन्त्र और प्रजावादी राज्य की स्थापना चाही है जिसके विधान में समस्त जनता के बुनियादी अधिकारों और स्वतंत्रताओं की रक्षा की व्यवस्था की गई हो। कांग्रेस की राय में यह विधान संघ के ढंग का होना चाहिए, जिसके सभी भिन्न-भिन्न घटकों को स्वशासन का अधिकार प्राप्त हो और जिसकी धारा-सभाओं का चुनाव सभी प्रौढ़-व्यक्तियों के मत पर आश्रित हो।

"भारत का संघ निश्चय ही अपने भिन्न-भिन्न भागों की स्वेच्छित एकता का प्रतिरूप होना चाहिए। घटकों को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता देने के लिए संघ संबंधी सामान्य और आवश्यक विषयों की एक ऐसी छोटी-से-छोटी सूची बनायी जा सकती है जिसका सब में प्रयोग हो सके। इसके अतिरिक्त, सामान्य विषयों की एक वैकल्पिक सूची भी होनी चाहिए, जिसे जो लोग चाहें मानें और जो न चाहें, न मानें।

हमारे बुनियादी अधिकार

"विधान में बुनियादी अधिकारों की व्यवस्था होनी चाहिए, जिनमें निम्नलिखित अधिकार भी सम्मिलित हों :—

१. भारत के प्रत्येक नागरिक को, किसी ऐसे काम के लिए जो क़ानून और नैतिकता के विरुद्ध न हो, स्वतंत्र रूप से अपनी सम्मति प्रकट करने, मिलने-जुलने और शांति-पूर्वक तथा बिना हथियार लिये सभा-सम्मेलन करने का अधिकार है।

२. प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता होगी और सार्वजनिक शांति तथा नैतिकता को दृष्टि में रखते हुए स्वतंत्रता पूर्वक अपने धर्म का प्रचार और पालन करने का अधिकार होगा।

३. अल्पसंख्यक जातियों और भाषा के आधार पर बनाये गए विभिन्न घटकों की संस्कृति, भाषा और लिपि की रक्षा की जायगी।

४. कानून की दृष्टि में सभी नागरिक एक समान होंगे, चाहे उनका कोई भी धर्म, कोई भी जाति और कोई भी वर्ग क्यों न हो, और चाहे वे स्त्री हों या पुरुष ।

५. कोई भी स्त्री या पुरुष अपने धर्म, जाति या वर्ग के कारण नौकरियों, ऊंचे ओहदों और व्यापार आदि के लिए अयोग्य न समझा जायगा।

६. सब नागरिकों का उन कुओं, तालावों, सड़कों, स्कूलों, और सार्वजनिक स्थानों पर समान अधिकार है जो या तो सरकारी या स्थानीय कोष से चल रहे हैं या सार्वजनिक प्रयोग के लिए विशेष व्यक्तियों द्वारा बनाये गये हैं।

७. प्रत्येक नागरिक को शस्त्र संबंधी क़ानूनों की सीमा में रहकर शस्त्र रखने और धारण करने का अधिकार है।

८. क़ानून के विरुद्ध कोई भी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकेगा और उसके मकान या सम्पत्ति को न कोई ज़ब्त कर सकेगा न उसमें प्रवेश ही कर सकेगा।

९. सभी धर्मों के प्रति सरकार तटस्थता की नीति बरतेगी।

१०. मत देने का अधिकार सब प्रौढ़ व्यक्तियों को होगा।

११. सरकार की ओर से मुफ्त और अनिवार्य बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था की जायगी।

१२. प्रत्येक नागरिक को इस बात की आज़ादी है कि वह समस्त भारतवर्ष में जहां चाहे जाय, किसी भी भाग में ठहरे और रहे, कोई भी व्यापार-धंधा करे, और क़ानूनी दण्ड या रक्षा के संबंध में भारतवर्ष के सभी हिस्सों में समान व्यवहार प्राप्त करे।

इसके अतिरिक्त, शासन-संस्था की ओर से पिछड़ी हुई या दलित जातियों की रक्षा और उन्नति के लिए आवश्यक प्रबन्ध किये जायंगे ताकि वे शीघ्रतापूर्वक उन्नति कर सकें और राष्ट्रीय जीवन में पूरा और समान भाग ले सकें। विशेष रूप से कबीले वालों को अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करने और परिगणित जातियों को शिक्षा सम्बन्धी और सामाजिक तथा आर्थिक विकास प्राप्त करने में सहायता दी जायगी।

विपदा की कहानी

"पिछले १५० वर्षों से भी अधिक समय से विदेशी राज्य होने के कारण देश की उन्नति रुक गई है और हमारे सामने ऐसी असंख्य समस्याएं आ खड़ी हुई हैं जिन्हें शीघ्र-से-शीघ्र हल करने की आवश्यकता है। इतने दिनों से भारत और भारतीयों का जो व्यापक-शोषण होता रहा है उससे विपदा का पारावार नहीं रहा है और जनता को भूखों मरना पड़ रहा है। हमारा देश न केवल राजनैतिक दृष्टि से ही दासता की जंजीरों में जकड़ा और अपमानित किया गया है बल्कि उसे आर्थिक सामाजिक, सांस्कृतिक और आत्मिक अधोगति का भी सामना करना पड़ा है।

"भारतीय हितों और मतों की पूर्ण उपेक्षा करते हुए इस प्रकार उत्तरदायित्व-हीन अधिकारियों द्वारा शोषण का किया जाना और शासन व्यवस्था की अयोग्यता लड़ाई के दिनों में इतनी अधिक बढ़ गई कि उससे भयंकर दुर्भिक्ष और व्यापक-विपदा का विस्तार हुआ। इनमें से एक भी समस्या बिना स्वतन्त्रता प्राप्त किये हल नहीं की जा सकती। राजनैतिक आज़ादी के साथ-ही-साथ आर्थिक और सामाजिक स्वाधीनता भी प्राप्त होनी चाहिए।

हमारी समस्याएं और उनका हल

"जनता पर से दारिद्रय का श्राप किस प्रकार हटाया जाय और उसका जीवन-माप किस प्रकार ऊंचा उठाया जाय, यही भारतवर्ष की सब से मुख्य और आवश्यक समस्या है। इसी जनता के कल्याण के लिए कांग्रेस अपना विशेष ध्यान देती रही है और उसी के लिए रचनात्मक कार्य भी करती रही है। उसी के हित और विकास की कसौटी पर उसने सारे प्रस्तावों और परिवर्तनों को कसा है और यह घोषित किया है कि जो कुछ भी देश की उन्नति में बाधक सिद्ध हो उसे रास्ते से हटा दिया जाय।

"देश के धन-धान्य में वृद्धि करने के लिए और उसे दूसरों पर निर्भर रहे बिना ही स्वतः विकसित होने की क्षमता प्रदान करने के लिए उद्योगधंधों, कृषि और सामाजिक तथा सार्वजनिक लाभ के साधनों, आदि को प्रोत्साहन देना, उन्हें नये ढंगमें ढालना चाहिए और तीव्र गति के साथ फैलाना चाहिए। किन्तु ये सब काम

जनता को लाभ पहुंचाने, उसके आर्थिक, सांस्कृतिक और आत्मिकस्तर को ऊंचा उठाने, बेकारी दूर करने और व्यक्तिगत मान को बढ़ाने के उद्देश्य से ही किये जाने चाहिएं।

"इस कार्य के लिए यह आवश्यक है कि सभी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में सामाजिक उन्नति की योजना बनाई जाय और उसका संगठन किया जाय; किसी एक व्यक्ति और दल के पास धन और अधिकार को केन्द्रित न होने दिया जाय। समाज के विरोधियों को बढ़ने से रोका जाय और धातु और यातायात के साधनों पर और भूमि, उद्योग तथा राष्ट्रीय कार्यक्रम के सभी दूसरे क्षेत्रों में उत्पादन और वितरण की मुख्य प्रणालियों पर सामाजिक प्रभुत्व प्राप्त किया जाय, ताकि स्वतन्त्र भारत सहकारिता की प्रणाली का उपनिवेश बन सके।

"इसलिए शासन-संस्था को सभी बुनियादी और मुख्य उद्योगों और नौकरियों, धातु सम्बन्धी साधनों, रेल के रास्तों, समुद्री रास्तों और जहाजों तथा यातायात के दूसरे साधनों पर आधिपत्य या अधिकार प्राप्त करना चाहिए। मुद्रा, विनिमय, बैंक और बीमा को राष्ट्रीय हित के अनुकूल संगठित करना चाहिए।

"वैसे तो दरिद्रता सारे भारतवर्ष में है परन्तु इसकी समस्या मुख्यतः गांवों में है। दरिद्रता का प्रधान कारण भूमि की कमी और दूसरे धनोत्पादक कार्यों का अभाव है। ब्रिटिश अधिकार में रहते हुए भारतवर्ष क्रमशः एक ग्रामीण देश बना दिया गया है, उसके कारबार के अनेक रास्ते बंद कर दिये गए हैं और एक विशाल जनसमुदाय खेती पर आश्रित छोड़ दिया गया है। खेतों के लगातार टुकड़े किये जाते रहे हैं,यहां तक कि अब अधिकांश खेत आर्थिक दृष्टि से अलाभकर होगए हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि भूमि संबंधी समस्या पर सभी पहलुओं से ध्यान दिया जाय। कृषि को वैज्ञानिक ढंग से उन्नत बनाने और उद्योग को उसके बड़े, मझोले और छोटे सभी रूपों में बढ़ाने की आवश्यकता है, ताकि केवल धन का ही उत्पादन न हो सके बल्कि कृषि पर आश्रित रहने वाले व्यक्ति भी उनमें खपाय जा सकें। गृह-उद्योगों को पूर्ण और आंशिक दोनों पेशों के रूप में विशेष रूप से प्रोत्साहन देना प्रयोजनीय है। यह आवश्यक है कि उद्योगों की रूपरेखा बनाने और उसे विकसित करने में जहां एक ओर अधिक-से-अधिक धन के उत्पादन का ध्यान रखा जाय वहां दूसरी ओर यह भी याद रखा जाय कि ऐसा करने से नई बेकारी न पैदा हो जाय। योजना के बनने से अधिक-से-अधिक लोगों को और निस्संदेह सभी पुष्ट व्यक्तियों को काम मिलना चाहिए। जिन लोगों के पास खेत नहीं हैं, उन्हें काम करने का अवसर प्रदान करना चाहिए और उद्योगों या खेती में खपा लेना चाहिए। भूमि-संबंधी सुधार के

लिए, जिसकी भारतवर्ष में घोर आवश्यकता है, किसानों और शासन-संस्था के बीच के (मध्यस्थ) व्यक्तियों को हटा देना चाहिए और उनके अधिकारों को बराबर का मुआवज़ा देकर खरीद लेना चाहिए।

"व्यक्तिगत खेती और किसानों की मिल्कियत की प्रथा चलती रहनी चाहिए। लेकिन उन्नतिशील कृषि और नयी सामाजिक प्रेरणाओं आदि के निर्माण के लिए भारतीय स्थितियों के अनुकूल सहकारिता ढंग की खेती की कोई प्रणाली होनी चाहिए। ये परिवर्तन कृषकों की सहमति और सहानुभूति से ही होने चाहिएं।

"इसलिए यह वांछनीय है कि सरकार की सहायता से भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में प्रयोग रूप से सहकारिता की प्रणाली पर फ़ारम खोले जांय। प्रदर्शन और प्रयोग के कार्य के लिए बड़े-बड़े सरकारी फ़ारम भी होने चाहिएं।

"कृषि और उद्योग के विकास के लिए ग्रामीण और नागरिक अर्थ-व्यवसायों में समुचित संगठन और संतुलन होना चाहिए। अब तक ग्रामीणों को आर्थिक क्षति ही उठानी पड़ी है और उनसे लाभ उठा कर नगरों और कस्बों वालों ने उन्नति की है। इस स्थिति में संशोधन की आवश्यकता है। देहातों तथा कस्बों के निवासियों के जीवन-माप को यथासाध्य बराबर करने की चेष्टा करनी चाहिए। उद्योगों का किसी एक प्रांत में केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए ताकि सभी प्रांतों की आर्थिक-स्थिति में संतुलन स्थापित किया जा सके। अकेन्द्रीकरण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जहां तक संभव हो किसी की विशेषता पर आघात न पहुंचे।

"कृषि और उद्योग दोनों के विकास के लिए और साथ-ही-साथ जनता के स्वास्थ्य तथा हित के लिए भी हमें उस महान् शक्ति पर अधिकार करना और उसका उचित प्रयोग करना चाहिए जो हमें भारत की विशाल नदियों के रूप में उपलब्ध है और जो अधिकतः न केवल बरबाद ही जाती है बल्कि भूमि के लिए और भूमि पर निवास करने वालों के लिए बहुधा क्षति का कारण बनती है। इस काम को करने के लिए नदियों से संबंध रखनेवाले कमीशन बनाये जाने चाहिएं, ताकि वे सिंचाई के काम को प्रोत्साहन प्रदान कर सकें और इस बात की व्यवस्था कर सकें कि लोगों को सिंचाई के लिए लगातार और समान-रूप से पानी मिलता रहे। इसके अतिरिक्त उनका काम संहारक बाढ़ को रोकने और जमीन को कटने से बचाने का भी होना चाहिए। उन्हें मलेरिया को रोकने, जल-विद्युत शक्ति को बढ़ाने और दूसरी युक्तियों द्वारा विशेषतः ग्रामवासियों के जीवन-माप को बढ़ाने का काम सौंपना चाहिए। उद्योग और कृषि के विकास

के लिए आवश्यक आधार प्रदान करने के अभिप्राय से इस देश के शक्तिदायक साधनों को हर रूप से बढ़ाना प्रयोजनीय है।

"जनता के बौद्धिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए और उसे अपने सामने आने वाले नये कामों और व्यवसायों के योग्य बनाने के लिए शिक्षा का पर्याप्त प्रबंध होना चाहिए। सार्वजनिक स्वास्थ्य के कामों की, जो राष्ट्र की उन्नति के लिए आवश्यक हैं, अधिक-से-अधिक व्यवस्था होनी चाहिए और इस बात में, दूसरी बातों की तरह ही, ग्रामीणों की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इनमें प्रसूति और शिशुपालन संबंधी विशेष व्यवस्थाएं भी सम्मिलित होनी चाहिएं।

"इस प्रकार हमें ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करनी चाहिएं जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को हर राष्ट्रीय कार्य-क्षेत्र में उन्नति करने का समान अवसर मिले और सबके लिए सामाजिक सुरक्षा का प्रबंध हो।

वैज्ञानिक विकास की आवश्यकता

"विज्ञान अपने असंख्य कार्य-क्षेत्रों में मनुष्य-जीवन को प्रभावित और परिवर्तित करने में सबसे अधिकाधिक भाग लेता रहा है, और भविष्य में भी इससे अधिक मात्रा में भाग लेता रहेगा। औद्योगिक, कृषि-सम्बन्धी और सांस्कृतिक उन्नति यहां तक कि राष्ट्री-रक्षण का कार्य भी इसी पर निर्भर है। अतः वैज्ञानिक अन्वेषण का कार्य शासन-संस्था का बुनियादी और आवश्यक कार्य है और उसको व्यापक से व्यापक रूप में सङ्गठित और प्रोत्साहित करना चाहिए।

"जहां तक मज़दूरों का सवाल है, शासन-संस्था औद्योगिक श्रमजीवियों के हितों की रक्षा करेगी और इस बात की व्यवस्था करेगी कि उन्हें एक निश्चित सीमा से कम मज़दूरी न मिले, देश की आर्थिक अवस्था को दृष्टि में रखते हुए जहां तक सम्भव हो, उनके जीवन का माप अंतर्राष्ट्रीय माप की तुलना में उचित हो। उनके लिए रहने का यथेष्ट प्रबन्ध हो और काम के घण्टे और मज़दूरी की शर्तें भी ठीक हों। इसके अतिरिक्त शासन संस्था मज़दूरों और मालिकों के झगड़ों को तय करने और मज़दूरों को बुढ़ापा, बीमारी तथा बेकारीके आर्थिक दुष्परिणामों से बचाने के लिए उचित व्यवस्था करेगी। मज़दूरों को अपने हित की रक्षा के लिए संघ बनाने का अधिकार होगा।

"ऋण ने किसानों को कुचल रक्खा है और यद्यपि विभिन्न कारणों से पिछले दिनों उनके ऋण का बोझ कुछ हल्का होगया है तथापि वह अब भी है और उसे दूर करना आवश्यक है। इसके लिए किसानों को सहकारिता-संस्थाओं द्वारा कम दर पर रुपया उधार दिलवाना चाहिए।

"सहकारिता-संस्थाओं का दूसरे कामों के लिए भी गांवों और शहरों – दोनों स्थानों में निर्माण होना चाहिए। औद्योगिक सहकारिता-संस्थाओं को विशेष रूप से प्रोत्साहन देना चाहिए, क्योंकि प्रजावादी आधार पर छोटे-छोटे उद्योगों के विकास के लिए वे विशेष-रूप से उपयोगी होती हैं।

"यद्यपि यह सत्य है कि भारतवर्ष की तत्कालीन और आवश्यक समस्याओं का हल राजनैतिक, आर्थिक, कृषि-सम्बन्धी, औद्योगिक और सामाजिक सभी दिशाओं से एक साथ सम्मिलित प्रयत्न करने पर ही हो सकेगा, तथापि कुछ आवश्यकताएं आज बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। सरकार की निपट अयोग्यता और दुर्व्यवस्था के कारण भारतीय जनता पर विपदा का पहाड़-सा टूट पड़ा है। लाखों लोग भूखों मर चुके हैं, और अन्न तथा कपड़े का आज भी व्यापक अभाव है। सभी नौकरियों में और जीवन सम्बन्धी सभी आवश्यक पदार्थों के नियंत्रण आदि के मामलों में बड़ी बेईमानी और घूसखोरी चल रही है जो हमारे लिए असह्य हो गई है। इन आवश्यक समस्याओं पर फौरन ही ध्यान देना आवश्यक है।

"जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का संबंध है, कांग्रेस स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक विश्व-संघ स्थापित करने के पक्ष में है। जब तक कि यह संघ क्रियात्मक रूप ग्रहण कर सके, भारतवर्ष को सभी राष्ट्रों, विशेषतः अपने पड़ोसियों, से मैत्री के संबंध स्थापित करने चाहिएं। सुदूरपूर्व, दक्षिण-पूर्वी एशिया और पश्चिमी एशिया से भारतवर्षका पिछले हज़ारों वर्षों से व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध रहा है और यह अनिवार्य है कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के साथ-ही-साथ वह इस संबंध को भी पुनर्जीवित और विकसित करे। संरक्षा की भावना और व्यापार के भावी झुकाव को देखते हुए भी इन क्षेत्रों से घनिष्ठतर सम्पर्क रखना आवश्यक है।

"भारतवर्ष, जो अहिंसा के आधार पर अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई आप लड़ता रहा है, इस विश्वव्यापी शांति और सहयोग का ही पक्ष ग्रहण करेगा। वह दूसरे दास-देशों की भी स्वतन्त्रता का समर्थन करेगा क्योंकि इसी स्वतंत्रता के आधार पर और साम्राज्यशाही को सब जगहों से हटा कर ही विश्व-शांति की स्थापना हो सकेगी!"